भारतीय जीवन को समुज्ज्वल बनानेवाले, सुन्दर बनानेवाले, संगीतमय बनानेवाले महान ऐतिहासिक प्रसंगों में मीरां, भक्तशिरोमणि मीरां, बाला-जोगन मीरां के पुण्यमय जीवन प्रसंग का भी समावेश है।

बाल्यकाल से मुरली मनोहर, गिरिराजधारी, साक्षात् परमब्रह्म रूपी भगवान कृष्ण के स्नेह में सराबोर मीरां ने केवल राजस्थान ही नहीं, गुजरात ही नहीं, ब्रज ही नहीं अपितु, भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक जिस परम पावन भक्ति की धारा को प्रवाहित किया उसका अवगाहन कर, न जाने कितने तर गये। मीरां के गीत, मीरां के भजन लोकवाणी का रूप धारण कर, जन-जन के कण्ठ में रम गये।

उसी भक्तशिरोमणि मीरां, बाल तपस्विनी मीरां की प्रामाणिक जीवन-गाथा पर आधारित श्री रमणलाल व. देसाई द्वारा लिखित अनुपम उपन्यास 'बाला-जोगन' विश्व साहित्य की अनुपम कृतियों में से एक है, यह निर्विवाद सत्य है।

देसाईजी की प्रतिभा और लेखनी ने एक भाव में से अनेक भावों का, अनेक रसों का सर्जन करके मानव-शरीर तथा मानव-हृदय को धारण करनेवाली मीरां की विविध समय की विविध ऊर्मियों को सुन्दर चित्रण करके—उसे मानव से देव बना दिया है।

मीरां दैहिक रूप से भले आज संसार में न हो, किन्तु उसके जीवन-प्रसंग से सम्बन्धित यह कृति मीरां के अमर होने का विश्वास प्रदान करती है।

बाला जोगन

('मीरां के जीवन' पर आधारित एक ऐतिहासिक उपन्यास)

लेखक

रमणलाल वसन्तलाल देसाई

अनुवादक

श्यामलाल मेढ़,

एम. ए., एल-एल. बी.

वोरा एण्ड कंपनी, पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड,

३, राउन्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रास्ता, बम्बई २.

• मूल्य : रु. ६·००

• प्रथम आवृत्ति
१९५९

• प्रकाशक :
के. के. वोरा,
वोरा एण्ड कम्पनी,
पब्लिशर्स प्रा० लिमिटेड,
३, राउन्ड बिल्डिंग,
कालबादेवी रोड,
बम्बई २.

• मुद्रक :
अनंत जे० शाह,
लिपिका प्रेस,
कुर्ला रोड,
अंधेरी.

समर्पण

• •

विश्व के नारी-जीवन में एक चमत्कार समान,
विश्व-संस्कृति में असाधारण स्थान प्राप्त करनेवाली

मीरां को

एवम्

उस मानवजाति के पूजनीय नारीतत्व को,
जिसकी चिनगारीरूप मीरां ने अवतार लिया।

—रमणलाल देसाई

प्रस्तावना

'बाला जोगन' मीरां की कहानी है।

मीरां सोलहवीं शताब्दि की एक अद्‌भुत नारीरत्न थी। भारत की प्रसिद्ध नारियों में मीरां का स्थान ऊँचा है। उसके काव्य उत्तर-भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में प्रसिद्ध हैं। बंगाल से गुजरात तक, और पंजाब से उत्कल तक, मीरां के गीत और उसकी कथा अभी तक लोक-कण्ठ में रमी हुई है।

भक्तिमार्ग का विकास कर के हिंदुत्व को जीवन्त रखनेवाली महान आत्माओं में मीरां की भी गणना होती है...परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इतनी ख्याति प्राप्त करने पर भी उसके जीवन से संबंध रखनेवाली कोई भी घटना ऐसी नहीं है, जिसके विषय में मतभेद न हो।

उसके जन्म की तिथि के विषय में भी मतभेद है। रामानुज के शिष्य रोहिदास—रैदास—मीरां के गुरु थे, इस बात को मान लें, तो मीरां की जन्म-तिथि में शताब्दि, अर्धशताब्दि का अन्तर आ जाता है।

मीरांबाई किसकी पुत्री थी, और किसकी पत्नी, इसके विषय में भी मतैक्य नहीं है।...

मीरां के भजन-गीतों के विषय में भी यही परिस्थिति है। किस भजन को स्वयं मीरां-रचित कहना, और किसको क्षेपक, यह प्रश्न भी अनिर्णीत ही पड़ा है।...

अब नयी ऐतिहासिक शोध हमको सप्रमाण बताती है कि :

मीरां का जन्म ईस्वी सन् १५०० से लेकर ई० स० १५०४ के बीच में हुआ।

मीरां जोधपुर के संस्थापक राव जोधा के तृतीय पुत्र दुदाजी के पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थी। चित्तौड़ के युद्ध में वीरगति को प्राप्त होनेवाला राठोड़ जयमल, मीरांबाई के चाचा वीरमदेव का पुत्र था। दूदाजी ने स्वयं मीरां के हृदय में वैष्णव संस्कार भरे थे। मीरां का विवाह राणा कुंभा के पौत्र संग्रामसिंह के युवराज भोजराज के साथ ईस्वी सन् १५१६ से १५२० के बीच में हुआ। चार-छः वर्ष के लग्न-जीवन के बाद मीरां का सौभाग्य चला

गया, और उसने अपने जीवन में अपने श्वसुर संग्रामसिंह, अपने देवर रत्नसिंह, विक्रमसिंह, उदयसिंह तथा दासीपुत्र बनवीर इन पांच शासकों के राज्य-काल देखे।

मीरां ने चित्तौड़ का त्याग कर ब्रज में आवास किया, यह भी स्पष्ट रूप से विदित होता है। उसके ऊपर अत्याचार हुए, और उसको समझाने के भी प्रयत्न हुए; परन्तु ये अत्याचार किसने किये और समझाने-बुझाने का प्रयत्न किसने किया, इन विषयों पर मतभेद बना हुआ है। यह संभवित है कि अत्याचार के प्रसंग विक्रमसिंह के समय में हुए हों, और मीरां को मनाने का प्रयत्न उदयसिंह ने किया हो। कितने विद्वानों की तो यह भी मान्यता है कि भोजराज के साथ का उसका दाम्पत्य-जीवन सुखी था। प्रचलित दन्त-कथा के अनुसार मीरां की अकबर और तानसेन के साथ भेंट भी हुई थी। मीरां की द्वारका-यात्रा और वहाँ का आवास, तथा वहीं उसका श्रीकृष्ण की ज्योति में मिल जाना, यह कथा भी सर्वमान्य है।

इस प्रकार अनेक विषयों में मतभेद और सन्देह होने पर भी एक बात असंदिग्ध है कि मध्यकाल में जन्म लेनेवाली मीरां एक महिला कवियित्री और एक भक्त के रूप में हमारे जीवन और साहित्य को काफ़ी प्रभावित करती आयी है, और उसका प्रभाव घटने के बदले बढ़ता जाता है।

मीरां के विषय में गुजराती, अंग्रेज़ी एवं हिन्दी भाषाओं में काफ़ी अच्छा साहित्य प्रकाशित हो चुका है और काफ़ी अन्वेषण-कार्य भी हुआ है। इन सब साहित्य-सर्जनों का अध्ययन और मनन कर के, तथा दन्त-कथाओं के मर्म को अपनी अल्पमति के अनुसार सुलझा कर मैंने मीरां और उसके समय के विषय पर यह उपन्यास लिखा है। मेरे हृदय में मीरां की जो मूर्ति उद्भवित हुई, उसका यथार्थ चित्र सरल और सर्वगम्य भाषा में यहाँ चित्रित हुआ हो, तो वह मेरे लिए पर्याप्त है।

मीरां और इतिहास दोनों में से किसी के भी साथ अन्याय न हो, यही प्रयत्न मैंने किया है, और इस प्रयत्न में यदि मुझे थोड़ी-बहुत भी सफलता मिली हो, तो वह मेरे लिए संतोष का विषय होगा।...

रमणलाल व. देसाई

अनुवादक की ओर से—

भारतीय जीवन को समुन्नत बनानेवाले–सुन्दर बनानेवाले–संगीतमय बनानेवाले कतिपय महान ऐतिहासिक प्रसंगो में मीरां के प्रसंग का भी समावेश होता है। ऐसे प्रसंगो के विषय में जितना लिखा जाय, जितना पढ़ा जाय, और जितना अन्वेषण-कार्य हो—इतिहास, कथा अथवा विवेचन के रूप में—उतना ही अच्छा !

देसाईजी को मीरां का विषय बड़ा ही प्रिय था, और उन्होंने अपने विचारों को लोक-जीवन के सामने रखने का माध्यम उपन्यास को बनाकर विषय की लोकप्रियता को और बढ़ा दिया।

गुजराती साहित्य में इस उपन्यास को काफ़ी कीर्ति और लोकप्रियता मिली है। इतने थोड़े समय में इस उपन्यास का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो, यह भी उसकी लोकप्रियता का सूचक है।

देसाईजी की अपनी एक विशिष्ट शैली है—मधुर, प्रभावोत्पादक और शब्द-चित्रवाली ! एक शब्द, एक वाक्य में वे सारी कहानी उपस्थित कर देते हैं ! इस शैली को जहाँ तक शक्य हो सका है. हिन्दी में भाषान्तरित करने का मैंने प्रयत्न किया है। मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, यह तो पाठक ही कह सकते हैं।

दूसरी बात है उपन्यास में लिखे हुए भजनों की भाषा के विषय में। मीरां ने अपने पद राजस्थानी, व्रज और गुजराती भाषाओं में बनाये, ऐसा विद्वानों का मत है। 'बाला जोगन' के इस अनुवाद में जहाँ तक हो सका है, इन तीनों भाषाओं में भजन दिये गये हैं। राजस्थानी और व्रजभाषा के भजनों को समझने में तो पाठकों को ज़रा भी कठिनाई न होगी। गुजराती भाषा के भी जो भजन हैं, उनकी भाषा इतनी सरल ओर सुगम है कि उनको समझने में भी पाठकों को कोई कष्ट न होगा।

अनुवाद में यदि कहीं कोई त्रुटि दिखाई पड़े, तो पाठक उसे अनुवादक की ही भूल समझें—मूल लेखक की नहीं।

श्यामलाल मै. मेढ़

अनुक्रमणिका

	विषय	पृष्ठ
१	बाला जोगन	६
२	विवाह का समाधान	६३
३	जीवन की आँधी	१६४
४	मुक्ति के पथ पर	३०२/३८०

~ १ ~

मैदान के बाद पहाड़ियाँ, और उनके बाद पुनः मैदान, ऐसी भौगोलिक बनावट को धारण करनेवाली पूर्वीय मारवाड़ की भूमि पश्चिमी रेगिस्तान से अलग थी। मेवाड़ की पहाड़ियाँ अपने अस्तित्व का परिचय देती हुई मारवाड़ में धस गयी थीं। इस भूमि को पार करते हुए तीन अश्वारोही प्रातःकाल से मध्याह्न तक भगवान सूर्य का साथ कर रहे थे। तीसरा पहर आते ही उन्होंने अपने अश्वों को एक सुपल्लवित स्थान की ओर घुमाया। वहाँ बड़े-बड़े वृक्षों के बीच एक जल-स्रोत हर-हर करता हुआ बह रहा था। उसके किनारे पहुँचकर ये तीनों अश्वारोही नीचे उतरे, घोड़ों को थप-थपाकर उनकी ज़ीन ढीली की, और पानी पिलाकर उनको चरने के लिये छोड़ दिया। तत्पश्चात् स्रोत के ठंडे पानी से उन्होंने अपने मुँह-हाथ धोये, बहती हुई धारा से थोड़ा जल पिया, और सोते के किनारे शीतल हवा में बैठकर विश्राम करने लगे।

'रायमलजी अब अधिक दिनों के मेहमान नहीं हैं।' एक अश्वारोही बोला।

चित्तौड़ के सिसोदिया महाराणा रायमल की कष्टमयी वृद्धावस्था का ख़याल आने पर, ये शब्द उस अश्वारोही के मुख से निकले। मेड़ता के राठौर राव दूदाजी को महाराणा रायमल ने अपने पास बुलाया था। रायमल और दूदाजी—सिसोदिया और राठोड़ वंश के अग्रणी एक दूसरे के सम्बन्धी और मित्र थे। महाराणा रायमल बड़े दुःखी रहा करते थे। उनके तीन पुत्र हुए। दुर्भाग्य से दो पुत्र उनके सामने ही दिवंगत हुए, और तीसरे पुत्र संग्रामसिंह का बहुत समय से पता न था। दूदाजी से रायमल की मैत्री थी। अतः कठिनाइयों के समय वे बराबर दूदाजी से परामर्श लिया करते थे, और दूदाजी की सलाह उनको पसन्द भी आती थी। राजस्थान में कठिनाई के समय बहुत-से लोग दूदाजी की सलाह लेते, और यह परम वैष्णव राठौर अपनी नेक सलाह और शीतल वाणी से उन सभी के हृदय में अमृत का

संचार करता। पुत्र-वियोगी रायमल ने भी उनको मेड़ता से चित्तौड़ बुलाया था।

'संग्रामसिंह का पता कैसे लगे ?' दूदाजी ने कहा।

भाइयों के कलह से घबराकर अज्ञातवास करनेवाले संग्रामसिंह का पता दूदाजी को, अथवा किसी को भी न था। पुत्र को खोजकर पिता से उसका मिलन कराने के उद्देश्य से दूदाजी ने संग्रामसिंह को खोजने के लिये चारों ओर अपने विश्वासपात्र संदेशवाहक भेज दिये, और रायमल का दुःख दूर करने के लिये स्वयं भी कटिबद्ध हो गये।

'आप यदि बीच में न पड़ें तो....संग्रामसिंह का सरलता से हाथ आना कठिन है। राजस्थान के सिर पर न जाने कैसा अभिशाप है ? दो राज्यों के मिलने की बात तो दूर रही, एक ही राज्य में पिता-पुत्र और भाई-भाई भी मिल न सकें...न जाने क्या होनेवाला है ?' दूसरे अश्वारोही ने कहा।

'प्रभु की लीला अपार है, तेजल ! हो सके उतने सत्कार्य करते रहो, अन्यथा श्रीकृष्ण का नाम लो। मनुष्य की चिन्ता मनुष्य से कहीं अधिक भगवान को है...अच्छा, लाओ यहीं स्नान करके मैं अपनी सायंसंध्या कर लूँ। शालिग्राम की पूजा के लिये इससे अधिक सुन्दर स्थान कहाँ मिलेगा !' दूदाजी ने कहा।

इतना कहकर वे स्नान तथा पूजा की तैयारी में लग गये।

राजपूत स्त्री-पुरुषों में एक ओर वीरत्व का विकास हो रहा था; दूसरी ओर गहन वैष्णवता का प्रचार बढ़ रहा था। जोधपुर के संस्थापक जोधा-राव के अनुज दूदाजी अपनी वीरता और बुद्धि के लिये ही प्रसिद्ध नहीं थे, अपितु अपने भक्तिभाव के कारण साधु-संत और विद्वानों में भी विख्यात थे। त्रिकाल विष्णु-पूजन किये बिना वे पानी भी न पीते थे। इस समय अपने साथियों के साथ उन्हें भी प्यास लग रही थी। उनके दो साथियों ने तो पानी पी लिया, परन्तु सायंपूजा किये बिना तृषा बुझाना दूदाजी के लिये अशक्य था। यात्रार्थ निकले हुए आस्तिक वीर उस समय में घोड़ों की जीन पर अपने इष्टदेव तथा पूजा-पाठ का सामान साथ ही में रखा करते थे, जिससे देव-सेवा के उनके नित्य-नियम में किसी प्रकार की बाधा न आए। दूदाजी ने

जल-स्रोत में स्नान करना प्रारम्भ किया, और उनके साथियों ने पूजन का सामान बाहर निकाल कर पूजा की सामग्री व्यवस्थित रख दी।

'पूजन-विधि घर से वन-उपवन में अधिक सुन्दर मालूम होती है !' एक साथी ने कहा।

'घर भी भगवान का ही दिया हुआ है, विजल !...और वन भी उन्हीं का है...!' स्नान करते-करते दूदाजी ने कहा, और इतना कहकर यमुनाष्टक का पाठ आरम्भ किया :

"मुरारिकायकालिमाललामवारिधारिणी ।
तृणीकृतत्रिविष्टया त्रिलोकशोकहारिणी ।।
मनोनुकूलकूलकुंजपुंजधूतदुर्मदा ।
धुनोतु मे मनोमलं कलिंदनंदिनी सदा ।।"

स्नान करके दूदाजी एक आसन पर बैठ गये, और एकाग्रचित्त से शालिग्राम की पूजा करने लगे। परन्तु उनके दोनों साथी सजग रहे। तेजल और विजल के नेत्र चारों ओर घूमने लगे। पश्चिम की ओर सूर्य ऊँची वृक्ष-राजि के पीछे चले गये थे, और मैदान में पड़नेवाली दीर्घ छाया अंधकार का आह्‌वाहन कर रही थी। सामने, किनारे की झाड़ी में से एक शशक निकला और अपने कान तथा मुख हिलाकर, वह चारों ओर देखता हुआ एक बिल में घुस गया। दूसरी ओर एक शृगाल दीख पड़ा, जो क्षण-दो-क्षण अपनी आँखें चमकाकर एकाएक कहीं लोप हो गया। मैदान के एक कोने पर दो-तीन हिरन छलाँग मारते हुए आये, और कुछ क्षण खड़े रहकर पीछे की ओर देखने लगे। वृक्ष पर एक बन्दर ने दाँत किटकिटाये, और एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदकर उसने काफ़ी शोर मचाना शुरू किया। उन्मुक्त घूमनेवाले अश्व भी अस्थिर होकर हिनहिनाने लगे; उनके कान जल्दी-जल्दी हिलने लगे; और भागने की तीव्र इच्छा को बलपूर्वक रोककर वे जहाँ खड़े थे, वहीं, चौंककर उछलने लगे।

'विजल ! शेर होगा, या भेड़िया ?' चारों ओर देखकर तेजल ने पूछा।

'यहाँ तो दोनों की संभावना है....और उनके लिये थाल पूरा सजाकर रखा हुआ है,' विजल ने हँसकर उत्तर दिया।

'उस थाल में हमारे अश्व ही नहीं....हम लोग भी शामिल हैं, इस बात को भूलना मत।' हँसते हुए तेजल ने कहा।

'आँखें न हों तो....अरे, देखो, देखो!...' वाक्य पूरा होने के पहिले ही स्थिर होकर विजल बोल उठा।

किसी को पता न चला कि एक व्याघ्र सहसा निर्झर के सामनेवाले किनारे पर कहीं से आ निकला। अब तेजल और विजल की समझ में आया कि वनपशुओं में सहसा व्यग्रता क्यों आयी। इन पशुओं को आहट मिल गयी थी कि उनका काल व्याघ्र की आकृति धारण करके वन की किसी झाड़ी में छिपकर बैठा है। बाहर निकलकर, वह किस पर आक्रमण करेगा, यह किसी को मालूम न था। काल की दृष्टि के सामने से भागने की किसी में हिम्मत नहीं होती। भोज्य के लिये एक ही मार्ग है: काल के सामने आँखें मिलाकर अपनी गर्दन उसे सौंप दे, और जब तक होश रहे, तब तक तड़पता रहे!

वह भयंकर कालमुख पानी में घुसा, और शीघ्र ही पानी में भंवरें पड़ीं। पानी पीकर उसका मुख बाहर आया। मुक्ता-जैसे जल-बिन्दु उसके शरीर पर से पुनः पानी में गिरे। काल के इस भयंकर विनाशक दृश्य को देखकर दौड़कर आता हुआ एक हिरन, दूर ही स्थिर होकर, खड़ा रह गया। वृक्ष पर बैठा हुआ बन्दर भय से चीख मारकर अकारण दूसरी शाखा पर कूद गया। एकाएक व्याघ्र किनारे पर लेट गया। जीवन्त भक्ष्य सामग्री इतनी निकट होने पर भी उसका ध्यान उस ओर क्यों न गया? एक-दो छलांग में उसको प्रचुर भोज्यसामग्री मिल सकती थी। हिरन स्तब्ध होकर खड़ा था; बन्दर भयभीत होकर वृक्ष से नीचे गिरने ही वाला था। अपने पंजे के प्रहार से वह एकाध अश्व को भी धराशायी कर सकता था। इतनी सुविधा होने पर भी, अपने भक्ष्य को छोड़ कर, यह क्रूर प्राणी इस प्रकार क्यों पड़ा था? उसे चोट तो नहीं लगी?

प्रलम्ब व्याघ्र-देह कांपने लगी। ऐसा आभास होता था कि कोई

अकथ्य पीड़ा उसे व्यथित कर रही है। जिसके दर्शनमात्र से पीड़ा उत्पन्न हो, स्वयं उसे व्यथा का अनुभव करना पड़े ?

थोड़ी देर बाद, ऐसा ज्ञात होने लगा कि उसकी वेदना कम हो गयी। वह बैठ गया, और कुछ क्षण बाद उठकर पूंछ हिलाता हुआ चारों ओर देखने लगा। उसके नेत्रों में अंगार चमक रहे थे, परन्तु उसकी देह का मानो वेग चला गया है! छलांग मारने की उसने कोई कोशिश नहीं की।

'विजल! तीर मारूँ ? या भाला ?' तेजल ने पूछा। सावधान बने हुए इन दोनों वीरों ने व्याघ्र की सारी विचित्रता देखी थी, और यह निश्चय किया था कि व्याघ्र-द्वारा किसी भी प्राणी का संहार न होने देंगे।

'मैं तो नंगी तलवार लेकर शेर से लड़ चुका हूँ........अपने सामने उसे किसी भी प्राणी को मारने तो न देंगे,' विजल ने उत्तर दिया।

'परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि शेर इतनी देर तक एक ही स्थान पर ठहरे।'

'जो भी हो; उसे तो पूरा ही करना पड़ेगा,' कहते हुए तेजल ने चुपके से अपना भाला उठाया। इतने ही में पूजन-कार्य में संलग्न दूदाजी का ध्यान टूटा और उनकी दृष्टि उस व्याघ्र पर गयी। तुरन्त वे बोल उठे:

'अँहँ......उसे छेड़ो मत।'

'क्यों ?'

'यह प्राणी अपने आप चला जायगा,' दूदाजी ने कहा।

'कैसे ? शेर का स्वभाव विचित्र होता है। कोई कह नहीं सकता कि वह कब और कहाँ से आक्रमण कर बैठे।'

'नहीं कर सकेगी; शेरनी है। देखते नहीं कि वह नये जीवन को उत्पन्न करने की तैयारी में है?' दूदाजी की अनुभवी आँखों ने शेरनी की वास्तविक परिस्थिति समझ ली थी। शिशु-जन्म की घड़ी शेरनी को भी अहिंसक बना रही थी। उदरस्थित जीवों की सुरक्षा

का विचार उसे छलांग मारने से रोक रहा था; और नूतन जीवन का आगमन उसकी देह को असह्य पीड़ा दे रहा था। पीड़ा और भूख को सहन करके, तथा हाथ में आयी हुई पोषण-सामग्री को त्याग नये जीवन को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करती हुई शेरनी खूब संभल कर घूमी और धीरे-धीरे कष्ट सह चलकर पहाड़ी की एक गुफा में अदृश्य हो गयी। जीवन का जन्म कोई सार्वजनिक तमाशा नहीं हो सकता—मानवसमुदाय में अथवा पशुसमुदाय में!

संध्या का समय बीत चुका था। आकाश में तारे निकल आये थे, और उनका प्रकाश वृक्षपत्रों में से छन कर आ रहा था। दूदाजी की देव-सेवा पूरी हुई। अश्वों की जीन कसकर बाँध दी गयी और तीनों सैनिकों ने अश्वारोहण पर, स्रोत के जल में प्रवेश किया।

'तेजल, विजल, कुछ नज़र आया?' थोड़ा चौंक कर, और अश्व को रोक कर, दूदाजी ने पूछा।

'बहुत बड़ा तारा टूट कर गिरा,' तेजल ने उत्तर दिया।

'किसी महान तेज-पुञ्ज के उद्भव को मैंने देखा। टूट कर गिरनेवाले नक्षत्र में इतना तेज नहीं होता,' दूदाजी ने कहा, और इतना कह कर वे आगे बढ़े। उनका मुख गम्भीर हो गया था।

जिस पहाड़ी में शेरनी घुसकर अदृश्य हो गयी थी, उसके पास से जाते हुए तीनों सवारों को गुहान्तर से झुंझलायी हुई शेरनी का चीत्कार और व्याघ्र-शिशुओं की मन्द शिशु-वाणी सुनायी दी।

'जल्दी करें, व्याघ्र आहार लेकर आता ही होगा,' विजल ने कहा।

'इस समय तो शेर को भी गुफा में घुसने का अधिकार नहीं। वह गुफा के द्वार पर ही आहार डालकर दूर हट जायगा,' दूदाजी ने कहा, और अश्वों को गुफा-द्वार से हटाकर दूसरे मार्ग की ओर मोड़ लिया। उनकी तेज आँखों ने अन्धकार में भी देखा कि शेर किसी विशाल-काय पशु को खींचता हुआ झाड़ी से निकलकर लुकता-छिपता, गुफा की ओर आ रहा है। आज इस महाहिंसक व्याघ्र-दम्पत्ति को अपने नवजात

शिशुओं के रक्षण और पोषण के अतिरिक्त और किसी बात का खयाल न था। उनके इस कार्य में बाधा डालने वाले की मृत्यु निश्चित थी।

बन की गहनता कम होने लगी। यद्यपि अन्धकार काफ़ी बढ़ गया था, तथापि उसकी विशालता में भी रास्ता तो दीख ही पड़ता था। आगे बढ़ते हुए तीनों अश्वारोही एक ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ दो मार्ग अलग होते थे। दूदाजी ने अपना अश्व रोक कर पूछा :

'वह प्रकाश इस ओर था, नहीं ?'

'जी हाँ।'

'इसी राह चित्तौड़ चलें तो कैसा हो ?'

'इस रास्ते जाने का कारण, दूदाजी ?'

'मेरा, एक प्रकार का पागलपन !'

'आपकी योजना में पागलपन को स्थान नहीं। परन्तु इधर जायँगे कहाँ ?'

'इस राह रत्नसिंह का ससुराल पड़ेगा : कुड़की गाँव !'

दूदाजी का प्रगाढ़ पुत्र-स्नेह उनके साथियों से छिपा न था। उनको यह भी विदित था कि पुत्रों के साथ ही साथ, पुत्र-वधुओं के प्रति भी उनका पूरा स्नेह था। दूदाजी के दो पुत्र थे। बड़े का नाम वीरमदेव, और छोटे का नाम रत्नसिंह ! दोनों सुपुत्रों को अपने पिता के प्रति परम पूज्यभाव था। रत्नसिंह की पत्नी अपने नैहर—कुड़की ग्राम आयी थी। प्रत्येक आर्यपुरुष के हृदय में अपने वंश की वृद्धि का मोह सर्वदा उपस्थित रहता है। सौभाग्य से दूदाजी के कुटुम्ब में भी वंशवृद्धि का सुअवसर आया था, और रत्नसिंह की पत्नी इस वृद्धि का माध्यम बननेवाली थी। न जाने क्यों आज दूदाजी के मन में यही आया कि मेड़ता से मेवाड़ जाते हुए पहिले अपनी पुत्रवधू के कुशल समाचार पूछते-चलें।

'परन्तु आपको वहाँ आने का आमंत्रण कहाँ है ?' तेजल ने कहा।

'घर के बालकों को देखने के लिए आमंत्रण की क्या आवश्यकता ?' दूदाजी ने उत्तर दिया।

पुत्रवधू को अपनी पुत्री समान मानने वाले दूदाजी को उनके साथी कुछ अधिक कह न सके। तीनों अश्वारोही कुड़की ग्राम की ओर चले। गाँव बहुत दूर न था। मध्यरात्रि होते-होते वे वहाँ पहुँच गये। गाँव के बाहर स्थित एक मन्दिर की धर्मशाला में वे तीनों सो रहे। प्रातःकाल दूदाजी को, वहीं, अन्य लोगों से समाचार मिले कि रत्नसिंह की पत्नी ने एक बालिका को जन्म दिया है, और अब वे पितामह बन गये हैं। बिना कोई पूर्वसूचना दिये वे समधी के घर पहुँच गये। उनके जैसे सम्मानित मेहमान के अचानक उपस्थित हो जाने से, उनके सत्कार का समुचित प्रबन्ध करना, समधी के लिए एक कठिन प्रश्न बन गया।

'मेरी मेहमानदारी न करें। मैं तो घर का ही आदमी हूँ और....मेरे मन ने माना नहीं, इसलिए बहू के कुशल समाचार पूछने आया हूँ....अभी-अभी हमें समाचार मिला कि मेरे घर में लक्ष्मी का अवतार हुआ है....उसे देख लूँ और आशीर्वाद दूँ....बस उसके बाद चला जाऊँगा', दूदाजी ने कहा।

परन्तु जोधपुर के संस्थापक का पुत्र दूदाजी चाहे कितनी ही ना कहे, उसका योग्य सत्कार हुए बिना रह नहीं सकता। सत्कारविधि चल ही रही थी, इतने में वहाँ अनेक स्त्री-पुरुष प्रसन्नता प्रदर्शित करने के लिए एकत्रित हो गये। ज्योतिषी ने आकर कुंडली बनाई और ग्रहयोग बताया। इतने में एक दासी ने लाकर दूदाजी के पास एक हिलती-डोलती गुड़िया को रख दिया। दूदाजी की वैष्णवता को–वैष्णव आचार को–इस कार्य में कोई आपत्ति नहीं हुई। हर्ष से उनकी आँखों में अश्रु भर आये और कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

'मेरी यह बेटी !....यही मेरी मीरात....मेरा सच्चा धन !....'

वृद्ध पितामह के स्नेह-मार्दव को देखकर एकत्रित जन-समुदाय स्तब्ध हो गया। दूदाजी के मुख से पुनः उद्गार निकले :

'बेटी ! इस देह ने जो कुछ भी पुण्य संचित किया हो, उसका फल तुम्हें मिले......संसार-चक्र में पड़ा हुआ मेरे जैसा राजस्थानी और क्या दे सकता है ?'

दूदाजी की धर्मपरायणता सारे राजस्थान में प्रसिद्ध थी। राजवंश में जन्म होने पर भी राज्यलोभ उन्हें छू तक न गया था। बड़े भाई ने जो जागीर दी थी, उससे, उनको पूर्ण सन्तोष था। युद्ध में अप्रतिम वीरता दिखाने वाले दूदाजी का हृदय एक छोटे-से कीट को तड़पते हुए देखकर आर्द्र बन जाता। मदिरा और मांस क्षत्रियों, राजपूतों के लिये त्याज्य न थे; अपितु उनके उपयोग और उपभोग में वे गर्व मानते थे। परन्तु दूदाजी के वैष्णव राज-परिवार में उनका कोई स्पर्श तक न करता था। इतना ही नहीं, उनके मेहमानों के लिए भी वह वर्ज्य था। उनके दरबार में भाट-चारण अपने वीर-काव्य बराबर सुनाते रहते थे। परन्तु साथ ही साथ राजमहल में विद्वान् कथावाचक भागवत और गीता के पारायण करते, जिसे सारा राज-कुटुम्ब ध्यान से सुनता। दूदाजी स्वयं प्रतिदिन गीता के तथा भागवत के एक-एक अध्याय का पाठ किये बिना, पानी भी नहीं पीते थे। इस सत्कार्य का पुण्य जीवनमुक्ति प्रदान करनेवाला कहा जाता था।

'नाम तो राव ने रख दिया। यह बेटी राठौर कुल की मीरात तो अवश्य है। साथ ही साथ राठोड़ों में यह सूर्य समान, मिहिर समान देदीप्यमान बनेगी। महाराज! यह मीरा-मीरा के नाम से इस पृथ्वी-मंडल में चतुर्दिक ख्याति प्राप्त करेगी', संस्कृत के विद्वान् ज्योतिषी ने राव दूदाजी की मीरात—संपत्ति—पौत्री को तुरन्त ही मीरा नाम प्रदान कर दिया।

'सुन्दर नाम है....छोटा....प्यारा लगे ऐसा....मीरा! तुमको यह नाम पसन्द आया?' दूदाजी बालिका की ओर देख सहज हँस कर कहा।

नन्हीं-सी, एक दिन की मीरा अपने पितामह की बात समझ गयी या नहीं, यह तो अगम्य ही रहा, परन्तु दूदाजी ने मान लिया कि उनको अनिमेष देखनेवाली उस गंभीर बालिका ने उनके प्रश्न को समझ लिया है, और नाम के विषय में अपनी सम्मति भी प्रदान की हैं। दूदाजी कुछ दिन वहीं रह गये। छठी के दिन उन्होंने ज्योतिषी के मुख से बालिका के ग्रह-फल सुनने की इच्छा प्रकट की।

ज्योतिषी प्रायः शुभदर्शी हुआ करते हैं। उनकी गणना में प्रत्येक

व्यक्ति के ग्रह इस प्रकार बैठे देख पड़ते हैं कि वे थोड़ा अशुभ फल देते हुए भी अधिकांश शुभ फल को ही देनेवाले होते हैं।

'अब, जोषीजी ! बताइये, मीरा की ग्रहस्थिति क्या-क्या बताती है ?' दूदाजी के समधी ने पूछा।

ज्योतिषी ने बहुत-सी गिनती गिनी। उंगलियों के पोर पर भी अंक अंक की गणना की। कुछ देर आँखें स्थिर करके विचार-मग्न बैठे रहे। दो-एक बार आँखें बन्द भी कीं। पटिया पर कुछ लिखा, उसे मिटाया, और पुनः कुछ लिखा। अन्त में सिर हिलाकर वे किसी निश्चय पर आये।

'बड़ी देर लगी, महाराज !' पौत्री का भावी जानने की अभिलाषा में आतुर बने हुए दूदाजी ने कहा।

'विचित्र ग्रह लेकर यह कन्या आयी है....ग्रहस्थिति असामान्य है....मैं भी संशय में पड़ गया हूँ,' ज्योतिषी ने उत्तर दिया।

'कल की बात कहूँ...रात्रि के प्रारम्भ में ही इसका जन्म हुआ....जन्म ने के समय हम लोगों ने आकाश में एक तेज-बिंब देखा', मीरा के नाना ने कहा।

'सच ? तब तो मैंने और आपने एक ही दृश्य देखा। इसके जन्म के समय मैंने भी क्षितिज में एक अद्‌भुत प्रकाश देखा था—वह गिरते हुए तारक जैसा नहीं था, बल्कि शीघ्रगामी सूर्य-जैसा लगता था। इसीलिए, मेरा मन इस ओर आने के लिये उत्सुक बना', दूदाजी ने अपना अनुभव कह सुनाया।

'विलक्षण बातें नजर आती हैं, रावजी !' ज्योतिषी के उद्‌गार निकले।

'जो हो, उसे कह डालें...आयुष्य कितना है ?' नाना ने पूछा। वृद्धों को अपनी संतान के आयुष्य का प्रश्न सर्वोपरि लगता है।

'आयुष्य लंबा है......अति दीर्घ न भी हो तो....।'

'ससुराल....?'

'अति उत्तम...जिस कुल में जायगी, उससे श्रेष्ठतर कुल राजस्थान में होगा नहीं।'

'देहसुख....?'

'अच्छा है...यों सामान्य कष्ट तो शरीर के साथ लगा ही रहता है.... परन्तु....कुछ नहीं....प्रभु सब अच्छा ही करेंगे....रावजी ! आपके कुटुम्ब में यह कन्या नहीं, कोई देवांशी की मुक्तात्मा पैदा हुयी है।'

'आप साफ़-साफ़ कहें, जोशीजी ! ऐसा लग रहा है, आप मुझसे कुछ छिपा रहे हैं।'

'तो, आप सब ज़रा हट जायँ। मुझे कुछ और गणना कर लेने दें.... गिनती में कुछ देर लगेगी...ज़रा कठिन है...घड़ी-दो घड़ी बाद, मैं सब बातें बता दूँगा।'

बालिका मीरा अन्दर भेज दी गई। एकत्रित कुटुम्बी-जन और परिचित व्यक्ति कसुंबा, गुड़ और धनिया, तथा मिठाई लेकर धीरे-धीरे चले गये। दूदाजी के रहने के लिए तो वही स्थान था, अतः वे वहीं बैठे रहे। उनके दोनों साथी तेजल और विजल कक्ष के बाहर टहलते हुए, मीरा के ननिहाल के वैभव तथा अतिथि-सत्कार का पूरा अनुभव कर रहे थे। वहाँ दो ही आदमी बैठे रह गए—एक ज्योतिषी, जो ग्रहों की गणना में संलग्न थे, और दूसरे अपनी पौत्री का भावी संपूर्ण रीति से जानने के लिए उत्सुक बने, दूदाजी ! ज्यों-ज्यों गणना जटिल बनती-जाती थी, त्यों-त्यों वह विद्वान् ज्योतिषी उसको सुलझाने का अधिक प्रयत्न करते जाते थे। ज्योतिषी की उलझन देखकर, दूदाजी की व्यग्रता बढ़ती जाती थी। अन्त में ज्योतिषीजी ने अपने कपाल-प्रदेश पर हाथ फिराया, और श्रम को दूर करने के लिए अँगड़ाई ली।

'कहिए, महाराज ! कुछ मिला ?' दूदाजी ने पूछा।

'रावजी ! ज्योतिषियों से बहुत प्रश्न करना ठीक नहीं।' ज्योतिषी ने उत्तर दिया।

'क्यों ?'

'बहुत बार ऐसा होता है कि ग्रहों की गति पकड़ना ज्योतिषी के लिए भी कठिन हो जाता है।...और कभी भविष्य का ज्ञान पहिले हो जाने से

...हम आनेवाली कटुता को वर्तमान में खींच ले आते हैं....,' ज्योतिषी ने स्थिति की गहनता को बढ़ाया।

'देखिये न, जोशीजी ! हम राजपूत—अपना जीवन हथेली पर रखकर घूमते हैं,...इसलिए भय तो किसी बात का हम को होता नहीं, और... प्रभु-चरण की सेवा कर मुझे एक सत्य के दर्शन हुए हैं—प्रभु जो करते हैं, वह सब अच्छे ही के लिए...आप संकोच न करें...ग्रह के जो भी फल हों, आप निःशंक कहें।'

अपनी ठोड़ी पर हाथ रखकर, ज्योतिषी ने कहा: 'आप तो भक्तराज हैं। आपको कहने में कोई हर्ज नहीं....परन्तु क्या कहूँ, पूरी बात मेरी भी समझ में नहीं आती...।'

ज्योतिषी को ज़रा रुकते हुए देखकर दूदाजी ने पूछा: 'मीरा के सौभाग्य की बात पहिले कहें।'

'इसी विषय के ग्रह तो मुझे संशय में डाल रहे हैं। इसे....सर्वप्रथम सन्तान-सुख नहीं है...परन्तु सन्तानों की परंपरा बराबर देख पड़ती है। अब रही सौभाग्य की बात....चार-पाँच वर्ष तक सौभाग्य-सुख, उसके बाद भयंकर अन्धकार...परन्तु इस अन्धकार में से एक ऐसा प्रकाश-स्रोत देख रहा हूँ, जो इसके समग्र सौभाग्य-जीवन को देदीप्यमान बनायेगा।....महाराज ! मेरी तो समझ में नहीं आता कि यह सब क्या है !'

'किसी दूसरे ज्योतिषी को पूछना है ?'

'मैंने अनेक प्रकार की ग्रहस्थिति देखी है। बहुतेरे राजा, रानी, नवाब, बेगम, वीरपुरुष और कापुरुषों की मैंने कुंडलियाँ बनाई हैं, और उनके ग्रहों की जटिलता सुलझायी है। आज तक मेरा बनाया हुआ ग्रह-फल मिथ्या नहीं गया। सिसोदिया संग्रामसिंह की गद्दी के विषय में जो भविष्य-वाणी मैंने की थी, वह अब सत्य साबित हो रही है...परन्तु ऐसी पत्रिका मैंने आज तक देखी नहीं...आपकी इच्छा हो तो, आप ज्योतिषियों की एक सभा बुलायें।...परन्तु रावजी ! जो मैंने कहा है, उससे अधिक यदि कोई ज्योतिषी कहेगा, तो मैं ज्योतिष की अपनी सारी पुस्तकें बहा दूँगा।'

'अपना मन्तव्य मुझे विस्तार से समझाइये....।'

'परन्तु वह भजनिक तो...एक चमार है।'

'वह प्रभु का ही नाम लेता है न? कोई आपत्ति नहीं। प्रभु का नाम सब को पावन करता है।'

दूदाजी का आग्रह टाला न जा सका। राजमन्दिर में धूम-धाम से शालिग्राम की पूजा हुई, और सारी रात स चमार-भक्त ने अपने भजनिकों के साथ भजन की धुन लगायी। भजन समाप्त होने पर, दूदाजी ने चमार-भक्त के चरणों पर सुवर्णमुद्राएँ चढ़ायीं।

'रावजी! यह देह रोहिदास की परंपरा में पला है। मैं कुछ ले नहीं सकता।' चमारभक्त ने कहा। रोहिदास की परंपरा कायम रखने-वाले भक्त को भी, सब लोग, रोहिदास के ही नाम से पुकारते थे।

'तात्पर्य ?'

'यह कि भजन का कोई मूल्य नहीं होता, रावजी!'

'भजन का मूल्य मैं देता नहीं—दे भी नहीं सकता, रोहिदास! यह तो प्रभु के चरण पर चढ़ी अल्प सेवा है।'

'आप तो राजा हैं, भक्तों के राजा हैं। मेरे प्रभु के लिये, भक्तराज, मेरे इन निर्धन हाथों की सेवा ही पर्याप्त है।'

दूदाजी ने भक्त रोहिदास के चरणों के पास रखी हुई मुद्राओं को हटाकर दूर रख दिया, और उनका प्रभु-प्रीत्यर्थ दूसरा उप-योग किया।

वहाँ से बिदा होते समय दूदाजी ने मीरा के मातामह से प्रार्थना की कि प्रतिमास एकादशी, पूर्णिमा और अमावस्या को तथा अन्य पर्वों पर भी वे भजन-कीर्तन बराबर कराते रहें, जिससे मीरा के कान नें प्रभु-नाम पड़ा करे। गाँव छोड़ने के पहले, वे रोहिदास के छोटे-से मंदिर में भी गये और वहाँ उन्होंने भगवान के दर्शन किये। मृत पशुओं के चमड़ों को साफ़ करके, उन पर रंग चढाने का धंधा करनेवाली इस अस्पृश्य जाति में प्रभु के चरणारविन्दों को पधारते देख दूदाजी को परम आनन्द हुआ। अशुद्ध काम करने पर भी ये चमार बड़ा ही पुनीत जीवन व्यतीत करते थे। चमड़े धोने के लिए बनाये हुए इनके कुण्ड, ग्रामवासियों की घ्राणेन्द्रिय को कोई

कष्ट न पहुँचे, इस विचार से, उपयुक्त स्थान पर निर्मित किये गये थे। ये चमार तैयार किये हुए चमड़ों को बेचकर अपनी आजीविका चलाते थे। अपने पहनने के लिए मोटे-महीन वस्त्र भी वे स्वयं तैयार करते थे। व्यसनों से ये सदा दूर रहते, और अवकाश का समय प्रभु के भजन-कीर्तन में बिताते। इनके जीवन का प्रत्येक कार्य गुरु रोहिदास-रैदास की बताई हुई प्रणालिका के अनुसार हुआ करता। प्रभु की भक्ति उनको नम्र बनाती थी। परन्तु यह नम्रता पंगु-जन की नम्रता न थी। यह थी भक्ति-द्वारा आर्द्र बने हृदय से, सब के पाप को क्षमा प्रदान करने वाली उदात्त नम्रता !

राव दूदाजी ने इस नम्रता को देखा, समझा भी, और इसको सत्कार का पात्र माना। वास्तव में प्रभु-भक्ति का सच्चा स्वरूप मानव को उदार बनाता है। शस्त्र के शौकीन राजपूत, भला, इस प्रकार की उदारता को अपने हृदय में कहाँ से स्थान दें ?

और ऐसी उदारता साथ में लेकर, वीरत्व जीवित रह सकता है ? वीरत्व-विहीन जीवन भी किस काम का ?

परन्तु एक चमार प्रभु के नाम पर सुवर्णमुद्राओं के प्रलोभन को ठोकर मार दे, यह कम वीरत्व का विषय नहीं। राजपूतों के प्रण-गौरव से क्या यह कम गौरवमय है ? मनुष्य वीर भी बन सकता है, और साथ ही साथ उदार भी हो सकता है। वीरत्व और उदारता कदाचित् एक ही वृत्ति के दो पार्श्व हैं।

जो भी हो ! मीरा के लालन-पालन में, प्रभुमय वातावरण को बनाये रखने का निश्चय करके, दूदाजी चित्तौड़ की ओर चले।

~ २ ~

तेजल, विजल और दूदाजी चित्तौड़ की ओर बढ़े जा रहे थे। राजस्थान के भाग्य का विचार इन तीनों के मस्तिष्क में घूम रहा था। वे जानते थे कि रायमल स्वयं पराक्रमी हैं। उनके तीनों पुत्र जयमल, पृथ्वीराज और संग्राम भी बड़े वीर हैं। इन पर मेवाड़ को पूर्ण भरोसा था; मेवाड़ ही नहीं सारे राजस्थान को! परन्तु दुर्भाग्य से मेवाड़ की इन आकांक्षाओं पर पानी फिर गया। परमवैष्णव कुंभा राणा के पुत्र रायमल की ये सन्तानें आपस में ही झगड़ने लगीं। अपने पराक्रम का उपयोग तीनों भाई एक दूसरे को नुकसान पहुँचाने में करने लगे। एक बार इन तीनों राजपुत्रों की हस्तरेखाएँ देखकर एक योगिनी ने भविष्यवाणी की थी कि राजगद्दी संग्राम को मिलेगी। जयमल और पृथ्वीराज के लिये यह वाणी असह्य हुई। उन दोनों ने शस्त्र उठाकर संग्राम पर आघात किया। रक्त से लथ-पथ संग्राम वहाँ से जान बचाकर भागा, और तब से चित्तौड़ में उसने पाँव न रखा। इस बात का किसी को भी पता न लगा कि वह कहाँ गया! कुछ लोगों की मान्यता थी कि वह दिल्ली के शहंशाह के दरबार में छिपा हुआ है। कुछ लोगों ने यह भी समाचार दिये कि वह दक्षिण में स्थित विजयनगर राज्य के नृपति का अंगरक्षक बन गया है। किसी ने यह भी कहा कि वह साधु बनकर तीर्थयात्रा कर रहा है। कितनों ने यह भी खबर दिया कि वह डाकुओं की टोली में जा मिला है।

पराक्रमी पुत्रों के आत्मघातक व्यवहार से रायमल बहुत दुःखी रहते थे। जयमल का शौर्य उसे सदा युद्ध-कार्य में संलग्न रखता। टोडा के सोलंकी राव की पुत्री तारा अपने लावण्य के लिए विख्यात थी। संयोग से इस राव की एक जागीर किसी पठान ने छीन ली। राव ने प्रतिज्ञा की कि जो वीर इस जागीर को पठान से छुड़ाने में सहायता करेगा, उसके साथ वह तारा का विवाह कर देगा। तारा के रूप ने जयमल के हृदय को आकर्षित

किया, और उसने विवाह का प्रस्ताव सोलंकी राव के पास भेजा। राव ने अपनी प्रतिज्ञा का उल्लेख किया। रायमल उस पठान से युद्ध करने के पक्ष में न थे। तब तो जयमल ने सोलंकी राव पर ही आक्रमण कर दिया। सोलंकी राव और जयमल के बीच भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें जयमल मारा गया। रायमल यदि चाहते तो उस राव को अपने पुत्र की हत्या का आरोप लगाकर सज़ा दे सकते थे; परन्तु उन्होंने वैसा किया नहीं, कारण दोष जयमल का था। उनको उभाड़ने का प्रयत्न करनेवाले सलाहकारों को उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया :

"दोष जयमल का था ! जैसा उसने किया वैसा फल पाया !"

इस प्रकार रायमल का एक पुत्र चला गया। दूसरा बचा पृथ्वीराज ! साहस और शौर्य ने उसे भी मदान्ध बना दिया था। बात-बात में वह लड़ने को तैयार हो जाता, और आवेश में आकर बुद्धि खो बैठता। सोलंकी राव की जो जागीर पठान शासक के हाथ में गयी थी, उसे पुनः राव को दिलाकर राव की पुत्री तारा से उसने विवाह किया। परन्तु दिन पर दिन उसकी वीरता निरंकुश होती गयी और वह अपने सगे-सम्बन्धियों को ही हैरान करने लगा। उसकी बहिन सिरोही के राजा जगमल के साथ ब्याही थी। जगमल उसकी बहिन को बड़ा दुःख दे रहा है, इस समाचार ने उसे उत्तेजित कर दिया। आत्मरक्षा की परवाह किये बिना एक रात वह अकेला ही सिरोही के राजभवन में पहुँच गया। सत्ता और धन के मद में आदमी अधम-से-अधम कार्य करने लगता है। राजपूत राजाओं में भी विलासिता बहुत बढ़ गयी थी। वे इतने विषयान्ध बन गये थे कि अनेक पत्नियों के होते हुए भी उनकी काम-लिप्सा दासियों का सहवास खोजती और यह व्यवहार एक साधारण बात बन गयी थी। अति विलासिता वीरत्व का ह्रास करती है, और उसमें रत रहनेवालों को अति-सन्तान अथवा निःसन्तान होने का दारुण दुःख भोगना पड़ता है। राजपूत राजा भी इस विलासिता में लिप्त थे। साहसी पृथ्वीराज अपने दुष्ट बहनोई को खोजता हुआ उसके रनिवास में पहुँच गया। रात्रि के समय मानवहृदय की विकृतियाँ निर्बाध होकर विचरती हैं। कामासक्ति में चूर जगमल मानवोचित मर्यादा को भूलकर

क्रूरता के शिखर पर पहुँच गया था। पृथ्वीराज ने देखा कि उसकी बहिन पलंग के दो पायों को अपने हाथों में ग्रहण किये हुए अपने ही पति को अन्य स्त्री के साथ संभोग करते देख रही है। कामान्धता की इस विकृति को देखकर पृथ्वीराज अपने क्रोध को दबा न सका। तलवार निकालकर वह यकायक शयन-खण्ड में कूद पड़ा। सिर पर तलवार खड़ी देखकर जगमल की घिग्घी बँध गयी और पृथ्वीराज की बहिन ने अपना आंचल पसार कर भाई से पति के प्राण की भिक्षा माँगी। स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक उदार हुआ करती हैं। यदि बहिन ने अपने पति के जीवन की भीख न माँगी होती, तो जगमल का सिर कब का पलंग पर से नीचे गिरकर पृथ्वी पर लुढ़कता होता। पापी जगमल ने क्षमा माँगी और अपनी पत्नी को भविष्य में कभी भी दु:ख न देने की शपथ ली। पृथ्वीराज ने दया करके अपनी बहिन का सौभाग्य नष्ट नहीं किया।

इस जीवनदान के बदले में समय पाकर जगमल ने पृथ्वीराज को विष देकर मरवा डाला। इस प्रकार राणा रायमल का दूसरा पुत्र भी जाता रहा।

उसका तीसरा पुत्र संग्राम कहाँ है, इस बात की रायमल को खबर न थी। नागिन-सी तलवार और नागिन सदृश सुन्दर रमणियों के बीच में पड़कर राजस्थान का शौर्य घटता जा रहा था। तभी राजस्थान में यकायक भक्ति-मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके कारण राजपूतों की उग्रता का शमन होने लगा और शौर्य के आत्मघातक विनाश के स्थानपर सर्वत्र शान्ति व्याप्त होने लगी। ऐसे समय रायमल के व्यथित हृदय ने अपने परम मित्र भक्त दूदाजी को याद किया, और दूदाजी भी अपने दु:खी मित्र से मिलने के लिए निकल पड़े। उनके हृदय में राजस्थान के इस सारे चित्र का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। विलास और वीरत्व के बीच में झूलते हुए राजस्थान ने अभी तक मुस्लिम धर्म-ध्वज को अपनी भूमि पर आने न दिया था; परन्तु जहाँ भाई-भाई, साले-बहनोई और पिता-पुत्र में ऐसे सांघातिक विवाद हुआ करते हों, वहाँ स्वधर्म के ध्वज की रक्षा कब तक शक्य थी?

"यह स्थान भयंकर लगता है!" गहन विचारों में पड़े हुए दूदाजी को उद्देश्य कर तेजल ने कहा।

'शेर दिखाई पड़ा या शेरनी ?' हँसकर दूदाजी ने पूछा। अभी थोड़े ही दिन पहिले व्याघ्र-शिशुओं को जन्म देनेवाली शेरनी को मृत्यु के मुख में से उन्होंने बचाया था, यह प्रसंग दूदाजी को याद आया। समय भी प्रायः वही था। सूर्य शीघ्रता से अस्ताचल की ओर जा रहा था।

'शेर-शेरनी तो दीख नहीं पड़ते, परन्तु नाग-नागिन जा रहे हैं।' विजल ने कहा। तीनों अश्वारोहियों ने एक नाग-युगल को शीघ्रता से जाते देखा। नागिन आगे बढ़कर अदृश्य हो गयी, परन्तु नाग दिखाई पड़ता रहा। कुछ दूर जाकर वह रुक गया।

शेषनाग का सौन्दर्य ! नाग को देखकर दूदाजी को शेषशायी भगवान का स्मरण हो आया। पत्थर, तीर या लाठी से नाग के अस्तित्व को मिटा देने के बदले दूदाजी ने उस नाग को प्रणाम किया।

'यह तो नारायण का आसन है, तेजल ! नमस्कार के योग्य है,' दूदाजी ने कहा।

'दूध नहीं है...नहीं तो दूध से कटोरा भर कर मैं उसके सामने रख देता !' दूदाजी के भक्तिभाव का सहज उपहास करते हुए तेजल ने कहा।

'जिस सत्व को, जिस तत्व को हम पहिचानते नहीं, उसका विनाश न करके यदि हम पोषण करें, तो वह आसानी से समझ में आ जाय। यह शेषनाग हमारी धरती के भार का वहन करते हैं....यह बात न समझ में आये, तो नाग के मारने के बदले अच्छा यह होगा कि हम उससे मित्रता करें...कदाचित् समझ में आ जाय', दूदाजी ने कहा।

इतने में इन अश्वारोहियों की दृष्टि एक आदमी पर पड़ी जो एक विशाल वृक्ष की छाया में सिर पर हाथ रखकर सो रहा था। उससे कुछ दूरी पर गोपवृन्द गायों को चरा रहे थे। सर-सर आगे बढ़ने वाला सर्प उस आदमी की ओर जा रहा था। चिन्तातुर बने हुए तेजल और विजल कुछ कर सकें इसके पहिले ही वह सर्प उस सोये हुए आदमी के चारों ओर घूम गया, और कुंडली बनाकर क्षण, दो क्षण, पांच क्षण तक उस आदमी के मस्तक पर अपना फन फैलाकर उसने छत्र की रचना की। भयंकर

होते हुए भी सुन्दर लगने वाले इस दृश्य को तीनों देखते रहे। चम-चम चमकती हुई सर्प की आँखें छत्र के हीरे के समान प्रकाश फेंक रही थीं।

'लगता है कि कोई छत्रपति यहाँ सो रहा है!' दूदाजी ने कहा। इतने ही में सर्प अपना फन हटाकर वहाँ से चला गया।

वृक्ष के पीछे से एक ग्वाला दौड़ता हुआ आया, और उस सोये हुए आदमी के आस-पास का स्थान देखने लगा।

'आप कौन हैं?' ग्वाले ने अश्वारोहियों से पूछा।

'मुसाफ़िर', तेजल ने उत्तर दिया।

'नाग ने फन का छत्र बनाया था, वह आपने देखा?' ग्वाले ने दूसरा प्रश्न किया।

'हाँ, कोई भाग्यवान पुरुष है', बिजल ने कहा।

'कुछ......समझ में नहीं आता। मैं दो दिनों से इस दृश्य को देख रहा हूँ', ग्वाले ने अपना अनुभव बताया।

इस बात-चीत ने उस सोये हुए आदमी को जगा दिया। उसने करवट बदली और चौंक कर बैठ गया। अपने पास चार आदमियों को खड़ा देख कर उसको कुछ संकोच भी हुआ। सबको उसने ध्यान से देखा; किसी के भी नेत्रों में शत्रुता न थी। दूदाजी की भव्य आकृति और उनके तिलक को देखकर उसने नमस्कार किया।

'आप कहाँ जाएँगे?' युवक ने पूछा।

'जाना तो चित्तौड़ है', दूदाजी ने कहा।

'चित्तौड़?...किस काम के लिये?...भले जायँ! रास्ता इसी ओर है।'

'जाने के पहिले मैं आपका भी परिचय पूछूँ?' दूदाजी ने प्रश्न किया।

'मेरा?...मैं तो एक राजपूत हूँ......'

'यह तो मैं समझ गया....अधिक परिचय दें, तो अच्छा हो।'

'अधिक क्या परिचय दूँ?....इतना पर्याप्त होगा कि मैं राजपूत हूँ.... तलवार के सहारे जीता हूँ...नाम बिना का...घर-बार बिना का हूँ....जो मुझे क़ीमत दे, उसके हाथ अपनी तलवार बेचता हूँ.......'

'मेरे साथ चलोगे ? मुझे तलवार की आवश्यकता है ?'

दूदाजी को ध्यान से देखकर युवक ने कहा ।

'आपका परिचय पूछने की धृष्टता करूँ ?...आप मेड़तिया दूदाजी तो नहीं ?'

'मुझे कैसे पहिचाना ?'

'एक बार जिसने राजस्थान में पैर रखा, वह आपको न पहिचाने, यह हो नहीं सकता ।'

'मैं ही दूदाजी मेड़तिया हूँ । अब अपना परिचय दें ।'

'मेरा परिचय न मांगें....वही अच्छा है ।'

'क्यों ?'

'मैं ठीक कहता हूँ, रावजी ! आप बड़े हैं...मैं आपको नमन करता हूँ....बस, यहीं तक रहने दें....'

'परन्तु यदि मैं आपको पहिचान गया होऊं तो ?' हँसकर दूदाजी ने कहा ।

'तो...आप कदाचित् मुझे पकड़ने आये हों...यदि मुझे पहिचाना हो तो....ऐसा कोई कार्य न करें, जिससे आपके विरुद्ध मुझे तलवार उठानी पड़े...आपके प्रदेश में तो मैंने पाँव भी नहीं रखा है ।'

'राजपूत के लिए क्या यह उचित है कि वह बात-बात में तलवार उठा ले ?'

'यदि कोई घेर कर मुझे पकड़ने का प्रयत्न करे, तो मेरे लिये दूसरा कौन-सा मार्ग है ?' अपने शस्त्र को संभालकर उठ खड़े होनेवाले युवक ने प्रत्युत्तर दिया ।

'मैं तुम्हें क्यों पकड़ूं ?'

'मुझे पहिचानने के कारण !'

'मैंने तो तुमको एक ही रूप में पहिचाना है...तुम कोई महान राजा....छत्रपति बनने के लिए पैदा हुए हो ।'

'किसी राजपूत के भाग्य में छत्रपति बनना लिखा नहीं है, यह स्थान तो इस्लाम के किसी अनुयायी के ही भाग्य में होगा...मैं तो एक लुटेरा हूँ....आप यह जानते हैं ।'

'आप लुटेरे हैं ? मैंने तो आज आपके मस्तक पर नाग-फन का छत्र देखा....भले ही आप लुटेरे क्यों न हों !'

'मेरे सिर पर नाग-छत्र ? कौन कहता है ?'

'हम चारों आदमियों ने देखा है।'

'कब ?'

'अभी ही...हम वही देख रहे थे....'

'रावजी ! आपकी बात को मैं काट नहीं सकता...आपका आशीर्वाद मुझे प्राप्त हुआ....अब जाने की आज्ञा दें।'

'आप कहाँ जायँगे ?'

'लुटेरा कहाँ जायगा ? जहाँ रात पड़ी, वहीं सो रहेगा।'

'हमारी भी यही दशा है। कहें तो रात आपके साथ ही रहें।'

'लुटेरे के साथ ?'

'लुटेरा ही सच्ची मेहमानदारी करता है...और आप तो राजपूत हैं न ?'

'पधारें, रावजी !...मेरे साथ। भाई ! थोड़ा दूध हमारी गुफा में भेज देना ?' कहते हुए उस युवक ने थोड़ी दूर पर खड़े हुए एक ग्वाले की ओर देखा।

ग्वाला गायों के झुंड की ओर गया, और तीनों अश्वारोही घोड़ों पर से नीचे उतरकर उस लुटेरे के साथ-साथ चलने लगे।

'आप घोड़े से क्यों उतर रहे हैं ?' लुटेरे ने शिष्टाचारवश पूछा।

'जिसके हम मेहमान हैं, उसके साथ चलना उचित है।' दूदाजी ने कहा।

'नहीं नहीं, मुझे तो चलने की...दौड़ने की आदत पड़ गई है।'

'हम लोगों को भी चलने का अभ्यास है। पालकी में या घोड़े पर बैठकर पाँवों को बेकाम बनानेवाला राजस्थान में रह नहीं सकता।'

'रावजी ! आपके हृदय में राजस्थान के लिए बहुत भक्ति-भाव देख पड़ता है।'

'इसमें क्या आश्चर्य ? राजस्थान तो भारत का हृदय है।'

'यह हृदय-प्रदेश तो अब बालुकामय मरुभूमि बन गया है!' तिरस्कार-युक्त हास्य करते हुए लुटेरे ने कहा।

'गंगा-यमुना पास में ही हैं। उनकी धारा को मोड़ लाओ; मरुभूमि न रहेगी!'

'हाँ, ठीक है। परन्तु किसी ने आजतक इस काम को किया है? किस भरोसे हम और आप इस काम का बीड़ा उठावें? राजस्थान तो मरुभूमि ही रहेगा।'

'इस प्रकार सोचने का कारण?'

'कारण यह कि राजस्थान रण-भूमि है, मरुभूमि है। भाई का हाथ भाई के ऊपर तलवार चलाते समय रुकता नहीं।'

'याद करो बापा रावल को...भीमदेव और पद्मिनी को...कुंभा-राणा को!...'

'रावजी! आप तो अनुभवी हैं....आपको तो मालूम ही है कि कुंभा-राणा को मारनेवाला उसका ही पुत्र था!'

'वे तो भक्तराज थे। जीना भी जानते थे, और मरना भी! कैसे मरा जाता है यह भी जानना चाहिये।'

'उस वंश के संस्कार-बल पर आप यहाँ गंगा-यमुना को खींच ले आना चाहते हैं?'

'तो...क्या आपके हृदय में सिसोदिया वंश के प्रति कोई वैर-भाव है?' यकायक दूदाजी के मुख से निकल गया। चलते-चलते क्षणभर रुककर उन्होंने लुटेरे की ओर ध्यान से देखा। लुटेरे ने मुख घुमा लिया। अँधेरा होने लगा था। पहाड़ियाँ निकट आ गई थीं, और अन्धकार की गहनता को बढ़ा रही थीं। सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था, और बस्ती के चिन्ह कहीं दिखाई नहीं पड़ते थे। मुख घुमाकर उस लुटेरे ने कहा:

'मुझे तो सारी मानव-जाति से वैर है...प्रभु ने शेर, भालू, सिंह और सर्प का मिश्रण कर मानव को बनाया है!'

दूदाजी ठहाका लगाकर हँस पड़े। पहाड़ियों में उनके हास्य की प्रतिध्वनि गूँज गई। हँसते-हँसते उन्होंने पूछा:

'तो...इसका यह अर्थ कि आज की रात हम सुरक्षित नहीं हैं।'

'मेहमानों को मारने जितनी क्रूरता अभी तक मुझमें आई नहीं.... इच्छा करने पर भी....तिसपर आपको तो मैं पहिचानता हूँ...मुझको फँसाने न आये होंगे, तो आप पूर्ण सुरक्षित हैं।'

'आपको ऐसा लगता है कि मैं फँसाने आया हूँ? यदि ऐसा लगता हो, तो मैं यहीं से लौट जाऊँ।'

'मेहमान का आतिथ्य-सत्कार किये विना अपने द्वार से कभी मैं जाने नहीं देता,....चाहे कोई दुश्मन ही मेहमान बनकर मेरे घर क्यों न आया हो!'

'तब तो जब तक आप अपना परिचय न देंगे, तब तक मेरे पैर उठ नहीं सकते।' कहते हुए दूदाजी वहीं खड़े हो गये। तेजल और विजल भी सचेत बनकर उन दोनों को देखने लगे।

'मैंने आपको पहिले ही कह दिया कि मैं एक लुटेरा हूँ। आपके प्रदेश का मैंने स्पर्श नहीं किया। चित्तौड़ पर भी मैंने कोई प्रहार नहीं किया। और जोधपुर में भी डाका डालने की मेरी इच्छा नहीं....परन्तु हूँ तो मैं लुटेरा ही....मेरा इतना परिचय पर्याप्त होगा।'

'आप....करमचन्द परमार तो नहीं?...श्रीनगरवाले?'

'नहीं जी, मैं करमचन्द नहीं, परन्तु उसका सहकारी अवश्य हूँ। उसकी लूट में मेरा मुख्य भाग रहता है। गुजरात से दिल्ली तक दम दोनों ने मिलकर आफ़त मचा दी है...इससे अधिक परिचय की आवश्यकता है?'

करमचन्द परमार एक भयंकर लुटेरा था। राजनीतिक दाँव-पेंच ने अनेक वीरों को लुटेरा बनाया है और अनेक लुटेरों को वीरत्व प्रदान किया है। करमचन्द की वीरता प्रसिद्ध थी; साथ ही अपनी क्रूरता के लिए भी वह मशहूर था। इतना होने पर भी उसने एक नियम बना लिया था— मेवाड़-मारवाड़ को कभी लूटना नहीं! इस नियम के कारण ये दोनों प्रदेश उसको अपना शत्रु नहीं मानते थे।

'करमचंद तो कभी इस ओर आता नहीं, यदि आप उसके सहकारी हैं, तो इस दिशा में क्यों आये?' दूदाजी की प्रश्न-परंपरा और सीधे चित्तौड़

न जाकर कुड़की होकर इस लम्बे और अज्ञात-मार्ग को ग्रहण करने के पीछे कोई रहस्य अवश्य है, और उसी के कारण वे अपने कार्यक्रम में फेरफार करते जाते हैं, यह बात दूदाजी के साथियों की समझ में आने लगी ।

'मेरी पत्नी यहाँ रहती है । उसको मैं यहीं रखता हूँ...और मैं तो जी चाहे वहाँ घूमा करता हूँ ।'

'पत्नी ? आपकी पत्नी भी है ?'

'हाँ जी, संसार में जब मेरा कोई न था, उस समय इस लुटेरे करमचंद ने मुझे आश्रय दिया, आश्वासन दिया, और पत्नी भी दी ।'

'उसे भी कहीं से लूट लाया होगा ?' सहज हँसकर तेजल ने कहा। बहुत देर से मूक रहनेवाले इस युवक के मुख से बरबस ये शब्द निकल पड़े ।

दूदाजी ने कड़ी आँखों से तेजल की ओर देखा। लुटेरे की आँख भी तन गई । इन शब्दों को कहनेवाला यदि मेहमान न होता तो आज तलवारें चल गई होतीं । कुछ क्षण बाद लुटेरे ने अपने क्रोध का शमन करके कहा:

'इसकी तो खबर नहीं, लूट में कदाचित् पत्नी मिल जाय, पुत्री नहीं ! करमचंद ने अपनी पुत्री मुझे पत्नीरूप में दी है ।'

एक लुटेरे ने एक निराश्रित को आश्रय दिया, काम दिया और अपनी पुत्री लग्न में दी ! मानवता मर गई है, यह कैसे कहा जाय !

'तो आप अब अपने कुटुम्बी-जनों के पास जायँ। हम इसमें बाधक होना नहीं चाहते । हम लौट जायँगे ।' दूदाजी ने कहा ।

'नहीं नहीं, रावजी ! यह हो नहीं सकता । अपने द्वार पर आये हुए मेहमानों का सत्कार किये बिना मैं अन्दर जा नहीं सकता । आप पधारें !' कहकर लुटेरे ने दूदाजी को हाथ पकड़कर आदरसहित आगे किया । कुछ ऊँचाई चढ़ने पर एक गुफा-द्वार दीख पड़ा । लुटेरे ने विचित्र प्रकार से द्वार को खटखटाया । तुरन्त द्वार खुल गया, और हाथ में छोटा-सा दीपक लेकर एक सुन्दर शिशु आगे आया । दूदाजी कुछ क्षणों तक उस बालक को देखते रहे ।

'राव के पैर छुओ', लुटेरे ने कहा ।

दीपक नीचे रखकर बालक ने दूदाजी का चरणस्पर्श किया। दूदाजी ने उसके मस्तक पर हाथ रखकर कहा—

'बड़ा ही सुन्दर बालक है ! किसका है ?'

'प्रभु का !'

दूदाजी के नेत्र लुटेरे की ओर गये। एक क्रूर लुटेरे और उसके बालक में ऐसे संस्कार हो नहीं सकते।

'प्रभु का पुत्र हो तो......लूट के धंधे में इसे मत लगाना', दूदाजी ने कहा। लुटेरा हंस पड़ा।

'यदि दूसरा काम मिल जायगा, तो इसे अपने धंधे में न लगाऊँगा।'

'इस बालक को मुझे सौंप दो; मैं इसे अपना धंधा सिखाऊँगा।'

'आप इसे भक्त बना देंगे...और कदाचित् इसे तलवार की आवश्यकता पड़ी तब ?'

'अभी तलवार को मैं पूर्णरूप से भूला नहीं हूँ...अभी प्रभु की यह इच्छा दिखाई नहीं पड़ती कि हम तलवार को तोड़कर बैठ जायँ....ऐसा ज़रा भी संशय मन में न आने देना कि तुम्हारे बालक को मैं भजन गाने वाला भिखारी बना दूंगा', दूदाजी ने कहा।

गुफा को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता था कि पत्थरों को काटकर उसके भीतर रहने योग्य एक गृह का निर्माण किया गया है। भीतर जाते ही दूदाजी ने एक सुन्दर युवती को खड़ी हुई देखा, जिसको देखकर उनको थोड़ा आश्चर्य हुआ।

'मेड़तिया राव आज हम लोगों के मेहमान बनकर आये हैं', लुटेरे ने कहा।

'हमारे अहोभाग्य ! राव जी को मेरे नमस्कार', कहती हुई वह युवती दूदाजी का चरण स्पर्श कर एक कक्ष में अदृश्य हो गई। लुटेरे ने दीपक हाथ में लेकर दूदाजी को एक दूसरे कक्ष में स्थान दिया। घोड़ों को बाँधकर तेजल और विजल भी उनके पीछे निर्दिष्ट गुफा-खण्ड में आ गये। वहाँ एक खाट बिछाई हुई थी, और दूसरी ओर घास को व्यवस्थित रखकर उस पर चटाइयाँ बिछाई हुई थीं।

'राव ! मुझे इस बात का बड़ा दुख होता है कि आपको इससे अधिक सुविधा वाला स्थान नहीं दे सकता।' लुटेरे ने विनीत भाव से कहा, और तीनों मेहमानों को वहीं अकेले छोड़कर वह चला गया।

थोड़ी देर तक दूदाजी ने ध्यान से उस स्थान का निरीक्षण किया। फिर सोचने लगे कि यह लुटेरा परमार करमचन्द तो हो नहीं सकता, करमचन्द को वे कुछ-कुछ पहचानते थे। वह वय में भी बड़ा था। वह करमचन्द नहीं तो कौन था ? अपना नाम वह अभी तक क्यों नहीं बताता ? यह स्थान लुटेरों के रहने योग्य अवश्य था, परन्तु यहाँ लूट के कोई साधन नहीं दीख पड़ते थे। अपितु यह किसी गृहस्थ का घर जैसा लगता था। लुटेरों को स्त्रियों का शौक अवश्य होता है, परन्तु यहाँ तो एक ही स्त्री थी, और वह भी एक प्रख्यात डाकू की लड़की ! इस लड़की का रहन-सहन एक सुशीला गृह-पत्नी जैसा था। पर्वतों की गुफाएँ ऐसे अनेक लुटेरों को छिपकर रहने का आश्रय दें, यह संभावित था। पर्वतों के गर्भ में न जाने कितने ज्वालामुखी छिपे पड़े होंगे ? राजस्थान के राजवंश पारस्परिक वैर को त्याग एक दूसरे की सहायता के लिये तत्पर बनें, अपने देश में सुव्यवस्था स्थापित करें, और चारों ओर से होने वाले आक्रमण को रोक दें, तो राजस्थान ही नहीं, सारे भारतवर्ष की स्वतन्त्रता जीवित रहे। राजस्थान के चारों ओर भगवान श्रीकृष्ण के चक्रव्यूह की रचना हो तो ? सुदर्शनचक्र ! प्रभु सरीखे रक्षण करने वाले को भी चक्रधारण करना पड़ता है....परन्तु प्रभु का चक्र वह भी सुदर्शन दर्शनीय ! राजस्थान के चक्र और शस्त्र भी सुन्दर नहीं। जहाँ पिता और पुत्र में स्नेह न हो। वहाँ प्रभु का चक्र आकर कैसे रक्षण करे ?

'रावजी ! आपके लिये स्नान-संध्या की सब तैयारी हो गई है, आप पधारें।' करीब पाँच वर्ष के उस बालक ने आकर दूदाजी से कहा। इस लुटेरे के कुटुम्ब को कैसे पता लगा कि दूदाजी बराबर त्रिकाल सन्ध्या और पूजन किया करते हैं ? उनकी आस्तिकता और भक्तों की-सी जीवन परिपाटी से राजस्थान में बहुत से लोग परिचित थे। परन्तु उसके लिए एक लुटेरे का कुटुम्ब इतना सूक्ष्म खयाल रखे, यह आश्चर्य का विषय था।

'चलो बेटा ! मैं आता हूँ...तुम्हारा नाम क्या है ?' स्नान करने की तैयारी करते हुए दूदाजी ने पूछा ।

'मेरा नाम भोज है ।'

'और तुम्हारे पिता का नाम ?'

'उस नाम को बताने की मनाही है, रावजी !'

'यदि मनाही है, तो उस नाम को बताना नहीं...चाहे कितना ही कोई लालच क्यों न दे !' दूदाजी ने प्रसन्न होकर कहा । लुटेरे के विषय में जो थोड़ी-बहुत शंका थी, वह भी जाती रही । यद्यपि तेजल और विजल पूर्ण रीति से सतर्क थे । जिसने मृत्यु का भय त्याग दिया, उसको विशेष सावधानी या सतर्कता की आवश्यकता नहीं रहती । दूदाजी ने अपने नित्य-कर्म समाप्त किये । तत्पश्चात् सब लोग रात्रि के भोजन के लिए बैठे । भोजन यद्यपि सामान्य था, तथापि स्वच्छ और स्वादिष्ट था, और परोसती जाती थी लुटेरे की पत्नी । दूदाजी ने आंखें बन्द करके भोजन सामग्री का प्रभु को भोग लगाया । लुटेरे को यह क्रिया अर्थहीन लगी, और तेजल तथा विजल को भी यह कार्य भ्रमात्मक अंधश्रद्धा का परिणाम लगा । परन्तु दूदाजी का तो यह विश्वास था कि उनके प्रभु ने प्रत्यक्ष आकर भोजन को स्वीकारा और उसे अधिक पवित्र तथा स्वादिष्ट बनाया । जीवन में वास्तविक सत्य है क्या ? हमारी भावना, अथवा जो केवल दृष्टिगम्य हो ?

भोजन-कार्य चल रहा था, इतने में ही एक गुप्त द्वार से एक शस्त्र-सज्जित मनुष्य अन्दर आया और उसने नमन करके लुटेरे से कहा :

'सौराष्ट्र के बंजारों की एक टोली कुंभलमेर की ओर जा रही है ।'

'पूछने क्या आये ? उनके पास जो हो, सब ले लो ।' लुटेरे ने कहा ।

'परन्तु...उनके पास व्यापारियों का माल नहीं है ।'

'किसका है ? किसी राज्य का ?'

'सौराष्ट्र की महारानी का...स्त्रियों को तो हम लोग लूटते नहीं ।'

'अच्छा ! ...ठीक है...क्या क्या माल है ?'

'भगवान के मन्दिर में बाँधने का सामान...साथ में गुजराती कारीगर भी हैं ।'

'बंजारों को जाने दो। स्त्रियों को तो हम लूटते ही नहीं। तिसमें आज हमारे यहाँ भगवान के भक्त मेहमान होकर पधारे हैं। इसके उपलक्ष्य में धर्मकार्य में लगने वाला माल भी हमारी लूट के दायरे से बाहर होगा।'

वह शस्त्रधारी मनुष्य जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से लौट गया, भोजन-कार्य आगे चला। नन्हा बालक भोज मेहमानों को परोसने में बड़े चाव से अपनी माता की मदद कर रहा था। भोजन समाप्त होने पर प्रसन्न हो कर दूदाजी ने कहा :

'आज तो भोज के रूप में मानों बाल-कृष्ण ने मुझे भोजन कराया! बेटा! मेरी ओर से प्रभु के प्रसाद रूप इसको अपने पास रखो', कहते हुए वह अपने गले में से एक सुन्दर सोने की सिकड़ी उतार कर भोज को पहिनाने लगे। चपल बालक अपने पिता की ओर देखने लगा। लुटेरे ने कहा :

'रावजी! सोना कब से प्रभु का प्रसाद बना? इसमें तो कलिकाल का आवास है न?'

'देखो भाई! गोवर्धनधारी प्रभु के दर्शन करो! जहाँ प्रभु विराजमान हों, वहाँ कलि भी प्रभुमय बन जाता है! और...मुझे तो जो भी मिल जाता है, उसको मैं प्रभु-चरण में अर्पण करता हूँ....वह सोना हो या जस्ते का टुकड़ा!' कहकर दूदाजी ने सिकड़ी के मध्यभाग में लटकते हुए लोलक को बताया, जिसमें गिरिराज धारण करने वाले कृष्ण का सुन्दर चित्र मढ़ा हुआ था।

'ले लो भोज!...परमभक्त का यह प्रसाद है। हमारे सुख-दुःख में काम आयेगा।'

दूदाजी ने बड़े स्नेह से वह सिकड़ी भोज को पहिना दी। पहिनाते ही वे बोल उठे :

'भोज गोरा है; ज़रा श्याम रंग का होता तो ठीक कृष्ण जैसा लगता।'

रात सब लोगों ने गुफागृह में ही काटी। यद्यपि अविश्वास का कोई कारण न था, तथापि विजल और तेजल बराबर एक के बाद एक रात्रि में जागते रहे। दूदाजी के लिए तो जागते या सोते हुए एक ही कार्य था :

दृश्यमान संसार को आँखों से देखना, और उस संसार में प्रभु की लीला के दर्शन करना। रात्रि बीत गयी, और दूदाजी ने भागवत-वर्णित प्रार्थना से प्रभात का सत्कार किया :

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यम् ।
गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ॥
मनोग्रयानं वचसा निरुक्तम् ।
नमाम हे देववरं वरेण्यम् ॥

तीनों मेहमान जल्दी से स्नानादि कर्म से निवृत्त होकर जाने के लिये तैयार हो गये। लुटेरे के परिवार ने उनको कुछ समय और ठहरने का आग्रह किया। परन्तु दूदाजी ने अत्यावश्यक काम का कारण बताकर विदा होने का ही निर्णय किया। गुफा में से बाहर निकल कर घोड़ों के साथ पहाड़ी के ऊपर से नीचे उतरते समय उन्होंने कहा :

'मैं चित्तौड़ जा रहा हूँ।'

'जी, आपने कल कहा था।'

'चित्तौड़ का नाम सुनकर आपके हृदय में कोई लहर नहीं उठती ?'

'लहर ! मेरे कलेजे में लहर क्यों उठे ...चित्तौड़ के नाम से ? मेरे लिये तो सभी भूमि बराबर है।'

'ऐसा क्यों ? आप राजपूत तो हैं ?'

'जी ! मैं उस जाति का सदस्य अवश्य हूँ ?'

'यदि आप राजपूत हैं, तो चित्तौड़ के नाम से आपका हृदय नाचने लगना चाहिये।'

'होता तो ऐसा ही है...चित्तौड़ को नाचने-नचाने की पुरानी आदत है...विशेषता इतनी ही है कि उसका नृत्य अग्नि-नृत्य होता है।'

'चित्तौड़ को यदि शान्ति का नृत्य सिखाना हो, तो चलिये मेरे साथ !'

'मुझे कहते हैं ? मुझे...एक लुटेरे को ?' जरा चकित होकर लुटेरे ने पूछा।

'जी हाँ, आप ही को।'

'क्यों ?'

'क्योंकि आप चित्तौड़ के ही हैं।'

'किस प्रकार ?'

'आप लुटेरे हैं, यह बात यदि हम भूल जायँ तो आपको पहचानने में देर न लगेगी।'

'उसे मैं कैसे भूलूँ?'

'मैं तो भूल गया हूँ कि आप लुटेरे हैं।'

'इसका अर्थ?...क्या आप मुझे पहिचानते हैं?' आश्चर्य प्रकट करते हुए लुटेरे ने पूछा।

'हाँ।'

'तब बताइये कि मैं कौन हूँ?'

'आप चित्तौड़ की गद्दी के उत्तराधिकारी हैं—रायमलजी के पुत्र... आप ही संग्रामसिंह हैं!...' दूदाजी ने दृढ़तापूर्वक कहा।

'आपको भूल तो नहीं हो रही है?'

'भूल शायद हो गई होती, यदि नाग ने आपके ऊपर फन से छत्र न किया होता। सुनिये, कुमार! मैं रायमल के आमन्त्रण पर जा रहा हूँ। वे आपको खोज रहे हैं! आप मिले, यह प्रभु का ही संकेत है…।'

'परन्तु रावजी! मैं संग्राम नहीं हूँ, मुझे चित्तौड़ के साथ कुछ लेना-देना नहीं है...।'

'प्रभु को साक्षी रखकर यह कह रहे हैं आप?'

'प्रभु जब साक्षी बनकर आयेंगे, तब की बात, तब।....'

'तब मेरी एक विनती सुनिये! प्रभु मुझे कब से कह रहे हैं...इस समय भी कहते हैं कि आप ही रायमल के पुत्र संग्रामसिंह हैं! चित्तौड़ यदि आपको बुलाये, तो आप 'ना' न कहें।'

'जब आप किसी प्रकार मेरा पता पा ही गये हैं, तब छिपाने से कोई लाभ नहीं। मैं ही संग्राम हूँ....रायमल जी का पुत्र! जिस नगर में से मेरे सगे भाइयों ने मुझे निकाल दिया, उस नगर में पुनः जाने के लिए मेरे पैर उठते नहीं।' ज़रा क्रुद्ध होकर लुटेरे ने कहा।

'कुमार! आपके दोनों भाई गये, राणाजी जाने की तैयारी में हैं। चित्तौड़ और राजस्थान की रक्षा अब आपके ही हाथ में हैं।....आप मेरे साथ आयें...अथवा...' संग्राम की आँखों से अपनी बेधक आँखें मिलाकर

गंभीर मुद्रा से मन्द स्वर में परन्तु दृढ़तापूर्वक दूदाजी ने अपना आग्रह कायम रखा।

'चलिये मैं साथ ही चल रहा हूँ', यकायक संग्राम के मुख से शब्द निकले। उसने विशेष प्रकार की एक ताली बजाकर पास ही में छिपे हुए अपने एक साथी को बुलाया और कहा :

'मैं रावजी के साथ इसी समय चित्तौड़ जा रहा हूँ। मेरा घोड़ा तैयार करो।'

दूदाजी ने आश्चर्य से संग्राम की ओर देखा।

'इतनी जल्दी ?...तैयारी बिना, आपको चलना पड़ रहा हो, तो मैं ठहर जाऊँ !' दूदाजी ने कहा। वे ठहर गये। यह लुटेरा संग्राम सिंह ही था, यह बात पक्की हो गई। चित्तौड़ लौटने में अब कोई रुकावट न थी। संग्राम के दोनों भाई मर चुके थे। राणा रायमल का दीर्घ राज्य-काल पुत्रों के पारस्परिक कलह के कारण बड़ा ही क्लेशमय बन गया था। संग्राम को खोजकर उसे चित्तौड़ वापस ले आने की इच्छा से रायमल ने अपने राठौड़ी मित्र दूदाजी को अपने पास बुलाया था। मार्ग में दूदाजी को पता लग गया था कि संग्राम लूट-फाट मचाता हुआ इस समय इधर ही आया हुआ है। अत: सीधा मार्ग छोड़ वे कुड़की ग्राम गये, और वहाँ अपनी पौत्री का जन्मोत्सव मनाकर वे लुटेरे के निवास-स्थान की ओर आये। संयोग से जिसको खोजने निकले थे, वह स्वयं मिल गया। इतना ही नहीं उसको समझा-बुझाकर चित्तौड़ वापस ले लाने में भी वे सफल हुए। संग्राम को विदा देने के लिए कुछ दूर तक भोज साथ में आया। बड़ा होकर भी यह बालक ऐसा ही सुन्दर और सुशील रहे, तो अपनी पौत्री मीरा का विवाह उसके साथ कर दूंगा, इस प्रकार विचार करते हुए दूदाजी आगे बढ़े। मार्ग में संग्राम ने दूदाजी से पूछा :

'मुझे आपने इतने निश्चितरूप से कैसे पहिचाना ?'

'यह सूचना मुझे मेरे प्रभु ने दी कुमार ! प्रभु से प्राप्त सूचना मिथ्या नहीं होती।'

वर्षों से पृथक् रहने वाले पिता-पुत्र का मिलन कराकर वृद्ध रायमल का अन्तिम समय दूदाजी ने सुखमय बनाया। सारे राजस्थान में उनके प्रति श्रद्धा और आनन्द की एक लहर दौड़ गयी।

~ ३ ~

संग्रामसिंह के चित्तौड़ में वापस आने पर वृद्ध रायमलजी ने सारी राज्यव्यवस्था उसके हाथ में सौंप दी। चपल और तेजस्वी संग्राम ने मेवाड़ के शासन-कार्य को संभाल लिया, और देखते ही देखते राज्य में सर्वत्र शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित कर दी। राजस्थान में पुनः मेवाड़ की प्रतिष्ठा और धाक जमने लगी। इतना ही नहीं, मेवाड़ का गौरव राजस्थान के बाहर भी फैलने लगा। दूदाजी के दोनों पुत्र विरमदेव और रत्नसिंह संग्राम के मित्र बन गये थे, और अधिकांश समय वे चित्तौड़ में ही रहा करते। ये दोनों राठौड़ वीर संग्रामसिंह के साथ रहकर उसकी योजनाओं को सफल बनाने में सर्वदा मदद किया करते थे। दूदाजी मेड़ता रहकर अपनी जागीर की व्यवस्था किया करते थे। आवश्यकता पड़ने पर रायमल अथवा संग्राम कभी-कभी उनको चित्तौड़ बुलाते, और उनसे परामर्श कर अपनी उलझन सुलझाते थे। घर पर दूदाजी का सारा समय प्रभु सेवा में, तथा विरम के पुत्र जयमल और रत्नसिंह की पुत्री मीरां को खिलाने में—या यों कहा जाय कि पाल-पोसकर बड़ा करने में व्यतीत होता था।

जयमल नन्हा भाई और मीरां नन्हीं बहिन! एक दूसरे को वे सगे भाई-बहिन-सा प्यार करते। उनको कभी इस बात का आभास भी न होता कि वे चाचा की सन्तान हैं। साथ-साथ बड़े होने वाले बच्चों को संबन्ध की सूक्ष्मता कभी दिखाई नहीं पड़ती। ये दोनों बच्चे दूदाजी के साथ ही प्रातःकाल जल्दी उठ जाते, स्नान करते, प्रभु की सेवा में अपने दादा को मदद देते, प्रभु को नैवेद्य लगाने के बाद ही भोजन करते, और सोने के पहिले दूदाजी से भगवान की कोई न कोई कहानी अवश्य सुनते। तीन-तीन चार-चार वर्ष के इन दोनों बच्चों को खेल में भी भगवान की—कृष्ण की लीला ही प्रिय लगती।

'दादाजी! भगवान का चन्दन आज मैं घिसकर दूँगी, कल जयमल देगा,' छोटी-सी मीरां दादाजी से प्रभु-कार्य के वितरण की बात करती।

'तब आरती के समय आज घंटी मैं बजाऊँगा, कल मीरां,' नन्हा-सा जयमल घंटी बजाने की व्यवस्था समझाता।

देव-सेवा में साथ रहकर ये दोनों बच्चे दादा की सेवा को पूर्ण और आनन्दमयी बनाते थे। धूप-दीप और अगर-चन्दन की सुवास प्रभु-सेवा में अपूर्व रस ला देते हैं। पुष्पपरिमल के कारण देव मन्दिर का वातावरण बगीचे से भी अधिक सुवासित और आल्हादकारक बन जाता है। स्तोत्र-पाठ, गीत और कीर्तन प्रभु के प्रति एकाग्रता को बढ़ाते हैं। इन सब बातों का अनुभव दूदाजी को नित्य होता। परन्तु इन अबोध बच्चों का सान्निध्य प्रभु-पूजन के आनन्द को अधिक तीव्र बनाता था, ऐसा आभास धीरे-धीरे दूदाजी को होने लगा। बालकों की उपस्थिति में मानों धूप-दीप अधिक तेजस्वी बन जाते थे, और चन्दन तथा पुष्प-परिमल की सुवास में आश्चर्य-कारक माधुर्य का आवास हो जाता था। भगवान को नैवेद्य लगाने के बाद शर्कराखण्ड दूदाजी के मुख में न जाकर बालकों के मुख में जाते।

'मीरां कहाँ गयी?' आँख बन्द करके छोटे-से शर्कराखण्ड का नैवेद्य भगवान को लगाकर पुलकित होने वाले दूदाजी कभी कभी पूछा करते।

'यहाँ हूँ, दादाजी! भगवान का मोरपंख देख रही हूँ।' भगवान की मूर्ति के मुकुट पर लहराने वाले मोरपंख को चाव से देखती हुई मीरां उत्तर देती।

'यह प्रसाद ले, बेटी!'

'प्रभु को नैवेद्य लगाया?'

'हाँ, बेटी! तुमने देखा नहीं?'

'जयमल को प्रसाद दिया?'

'तुम ले लो, इसके बाद जयमल को दूंगा।'

'आज पहिले मुझे दे रहे हैं; कल पहिले जयमल को देना, दादाजी!' मीरां का उत्तर सुनकर दूदाजी गंभीर बन जाते, और बड़े प्रेम से दोनों बच्चों के मुख अथवा हाथ में प्रसाद रखकर एकाध कण स्वयं भी ले लेते।

कभी-कभी पूजन-अर्चन के समय ये बालक दूदाजी से बड़े विचित्र प्रश्न पूछा करते :

'दादाजी ! चन्दन के साथ केसर क्यों घिसा जाता है ?' मीरां पूछती।

'चन्दन का रंग बदल जाय, और प्रभु का चन्दन सुन्दर केसरी रंग धारण करे। केसर से चन्दन का रंग कैसा खिल जाता है ! भगवान को जो वस्तु अर्पण करनी, वह अच्छी से अच्छी होनी चाहिए।' दूदाजी उत्तर देते।

'प्रभु को चन्दन क्यों लगाना ?' कभी जयमल प्रश्न करता।

'देखो, बेटा ! चन्दन की सुगन्ध और शीतलता प्रभु को बहुत प्रिय लगती है।'

'ऐसा क्यों ?'

'तुम को किस तरह समझाऊँ ? अच्छा, देखो जयमल ! प्रभु को अच्छी से अच्छी वस्तु अर्पण करना चाहिये। चन्दन वृक्षराज है। उसको छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर सुखाया जाता है। ये टुकड़े पत्थर पर रगड़ने से घिसते जाते हैं। ज्यों ज्यों ये अधिक घिसते जाते हैं, त्यों त्यों इनकी सुवास बढ़ती जाती है। जितनी सुवास बढ़े उतना ही वह प्रभु के अर्पण की पात्रता प्राप्त करता है। प्रभु तक पहुँचने का—प्रभु को पाने का यही चन्दन-मार्ग है। बेटा ! एक श्लोक बताता हूँ, उसे आज याद कर लेना......याद करोगे न ?' कहकर दूदाजी ने भर्तृहरि का श्लोक कह सुनाया और बालकों को उसका अर्थ भी समझाया।

मूलं भुजंगैः शिखरं प्लवंगैः
शाखा विहंगैः कुसुमं च भृंगैः।
शीतं सदा चंदन पादपस्य
परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

'तो दादाजी ! भगवान को तो तुलसी भी चढ़ती है। तुलसी अच्छी या चन्दन ?' मीरां पूछती।

'दोनों अच्छे ! चन्दन भी आत्मसमर्पण से प्रभु के पास पहुँचता है। तुलसी ने भी आत्मसमर्पण द्वारा प्रभु को पाया है। रात को मैं तुमको

तुलसी की कथा सुनाऊँगा। पहिले जन्म में उसका नाम वृन्दा था, दूसरे जन्म में वह तुलसी बनी।' दूदाजी ने कहा।

'परन्तु दादाजी ! क्या आदमी मरने के बाद वृक्ष बन सकता है ?'

'आदमी जैसा कर्म करता है, वैसा उसे जन्म मिलता है।......प्रभु का स्पर्श करने वाले वृक्ष, प्रभु की सेवा से मुख मोड़ने वाले मनुष्य से कहीं अच्छे होते हैं ! ...अब आरती का समय हो गया, बेटा ! चलो आरती करें, और उसके बाद तुम खेलने जाओ।' दूदाजी हँसकर कहते, और उनको इस बात का भी विचार आता कि वय के अनुसार जितनी भक्ति की भावना इन छोटे बच्चों के मन में होनी चाहिये, उससे अधिक भक्ति की ओर वे उन्हें खींचे लिये जा रहे हैं।

इस भावना का असर इन बच्चों के खेल-कूद में भी दीख पड़ता। अपने इस निर्दोष-कार्य में उन्हें भगवान दिखाई पड़ते। वृक्ष पर तथा पहाड़ पर चढ़ते समय भी उन्हें भगवान का ही विचार आता।

'जयमल ! तुम तो पेड़ पर चढ़ गये; भगवान कैसे चढ़ते होंगे ?' मीरां प्रश्न करती।

'तुम ऊपर चढ़ो, इसके बाद मैं बताऊँगा कि भगवान कैसे चढ़ते होंगे... देखो, देखो, जब तुम पेड़ पर चढ़ती हो, तब बिलकुल भगवान जैसी लगती हो...', कहता हुआ जयमल पेड़ पर चढ़नेवाली मीरां को देखकर हँसने लगता। जयमल की भांति मीरां भी वृक्ष पर चपलता से चढ़ जाती और चढ़ कर भाई को धमकाती :

'बोलो, अगर धक्का मार कर तुम्हें नीचे गिरा दूँ, तो कैसा हो ?'

'भगवान अगर अपने भाई को गिरा देते हों, तो तुम भी मुझे गिराओ', जयमल ने उत्तर दिया।

'नहीं भाई ! ऐसा कहीं हो सकता है ? मैं अपने भाई को कभी गिरा सकती हूँ ?....परन्तु यदि मैं धक्का मारूँ भी, तो भगवान तुमको अवश्य बचा लेंगे।'

'अच्छा ! धक्का मार कर देखो। दादाजी कहा करते हैं कि भगवान

भक्तों को बचा लेते हैं। कपोत के बच्चों को, या मार्जारी के बच्चों को भगवान ने कैसे बचा लिया था ?'

'लेकिन भाई ! जो भक्त हो, उसे भगवान बचाते हैं। हम लोग भक्त थोड़े ही हैं ?'

'इस समय न हों, लेकिन बड़े होकर हम खूब भक्ति करेंगे।' खेलते-खेलते वृक्ष के ऊपर चढ़ कर वात-चीत में संलग्न बालकों को खोजकर कोई नौकर आकर बुला ले जाता।

कभी-कभी ये बच्चे गेंद और बल्ले का खेल खेलते। खेलने में और परिश्रम करने में मीरां जयमल से कम न थी। कितनी बार वह जयमल से आगे बढ़ जाती। मीरां गेंद को अपनी ओर खींचती, और जयमल उसे अपनी ओर ले जाने का प्रयत्न करता। गेंद दोनों के प्रहार को सहता हुआ इधर से उधर दौड़ा करता। बल्ले उछलते, टकराते, ज़मीन पर गिरते और कभी-कभी टूट भी जाते। भाई-बहन के हाथ-पैर में चोट भी लगती। परन्तु खेल में कोई रोता नहीं। राजपूत बालक और बालिका अपने मुख से भला सीत्कार भी कैसे निकाल सकते ? आपस में लड़ने की तो कल्पना भी नहीं हो सकती थी। कितनी बार भाई के विजय-प्रयत्नों को निष्फल बनाने वाली मीरां जब अपनी विजय का समय आता, तब यकायक विजय भाई को अर्पण कर देती। भाई भी कम उदार न था। ऐसे भी प्रसंग आते जब अनेक प्रकार से प्रयत्न करने पर भी मीरां हारने लगती, तब अनुकूल स्थिति में पहुँचा हुआ जयमल यकायक कोई ऐसी भूल कर बैठता, जिससे मीरां की पराजय विजय में परिणत हो जाती। विजय चाहे जिसकी भी हो; खेल से दोनों को आनन्द मिलता, और एक की विजय में दूसरे की विजय सन्निहित है, ऐसा मान कर दोनों खूब हँसते और प्रफुल्लित होते। जयमल और मीरां के बीच झगड़ा शायद ही कभी होता, और कभी होता भी तो क्षण दो क्षण से अधिक न चलता।

'गेंद इस प्रकार ग़लत क्यों फेंका ?' कभी मीरां पूछती।

'मेरी मर्ज़ी', जयमल उत्तर देता।

'देखो, मुझे जिताने के लिए ग़लत खेल मत खेलो।'

'मेरा भी तुमको यही उलाहना है।'

'ग़लत खेल के लिए कोई कारण होना चाहिये।'

'कारण कैसा ?'

'जैसा कारण जमुनाजी में गेंद फेंक देने का कृष्ण को था। जानते हो न ?'

'हां....क्यों नहीं ? कल रात में ही दादाजी ने यह कहानी कही थी।'

'कालीनाग को नाथना था भगवान को, इसलिए उस ओर गेंद को फेंका।'

'बहिन ! कालीनाग कितना बड़ा होगा ?'

'बहुत बड़ा ! याद है न वह चित्र जिसमें भगवान उसके फन पर खड़े होकर नाच रहे हैं ? उसमें वे कितने छोटे लगते हैं ?' मीरां की आँखों के सामने राजभवन में चित्रित कालियदमन का चित्र खड़ा हो गया।

'मुझे भी कालियनाग को नाथना है।'

'उसकी नथाई तो हो चुकी। नथाई के बाद वह भगवान का भक्त बन गया। यही कारण है कि सब सर्पों के मस्तक पर भगवान के चरणों की छाप रहती है', छोटी-सी मीरां ने अपना ज्ञान प्रदर्शित किया।

'नाग के माथे में मणि भी होती है। चलो, एकाध को पकड़कर उसकी मणि देखें।'

'हाँ चलो। भगवान का नाम लेंगे, तो नाग हमको काटेगा नहीं', कह कर बल्ले और गेंद को छोड़ वे नाग की शोध में निकल पड़ते। बगीचे में, बगीचे के बाहर और पास के वन-उपवन में ये देर तक भटकते, और चूहों तथा शशकों के अनेक बिलों में हाथ डालकर नाग को खोजते। अपनी निगरानी करने वाले नौकरों को वे दूर रखने की कोशिश करते।

'अकेले अकेले भटका करते हो ! कभी चोट लग जाय, या कोई जानवर काट ले तब ?' मीरां और जयमल की माताएँ कभी-कभी कड़ा उलाहना देतीं।

'परन्तु भगवान तो सर्वत्र हैं न ?' मीरां कहती।

'वह हमको अवश्य बचा लेंगे, मां !' स्वरक्षा की सारी बात जयमल एक छोटे-से वाक्य में समझा देता। अनुभवी माताओं को यह

बात पसन्द तो आती, परन्तु उसकी सार्थकता में पूरा विश्वास न होने से तुरन्त कहतीं :

'तब भी अपनी रक्षा तो स्वयं करनी ही चाहिए ?'

'दादाजी तो कहते हैं कि हमारी रक्षा प्रभु करता है', मीरां दादाजी के कथन को प्रमाण में रखती। समझदार माताएँ हँस पड़तीं और उत्तर देतीं :

'यह तो सच ही है; दादाजी जो कहते हैं वह कभी झूठ हो नहीं सकता। परन्तु अपने लिए भगवान को घड़ी-घड़ी कष्ट देना, यह कोई अच्छी बात है ? उन पर तो सारी सृष्टि की रक्षा का बोझ है। अपनी रक्षा यदि हम स्वयं कर लें, तो भगवान की कितनी मेहनत बच जाय ?'

बालक इस तर्क को मान तो लेते, परन्तु प्रभु उनका सहायक होकर बैठा है, यह भावना हृदय से जाती नहीं। भोजन करते समय दादाजी के साथ दोनों बालकों की प्रश्नोत्तरी सर्वदा चला करती। जिस प्रकार देव-सेवा में दोनों बालक दादाजी के साथ रहते, उसी प्रकार दादा के लिए दोनों बालकों की उपस्थिति आवश्यक रहती।

'दादाजी ! भगवान से हमें मेहनत न करानी चाहिए न ?' माता की दलील को परीक्षार्थ मीरां दादाजी के सामने रखती।

'नहीं, बेटा ! यह सवाल कैसे उठा ?' दादा पौत्री के मस्तक पर हाथ फेरते हुए पूछते।

'माँ कहती हैं, इसलिए।'

'तो तुम भगवान को कष्ट देने कहाँ गयीं थीं ?'

'मैं और जयमल नाग के माथे में जो मणि होती है, उसको खोजने निकले थे.......'

'क्या ? नाग के माथे की मणि ?...पगली ! ऐसा कभी करना नहीं।' चकित होकर दादाजी बोल उठे। सर्प और व्याघ्र से न डरनेवाले बालक किस वीर को प्रिय न लगेंगे ! परन्तु साथ ही अकारण उनको संकट में जाने देना भी तो ठीक नहीं।

'क्यों दादाजी ? ऐसा क्यों नहीं करना ?'

'बिचारे नाग की मणि को छीन लेना भी तो ठीक नहीं।'

'हम तो उसे भगवान के लिए ले आयेंगे। इसमें क्या हर्ज है ?'

'परायी वस्तु को छीनकर प्रभु को कभी चढ़ाना नहीं। मणि निकालने पर नाग को कितना दुःख होगा ? किसी का रुधिर, किसी के आँसू, किसी के निश्वास—चोरी की हुई, लूटी हुई या छीनी हुई किसी भी वस्तु को भगवान कभी स्वीकार नहीं करते।'

'किसी राक्षस के पास से छीनकर अगर कोई वस्तु प्रभु को चढ़ायें तो ?'

'अब राक्षस हैं कहाँ ?'

'दादाजी ! मुसलमान राक्षस हैं या नहीं ?'

'तुमको किसने कहा कि वे राक्षस हैं ? वे राक्षस नहीं हैं....वे तो मनुष्य हैं....फ़र्क़ इतना ही है कि वे दूसरे धर्म को माननेवाले हैं।'

'परन्तु हमको तो रोज़ उनसे लड़ना पड़ता है न ? दादाजी ! हमारे भगवान बड़े या मुसलमानों के ?'

'दोनों के भगवान यदि बड़े-छोटे होते, तो लड़कर उन्होंने कभी का फ़ैसला कर लिया होता। भगवान कभी लड़ते नहीं, लड़ते हैं हम मानव....अच्छा अब बात कम करो, और खाना खा लो। देखो, और लोगों का खाना तो पूरा होने आया !' हँसते-हँसते दूदाजी ने मीरां के विचार-प्रवाह को दूसरी ओर मोड़ दिया।

रात को सोने के पहिले जयमल या मीरां दोनों में से कोई भी दूदाजी को भगवान-सम्बन्धी एक कहानी कहने को विवश करते, और स्नेहमूर्ति दादा अपने अनेक महत्व के कार्यों में से समय निकाल कर रामायण, महाभारत अथवा भगवान का कोई न कोई प्रसंग इन बालकों को कह सुनाते।

'दादाजी ! फिर उस वृन्दा की कहानी को तो आपने सुनाया ही नहीं। आज उसी को सुनाइये।' मीरां ने कहा।

'हाँ, दादाजी ! आज तो उसी को सुनेंगे। जब-जब भगवान के प्रसाद पर तुलसीपत्र रखते हैं, तब-तब आपकी बात याद आती है।' जयमल ने मीरां के कथन की पुष्टि किया।

दूदाजी जानते थे कि भगवान सम्बन्धी सब बातें सब लोगों के सामने कहने योग्य नहीं होतीं। प्रत्येक मनुष्य को यह बात माननी पड़ेगी कि प्रभु

की लीला अगम्य और अकथ्य है, और उसको समझाना भी कठिन है। प्रत्येक आस्तिक भक्त को तो इस मान्यता में पूर्ण विश्वास रहता है। प्रभु की लीला को थोड़ी-बहुत समझने के लिए अधिकार की भी आवश्यकता पड़ती है। बालक, युवा और वृद्धों के भिन्न-भिन्न अधिकार होते हैं। बालकों को माखनचोर कृष्ण अथवा कालियनाग को नाथनेवाले मुरलीधर की कहानियों में रस मिलता है। गोपियों के रास अथवा चीर-हरण का प्रसंग, ये बालकों के अधिकार के बाहर के विषय हैं। युवाओं को उसमें से रस प्राप्त होता है, और वृद्धों को उनमें छिपी हुई आध्यात्मिक भावना स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इसलिए प्रभु के सम्बन्ध में जो बातें लिखी हुई हैं, उनको वैसे ही रूप में सब लोगों के सामने कहना उचित नहीं। अधिकार के अनुरूप बनाने के लिए उनका आमूल परिवर्तन आवश्यक नहीं, परन्तु किन वृत्तान्तों को, और कहाँ पर प्राधान्य देना, इस विषय में परिवर्तन अवश्य करना पड़ता है। कभी-कभी छोटे बालक अपने माता-पिता और वृद्ध-संबन्धियो को कड़ी कसौटी पर रख देते हैं।

'वृन्दा महासती थी....प्रभु की भक्त थी...और उसका विवाह जालंधर नाम के राक्षस के साथ हुआ था।' दूदाजी ने कहानी का आरम्भ किया।

'दादाजी! सती माने?' मीरां ने पूछा।

'इतना भी नहीं जानती? पति के पीछे जो जलकर मर जाय, वह सती!' जयमल बीच में बात काटकर अपना ज्ञान प्रदर्शित करता।

'इतना मैं नहीं जानती? दादाजी की माँ भी तो सती हो गई थीं! परन्तु क्या पति के जीते-जी कोई पत्नी सती नहीं हो सकती?' मीराँ ने जयमल के ज्ञान से भी अधिक ज्ञान का परिचय दिया।

'पति के पीछे जलकर देह छोड़ना, यह तो सती का अन्तिम कार्य होता है। जो जीवन-भर सती रहती है, वही इस प्रकार जल सकती है...वृन्दा सती थी...उसके सतीत्व के कारण जालंधर को कोई मार न सकता था। देवता हैरान हो गये थे....'

'देवताओं को राक्षसों ने कई बार हराया, यह सच है दादाजी?' जयमल प्रश्न करता।

'हाँ, भगवान की छत्र-छाया पाकर देवता आलस्य और रंग-राग में पड़ जाते और राक्षस कड़ी तपस्या करते...इसलिए उनको हराने में साक्षात् भगवान को परिश्रम करना पड़ता...वृन्दा का सत जब तक डिगे नहीं, तब तक जालन्धर का मरना असम्भव था....उसके अत्याचार बढ़ने लगे ...अन्त में स्वयं भगवान को जालन्धर का रूप धारण करके वृन्दा का सत चलित करना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप जालंधर का वध हुआ...'

'भगवान ने ऐसी धूर्त्तता...छल-कपट क्यों किया ?' मीरां प्रश्न करती।

'भगवान की लीला हम मनुष्य नहीं समझ सकते, बेटा ! कपट और धूर्त्तता का अधिकार भगवान ने केवल अपने लिए ही रखा है, हमारे-जैसे मानवों के लिए नहीं !'

'कपट और धूर्त्तता के काम हम न करें, परन्तु यदि कोई दूसरा करे तो ?' मीरां ने पूछा ।

'तो हमको यही समझना चाहिए कि इन कपट और धूर्त्तता के कार्यों में भगवान का आवास है । हमारे विरुद्ध ऐसा काम करनेवाला मनुष्य हमको भगवान का ही दर्शन कराता है, यह निश्चय मान लेना चाहिए ।' दूदाजी दुनिया की दुष्टता और शठता को प्रभुदर्शन का मार्गरूप होना प्रमाणित करने का प्रयत्न करते । उनकी यह दलील बालकों की समझ में आती या नहीं, इसकी खबर दूदाजी को कैसे पड़े ? परन्तु इतना वे अवश्य करते कि कोमल बालकों को यह विषय समझाने का उनका प्रयत्न बिलकुल निरर्थक न हो, इसलिए वे अपनी दलील को इस प्रकार उपस्थित करते :

'और मीरां ! भगवान ऐसे कृपालु हैं कि जिसको वे मारते हैं, उसको मुक्ति देते हैं ।'

'दादाजी ! मुक्ति मिलने से क्या होता है ?' मीरां पूछती ।

'भगवान ने जो स्वर्ग बनाया है, उससे भी अधिक सुन्दर वकुंठ और गोलोक जैसे प्रदेश में रहने को मिलता है । भगवान की इससे भी अधिक कृपा हो, तो उनका सतत सान्निध्य मिले और बराबर उनके दर्शन मिलते रहें...अथवा भगवान के अनुरूप हम बन जायँ...और अन्त में भगवन्मय हो जायँ....'

'अर्थात् ?'

'भगवान के सिवाय अन्य कुछ दीख ही न पड़े, अन्य कुछ सुनाई भी न दे और हम स्वयं भगवन्मय बन जायँ !'

'ऐसी मुक्ति हम लोगों को मिल सकती है, दादाजी ?'

'क्यों नहीं ? प्रभु के शरण में जो जायगा, उसको सब कुछ मिल सकता है।'

'हाँ दादाजी ! फिर जालंधर के मरने के बाद क्या हुआ !' जयमल ने वार्ता को पुनः चलाने की प्रार्थना की।

'वृन्दा भक्त अवश्य थी, परन्तु साथ ही साथ सती भी थी। भगवान ने जालंधर का रूप धारण करके, कपट करके उसको धोखा दिया....इससे वृन्दा ने उनको शाप दिया कि वे पत्थर बन जायँ !...यह भूलना न चाहिये कि यदि भगवान भी कपट करें, तो उसका फल उनको भी भोगना पड़ता है...'

'फिर क्या हुआ ?' कहानी जल्दी खत्म हो जाय, यह बच्चों को अच्छा नहीं लगता।

'भगवान ने वृन्दा से कहा कि तुम तुलसी बन जाओ।'

'ऐसा क्यों कहा ?'

'भगवान तो सब पर कृपा ही करते हैं। वे मारते हैं, तो मरनेवाले को मुक्ति देते हैं। वे यदि दुःख देते हैं, तो उसको अपनी ओर अभिमुख करने के लिये ! पत्थर के भगवान ने शालिग्राम का रूप लिया और वृन्दा तुलसी-पादप बन गयी...उस महासती के सत के प्रभाव से भगवान ने निश्चय किया....'

'कौन सा ?'

'कि तुलसीपत्र बिना उनकी पूजा पूरी न होगी, और जिस प्रसाद पर तुलसीपत्र रखा न हो, उसको कभी स्वीकार नहीं करेंगे ! भगवान बड़े दयालु हैं। उनके क्रोध में भी आशीर्वाद भरा रहता है। देवों के शत्रु जालंधर ने प्रभु-पद को पाया, और उसकी पत्नी वृन्दा तुलसी के रूप को भगवान ने अपने पूजन और प्रसाद में स्थान दिया...सती के सत को भगवान भी अपने मस्तक पर चढ़ाते हैं।'

मीरां और जयमल को तुलसी-वृन्दा की कहानी के सूक्ष्म रहस्य को पूर्ण रीति से समझने की कोई आवश्यकता न लगी। परन्तु इस बात की एक अस्पष्ट झांकी उनको अवश्य हुई कि प्रभु का कोप और प्रभु का दण्ड दोनों उनकी परम दया से ही उद्‌भवित होते हैं। और विचार करते-करते वे सो गये। प्रभात में—बहुत सबेरे जब स्नान ध्यान के विचार से दूदाजी जाग उठे, तब उन्होंने देखा कि पास की छोटी खाट में मीरां जागती हुई बैठी है।

'क्यों बेटी ! अब मुझसे भी पहिले उठने लगी ?' दूदाजी ने पूछा।

'दादाजी ? मैंने अभी भगवान को देखा....वे वृन्दा को आशीर्वाद दे रहे थे...इतने में वे कहाँ चले गये, यही मैं देख रही हूँ।' मीरां ने उत्तर दिया।

दूदाजी चौंक उठे। अति स्नेह के कारण कहीं इस बालिका का मन भ्रमित तो नहीं हो गया है ? उनको मालूम था कि कभी-कभी धर्म, नीति, न्याय और भक्ति की अतिशयता आदमी का चित्त भ्रमित कर देती है। उनको यह डर लगा कि भक्ति की बहुत बातें करके, भक्ति की ओर आकर्षित कर, वे अपने बच्चों के कोमल हृदय में ऐसी अवस्था के प्रतिकूल भावनाएँ तो पैदा नहीं कर रहे हैं, जिनसे उनका जीवन व्यर्थ हो जाय ? मीरां के कथन ने उनको भयभीत-सा बना दिया। दूदाजी भलीभांति जानते थे कि धर्म या भक्ति की भावना कभी-कभी रोग के कारण जागती है, और वह अस्वस्थ मानस के परिणाम रूप हुआ करती है। इसलिए उनकी कभी भी यह इच्छा न थी कि उनके बालक उस ओर जायँ। उन्होंने उसी क्षण यह निश्चय किया कि इन बच्चों को अब अपने भक्ति-भँवर से थोड़ा दूर रखना। क्षण, दो क्षण में यह विचार-परंपरा उनके मस्तिष्क में आयी, और शीघ्र ही मीरां को उद्देश्य करके उन्होंने कहा:

'तुम सो जाओ, मीरां ! वह तो कोई स्वप्न रहा होगा...मैंने तुमको वृन्दा की कहानी कही थी न, उसी के कारण।' वे मीरां के पास आकर बैठ गये, और उसके सिर को सहलाते हुए उसे सुला दिया।

सोये-सोये मीरां ने पूछा :

'भगवान स्वप्न में दर्शन देते हैं ?'

'यह तो उनकी इच्छा की बात है। अच्छा ! अब तुम सो जाओ।'

'लेकिन दादाजी ! अब तो आप नहाकर पूजा करेंगे न ?'

'हाँ, परन्तु तुमको या जयमल को इतने सवेरे उठने की ज़रूरत नहीं।'

'हमें पूजा नहीं करनी होगी ?'

'नहीं; आज नहीं। तुमको आज कहीं भेजना है।'

'हमें दण्ड दे रहे हैं, दादाजी ?'

'दण्ड ? मेरी बेटी ! मैं चाहूँ तब भी तुम को दण्ड दे नहीं सकता.... आज तुम्हारी तबीयत अस्वस्थ मालूम होती है...तुम बराबर सो भी न सकीं...और तुमको स्वप्न भी आया...'

'लेकिन सपने में मैंने भगवान को देखा।'

'स्वप्न में भ्रम हुआ हो....सच्चे भगवान न भी देख पड़े हों। सच्चा प्रभुदर्शन तो तब हो, जब भगवान सदेह आकर आँख के आगे खड़े हों।'

'वे मुझे सदेह दर्शन नहीं दे सकते ?'

'क्यों नहीं ? परन्तु तुम जरा बड़ी हो जाओ, कुछ पढ़ लो, हँस-खेल लो, आनन्द कर लो ! अच्छी-अच्छी वस्तु देख लो, सुन लो और खा-पी लो ! उसी में से धीरे-धीरे प्रभु का साक्षात्कार होगा। बेटा ! जितनी भी अच्छी वस्तुएँ हैं, उन सब में भगवान विराजते हैं।'

मीरां ने कोई उत्तर न दिया। उसकी अविकसित बुद्धि में पढ़ने, खेलने और प्रभु-मिलन के बीच क्या सम्बन्ध है, यह समझ में न आया। परन्तु, अपने दादाजी में उसे पूर्ण श्रद्धा थी, जिसके कारण उनकी बातों को वह मान लेती थी। दादाजी की बातों से संतुष्ट होकर वह सो गयी। स्नेहार्द्रचित्त दादा कुछ देर तक उसके पास बैठे रहे, और जब वह गाढ़निद्रा में सो गयी, तब वहाँ से उठकर वे अपनी प्रभात-पूजा के कार्य में लग गये।

इतने में यकायक जयमल की नींद खुल गयी, और वह उठ बैठा। अपने दादा को बिस्तर पर न देखकर उसकी दृष्टि मीरां के पलंग की ओर गयी। मीरां अभी तक सो रही थी। उसके पास जाकर ओढ़ी हुई रज़ाई को हटाते हुए उसने कहा :

'मीरां ! उठना नहीं है ? देखो, दादाजी तो नहाने गये। चलो उठो !'

'अँ हूँ...दादाजी ने उठने को मना किया है।'

'क्यों ?'

'शायद मेरी तबीयत अच्छी न हो।'

'क्यों ? क्या है ?'

'भाई ! मुझे भगवान दिखाई पड़ते हैं।'

'यह तो बहुत ही अच्छा है...'

'दादाजी इसको अच्छा नहीं कहते....उनका कहना है कि जब तबीयत अच्छी न हो, ऐसे समय भगवान का दर्शन होना ठीक नहीं।'

'झूठी ! ऐसा दादाजी कभी कह नहीं सकते।'

'उनके कहने से ही तो मैं सोयी हुई हूँ।'

जयमल ने एक अनुभवी वयस्क की भाँति मीरां के मस्तक पर हाथ रखा। मीरां का सिर उसे कुछ गर्म मालूम हुआ। जयमल को इस बात का ज्ञान तो था नहीं कि मनुष्य-देह सामान्य रीति से इतनी तो गर्म रहती ही है। तिस पर जब आदमी ओढ़कर सोया हो, तब उसके शरीर में थोड़ी उष्णता तो अवश्य आ जाती है।

'मीरां ! तुम्हें बुखार है।'

'भगवान जो कुछ भी दें, वह सब अच्छा ही है, दादाजी बराबर यही कहते हैं।'

'तब तुम सो रहो; घूमो-फिरो नहीं।' बालक जयमल ने नन्हीं मीरां को सलाह दी। छोटे बच्चे कभी-कभी आपस में बड़ों जैसा अभिनय करते हैं। मीरां को योग्य सलाह देकर जयमल स्नान करने चला गया। वहाँ से जाने के पहिले उसने मीरां की रज़ाई को ठीक से ओढ़ाया। मीरां को एकान्त में पड़े रहना अच्छा न लगा। रज़ाई को फेंक, खड़ी होकर शयन-खण्ड की दीवार में लगी हुई प्रभु के दशावतार की तस्वीरों को वह देखने लगी। स्वप्न में जिस मूर्त्ति को उसने देखा था, उसका साम्य वह इस चित्रा-वलि में खोजने लगी। इस कार्य में वह इतनी तल्लीन हो गयी थी, कि

उसको देखने के लिये आयी हुई उसकी माता की उपस्थिति का उसको पता तक न चला।

'बुख़ार में कहाँ घूम रही हो ?' माता उसके पास आयी और बालिका के कंधे पर हाथ रखकर उसने धीमे स्वर में पूछा।

'माँ ! मुझे बुख़ार आया है, यह किसने कहा ?'

'जयमल दौड़ता हुआ आया, और मुझे कह गया...परन्तु तुम्हें बुख़ार लगता नहीं है।'

'मुझे भी नहीं लगता...न जाने दादाजी और जयमल ने कैसे कहा ?'

'अच्छा चलो मेरे साथ...तुम्हारे पिताजी आये हैं, और वे तुमको याद करते हैं।'

'अभी आयी माँ ! नहाकर और भगवान का दर्शन करके जल्दी ही आती हूँ...पिताजी चित्तौड़ से पधारे हैं ?'

'हाँ।'

मीरां को पिता से अधिक प्रीति दादा पर थी। दूदाजी ने इस बात का अनुभव किया कि उनके पास रहने से मीरां के अपरिपक्व हृदय पर भक्ति का अनैसर्गिक, असर पड़ रहा है। अतः उन्होंने निश्चय किया कि ये दोनों बालक उनके पास अधिक न रह कर अपने माता-पिता के पास रहें। बच्चों के लिए उन्हें यही मार्ग अधिक वांछनीय लगा। इतना ही नहीं, वे स्वयं भी यदि कुछ समय के लिये मथुरा-वृन्दावन जाकर वहाँ आवास करें, तो और भी अच्छा हो। इस प्रकार दोनों बालक थोड़े समय के लिये पूर्णरूप से उनसे अलग रहेंगे।

इस बार जयमल के पिता वीरमदेव और मीरां के पिता रत्नसिंह जब दूदाजी से मिलने मेड़ता आये, तब उन्होंने दोनों को पास में बुला कर कहा :

'मैं जानता हूँ कि तुम दोनों मेवाड़ के सहायताकार्य में लगे हो, और संग्रामसिंह तुम्हारा बड़ा आदर-सत्कार करते हैं। परन्तु मेरी इच्छा अब धर्मस्थानों की यात्रा करने की होती है। इसलिए अब एक भाई का मेड़ता में रहना आवश्यक है, दूसरा भले ही चित्तौड़ में रहे।'

'जैसी आपकी आज्ञा !' दोनों पुत्रों ने पिता की आज्ञा को मान लिया। परन्तु दोनों की पत्नियों ने एक कठिनाई प्रस्तुत की :

'मीरां और जयमल कहाँ रहेंगे ?...या तो आपके साथ जायं...या...'

'नहीं, नहीं, मेरे साथ नहीं....माँ-बाप के पास से हटा कर मैं उन्हें ले जाना नहीं चाहता। बच्चे दुःखी हो जायंगे।' दूदाजी ने कहा।

'बच्चों से ही पूछा जाय कि वे दादाजी के बिना रहेंगे ?' चतुर बहुओं ने ससुरजी से प्रस्ताव किया। घर में सब को विदित था कि मीरां और जयमल दादाजी के बिना रहेंगे नहीं।

'नहीं, नहीं, बालकों से कुछ मत कहना। मैं उनको सूचित किये बिना चला जाऊँगा...उनको मालूम हो गया, तब तो मैं जा ही नहीं सकता !' दूदाजी ने कहा।

और वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। बालकों को खबर दिये बिना ही दूदाजी ने गोकुल-मथुरा की ओर प्रस्थान किया। उस समय व्रजभूमि में गौड़ीय और तेलंगी भक्त, विद्वान और आचार्यों का एक समूह एकत्र हुआ था। ये विद्वान भजन-कीर्त्तन भी करते, और साथ ही अनेक कूट आध्यात्मिक प्रश्नों की चर्चा करते। जीव और ईश्वर एक हैं अथवा भिन्न ? यदि एक हैं, तो उनके ऐक्य का प्रकार कैसा होगा ? वह्नि और स्फुलिंग जैसा, अथवा बिंब-प्रतिबिंब जैसा ? वह्नि और स्फुलिंग एक हों, तब भी स्फुल्लिंग में वह्निपुंज जितना बल हो नहीं सकता ! चिनगारी और वह्निशिखा की शक्ति में जितना भेद होता है, उतना ही जीव और प्रभु में ! बिंब और प्रतिबिंब भिन्न क्यों ? पानी या दर्पण में सत्य वस्तु जैसा ही प्रतिबिंब क्यों पड़ता है ? इस साम्य को दिखानेवाले तत्व को माया कहना या लीला ? एक ओर विद्वान तत्वज्ञानी ऐसे कूट प्रश्नों का निर्णय करते, और दूसरी ओर भक्त-मण्डली प्रभु के स्मरण और दर्शन की धुन में लगी हुई व्रजभूमि में भक्ति का वातावरण बनाती थी।

तीर्थ-धाम में एक दूसरा ही संसार दीख पड़ता है। राजस्थान के से दांव-पेच, राजपूत नवयुवक और युवतियों के से प्रेम और शौर्य, दिल्ली-

आगरा के से राज्य-विस्तार, एवं गुजरात-मालवा के से षड्यन्त्र की सृष्टि का यहाँ प्रवेश न था। यहाँ न दीख पड़ते थे, बग़दाद-बसरा के सौदागर, न सूरत, भरुच या खंभात के मुसाफिर; न राज्य के भंडारों को भरने या खाली करनेवाले महाजन या साहूकार; न हिन्दू अथवा मुसलमानों के हाथ अपने शौर्य को बेचनेवाले तुर्क अफ़गान या मुग़ल ! व्यूह-बद्ध गोलन्दाज़ी जाननेवाले साहसी टोपीधारी फिरंगी भारत के अन्य भागों में घूम कर राज्यों को स्थापित या विस्थापित करनेवाले हिन्दू-मुस्लिम राजाओं के दांव-पेच में भले ही महत्व का भाग लेते हों, परन्तु तीर्थस्थानों में वे दीख न पड़ते थे। व्रजभूमि का छोटा सा स्थान एक विलक्षण प्रदेश था, जहां भारत के अन्य भाग की अथवा विदेशों की बाहरी हवा का प्रवेश तक न था। व्रजभूमि में अभी तक त्रेता के अन्त और कलियुग के प्रारंभ का समय ही चला आ रहा था, यद्यपि व्रज के बाहर हिजरी, संवत् अथवा ईसवी सन् के वर्ष बराबर व्यतीत होते जाते थे। यहाँ तो अभी भी कृष्ण के समय का व्रज-जीवन दीख पड़ता था—वही राधा-कृष्ण की भक्ति, रास-लीला के दर्शन, वही नन्द-यशोदा का वात्सल्य ! कालिन्दी की तरंगों पर अभी तक श्रीकृष्ण के चरण-कमल नाचते हुए दीख पड़ते, कुंजगलियों में नित्य ही कृष्ण की बंसी के सुर सुनायी देते, तथा गिरिराज गोवर्धनधारी की कनीनिका पर उठाया हुआ शैल-छत्र इस समय भी भक्तों को विश्वप्रलय में से बचाकर आश्रय देता हुआ नज़र आता ! सर्वत्र 'कृष्ण कृष्ण !' 'राधेकृष्ण !' 'गोपीजन वल्लभ !' 'जय गिरिराजधरण !' 'वृन्दावनविहारी की जय!' 'ग्वाल बाल के लाल !' 'दीनबन्धु!' 'दीना नाथ !' जैसे अनेक उद्गार सुनायी पड़ते। आरती-घंट के नाद समय-समय पर हुआ करते। स्थान-स्थान पर एकतारा, करताल, झाँझ, मंजीरा, तथा ढोलक-मृदंग के सुर-ताल के साथ समूहकीर्तन हुआ करते, और कृष्ण-लीला के प्रत्येक प्रसंग आँखों के आगे खड़े किये जाते। भक्ति के आवेश में आकर कोई भक्त हर्षाश्रु बहाता, कोई पुलकित बनता और कोई यकायक नाचने लगता। इतिहास को अभी तक जिस कृष्ण का पूरा पता नहीं लगा, वह कृष्ण व्रज में उपस्थित हो कर भक्तों से सस्नेह भेटते।

४

राधा, गोपी और उनके कृष्ण के पुनीत प्रेम से सुवासित मथुरा-वृन्दावन के भक्तिपूर्ण वातावरण में तल्लीन होजानेवाले दूदाजी को मीरा का मोह छोड़ता न था। मीरां कहाँ होगी? उसको छोड़कर वे क्यों आये? उसको साथ में ले आते, तो कैसा अच्छा होता? मीरां की देख-भाल कौन करता होगा? अपने दादाजी बिना वह अकेले में रोती तो न होगी? रात के समय उसे कौन कहानियाँ सुनाता होगा? कृष्ण-स्मरण के साथ साथ मीरां-स्मरण का भी पुट दूदाजी के मन पर चढ़ा हुआ था। प्रारंभ में उन्होंने उस बालिका को भूलने का प्रयास किया। परन्तु इस कार्य में वे सफल न हुए। ज्यों-ज्यों वे मीरां को भूलने का प्रयत्न करते त्यों-त्यों मीरा का स्मरण अधिक तीव्र बनता जाता था। एक बार जब वे भगवान कृष्ण का दर्शन कर रहे थे, उस समय उनको ऐसा आभास हुआ मानों मीरां उनके पास आकर खड़ी हो। आश्चर्य से घूमकर उन्होंने देखा तो वहाँ मीरां दीख न पड़ी। वहाँ तो किसी भक्त की बालिका उनके पास खड़ी हुई प्रभु का दर्शन कर रही थी। दूदाजी की आदत थी कि वे प्रभु-प्रसाद को स्वयं ग्रहण करने के पहले थोड़ा मीरां को खिलाते! मथुरा आने के बाद जब-जब वे प्रभु-प्रसाद ग्रहण करते तब-तब उनको आभास होता कि पहले वे मीरां को खिला रहे हैं। आरती के समय उनको इस बात का भ्रम होता कि मानों जयमल और मीरां घंटी बजाते हुए उनके पास ही खड़े हैं। रात्रि के समय कहानी कहने का प्रसंग याद आता, और इस प्रकार प्रभु-स्मरण के साथ-साथ मीरां का स्मरण बराबर हुआ करता। एक दिन नन्हीं मीरां की याद से वे विह्वल बन गये, परन्तु शीघ्र ही मन को स्वस्थ करके विचारने लगे:

'यहाँ मैं मीरां की भक्ति करने आया हूँ, या कृष्ण की?' विचार करने से विचारों का वर्तुल बढ़ता जाता है। एक विचार में से दूसरा पैदा होता है, और इस प्रकार विचारों की परंपरा बढ़ती ही जाती है।

'मीरां के रूप में कृष्ण की ही भक्ति तो नहीं हो रही है? कौन जाने?

प्रभु ने मीरां को ही मेरी मुक्ति का साधन बनाया हो तो ?'

विचार-वर्तूल ने अधिक विस्तृत वृत्त बनाया :

'नन्द-यशोदा को भगवान श्रीकृष्ण ने पुत्र-प्रेम द्वारा मुक्ति प्रदान की....और राधा के माता पिता !...वृषभानु और कीर्तिदेवी का भाव तो एक विलक्षण प्रकार का था !...मेरी मीरां राधा तो नहीं बन रही है ?...गोपी बनकर तो नहीं रहेगी ?....'

इस विचार ने दूदाजी के मन को उद्वेलित कर दिया। उनका वात्सल्य कभी-कभी मीरां को महाराणी के रूप में देखता, कभी समरांगण शोभना वीरांगना के रूप में देखता, और कभी प्रजापालक देवी के रूप में ! आज मीरां का नया रूप उनके सम्मुख उपस्थित हुआ ।

गोपी महान ? अथवा कोई राजरानी ?

परन्तु क्या मीरां को गोपी बनने देना उचित है ? राधा की भूमिका लेने देना उचित होगा ?

'प्रभो ! मेरी भक्ति में कोई कमी है । मेरे और तुम्हारे बीच मीरां क्यों आती है ?' आर्तवाणी में दूदाजी कहते ।

और एक बार स्वप्न में सनातन स्मित को धारण करनेवाले श्याम सुन्दर ने उत्तर दिया :

'इसमें हानि ही क्या ? मीरां द्वारा मुझे प्राप्त करो ! मेरे और तुम्हारे बीच से मीरां को हटा देने से क्या तुम मुझे जल्दी प्राप्त कर सकोगे ?'

प्रभात में जागने के साथ ही दूदाजी ने कहा :

'तेजल ! अब लौटने की इच्छा होती है ।'

'लौटना ही पड़ेगा...प्रसंग ऐसा ही उपस्थित हुआ है।' तेजल ने कहा।

'प्रसंग ? प्रसंग की बात तो भगवान जानें ! परन्तु मेरे हृदय में भगवान मीरां का रूप धारण करके बारंबार दर्शन देते हैं...मेरा मन न जाने क्यों व्यग्र बन गया है...चिन्ता होती है कि मीरां की तबीयत कैसी होगी ?'

'मीरां की तबीयत तो अच्छी है...वह अपने ननिहाल गयी है....परन्तु हमको तो लौटना ही पड़ेगा । विजल समाचार ले आया है ।' तेजल ने कहा । दूदाजी इस यात्रा में अकेले तेजल को ही साथ में लेकर आये थे,

और एक सामान्य यात्री की भाँति रहते थे। परन्तु उनका व्यक्तित्व यहाँ भी छिपा न रह सका, और धीरे-धीरे वृन्दावन में लोग उनको पहिचानने लगे।

'विजल आया ? क्या समाचार लाया है ?' दूदाजी ने पूछा।

'सग्रामसिंह ने आपको बुलाया है...कोई आवश्यक काम आ पड़ा है।'

'मुझे तो अब इन सब कार्यों से छुट्टी दें, यही मेरी इच्छा होती है। प्रभु के स्मरण को छोड़ अब राजकाज में जी नहीं लगता....विजल कहाँ है ?' दूदाजी ने कहा।

'दर्शन करने गया है...यह आया।' तेजल ने कहा, और तुरन्त विजल ने वहाँ प्रवेश किया।

'विजल ! क्या समाचार लाये ?'

'मीरां आनन्द में है...जयमल खेल-कूद में लगा रहता है...आपकी आज्ञा के अनुसार गुरु द्वारा उनको शिक्षण देने की व्यवस्था की गयी है.... इस समय तो मीरां अपनी माँ के साथ ननिहाल गयी है...'

'तब तो जहाँ वह होगी, वहाँ उसे देखकर ही आगे जाना पड़ेगा...और दूसरा....हाँ, तुम चित्तौड़ के भी तो कोई समाचार ले आये हो न ?'

'जी हाँ...ऐसी संभावना दीख पड़ती है कि गुजरात और मालवा के सुल्तान शीघ्र ही मेवाड़ पर चढ़ाई करेंगे।'

'यह समाचार किसने दिया ?'

'वीरमदेव और रत्नसिंह दोनों ने।'

'वे तो ईडर गये थे ?'

'वहाँ से वे अहमदाबाद गये, और वहाँ इन बातों का पता लगाकर लौटे हैं। संग्रामसिंह ने जो क़िलेबन्दी शुरू की है, उससे गुजरात और मालवा के शासक शंकालु बन गये हैं।'

'क्षत्रिय मात्र मिलकर खड़े हो जायँ, तो बस है। क़िलेबन्दी केवल मेवाड़ की ही नहीं, सारे राजस्थान की होनी चाहिये।' दूदाजी के नेत्रों से तेज की किरण निकली।

'इसीलिये आपकी याद हो रही है।' विजल ने कहा।

इतने ही में बाहर से कोलाहल की आवाज़ आयी। धीरे-धीरे कोलाहल बढ़ने लगा, और मारपीट होने के आसार प्रतीत हुए।

'यह बाहर क्या हो रहा है? यहाँ....तीर्थधाम में भी अशान्ति?' दूदाजी ने पूछा।

तेजल ने बाहर निकल कर देखा, लोगों से पूछा और अन्दर आकर दूदाजी से कहा:

'एक अन्त्यज ने मन्दिर को अपावन किया....उसी को लोग मार रहे हैं।'

'अन्त्यज ने तो मात्र मन्दिर को ही अपवित्र किया; परन्तु हम लोग तो उसको मारकर सारे वृन्दावन को अपवित्र बना रहे हैं...यहाँ मारपीट कैसी?' कहते हुए दूदाजी खड़े हुए और शीघ्र ही अपने अंगरक्षकों के साथ बाहर आये। बाहर आकर उन्होंने देखा कि वहाँ पुजारी, पण्डित, विद्यार्थी और सामान्य लोगों की एक भीड़ जमा हो गयी है। इस भीड़ के बीच में बैठे हुए दो व्यक्तियों पर चार-पांच आदमी प्रहार कर रहे हैं, और अन्य सब इस कार्य में उनको प्रोत्साहन दे रहे हैं। यों तो इस भीड़ में दूदाजी को कदाचित् ही कोई पहिचानता हो; परन्तु उनकी प्रभावशाली देह के कारण और वृन्दावन में आकर बहुत समय से निवास करने वाले भक्त के प्रति आदर होने के कारण लोगों ने उनके जाने के लिये मार्ग छोड़ दिया।

'क्या है भाई? सब लोग मिलकर इनको क्यों मारते हो? ये आदमी दो ही हैं, और तुम लोग इतने हो; शर्म नहीं आती?' दूदाजी ने कहा। लड़ने आये हुए शत्रु की निर्बलता का लाभ उठाते हुए राजपूतों का शौर्य सर्वदा संकोच करता था। गिरते हुए पर क़भी हाथ न उठाना, इस न्याय को माननेवाले दूदाजी का हृदय मार खाने वाले न दोनों निस्सहाय आदमियों को देखकर आर्द्र बन गया।

'ये दोनों अन्त्यज हैं, अस्पृश्य हैं! प्रभु के मन्दिर में ये घुस गये, और उसको अपावन किया!' प्रहार करनेवाले एक धर्मनिष्ठ ने चिल्लाकर कहा।

'इनको तो समाप्त ही कर दो!' दूसरे उत्तेजित आदमी ने लाठी उठाते हुए कहा। परन्तु दूदाजी ने उसकी लाठी को पकड़ लिया और उसे दूर हटा

दिया । एक बार लाठीधारी की इच्छा हुई कि अन्त्यजों को छोड़ बीच में पड़ने वाले दूदाजी पर ही प्रहार करे । परन्तु तेजल और विजल की कड़ा आँखों को और दूदाजी की भव्य देह को देखकर उसका क्रोध कुछ शान्त हुआ ।

'परन्तु पूछो तो सही कि ये कौन हैं ? बिना पूछे ही मारते जाते हो ?' दूदाजी ने कहा ।

'अरे यही लोग कहते हैं कि हम अन्त्यज हैं', एक आदमी बोल उठा ।

'क्यों, भाई, तुम अन्त्यज हो ?'

'जी हाँ, मैं अन्त्यज अवश्य हूँ ।'

'मन्दिर को क्यों अपवित्र बनाया ?'

'मुझे इस बात की खबर नहीं थी कि प्रभु का मन्दिर भी कभी अपवित्र बन सकता है....'

'परन्तु तुम यह देख रहे हो कि पुजारियों की यही मान्यता है....और इसीलिये वे तुमको मार रहे हैं ।'

'उनके लिए कदाचित् उनकी मान्यता सच हो...और हमको मारने से उनके चित्त को शान्ति मिलती हो तो मार लें हमें !'

'परन्तु कब तक ?'

'मरते दम तक....मरने का क्या डर ? प्रभु का नाम मुख पर हो तो आदमी हँसते-हँसते मर सकता है ! हमें मरने का कोई दुःख नहीं ।'

'दर्शन हुए प्रभु के ?....अरे तुमको तो कहीं देखा है ।'

'जी हाँ, दर्शन हुए...आपको भी कहीं देखा है अरे, हाँ ! हमारे ठाकुर-साहब के यहाँ जब कुंवरि का जन्म हुआ था, तब आपने ही भजन-मण्डली बुलाई थी । मैं रोहिदास ! आप तो दूदाजी राठोड़ हैं न !....राजस्थान के भक्तराज !'

'हाँ, भाई रोहिदास ! भक्तराज तो नहीं, परन्तु दूदाजी अवश्य हूँ ।...मैं व्रजवास करने आया था, परन्तु प्रभु की इच्छा कुछ दूसरी ही दीख पड़ती है।

सारी भीड़ ने अब दूदाजी को पहचाना । रोहिदास के साथ उन्हें मानपूर्वक बातें करते हुए देखकर लोगों ने उन दो अन्त्यजों को मारना तो बन्द कर ही दिया था, उनकी मारने की इच्छा भी चली गयी और भीड़

देखते ही देखते घटने लगी। बात करने से पता चला कि प्रभु की प्रेरणा पाकर रोहिदास भगवान के दर्शन के लिए व्रज में आये थे। अपने साथ अपने एक मित्र के किशोर पुत्र-शिष्य को भी लेते आये थे। उन्होंने स्वयं यह ध्यान रखा कि प्रभु-दर्शन करने के कार्य में किसी से उनका स्पर्श न होने पाये। बड़ी कठिनाई से भगवान के दर्शन तो हुए, परन्तु उनके व्यवहार से भक्तों को पता लग गया कि वे अन्त्यज हैं। लोगों की पूछ-ताछ करने पर उन दोनों ने अपनी जाति सच-सच बता दी। इस सत्य को जानकर भक्तों की श्रद्धा बढ़ी नहीं, अपितु उनके हृदय में क्रोधाग्नि भभक उठी। ज्यों-ज्यों यह खबर फैलती गयी त्यों-त्यों भक्तों में उत्तेजना फैलने लगी, और देखते ही देखते एक हिंसक भीड़ ने उन दोनों अस्पृश्यों को घेरकर मारना शुरू किया। प्रारंभ में प्रहार स्पर्शहीन हुए—जिसके हाथ में जो वस्तु आयी, उसी को दूर से फेंक कर प्रहार हुए। परन्तु जब लोगों में आवेश अधिक आया, तब तो उन अस्पृश्यों के स्पर्श का भी विचार न रहा। कुछ लोगों ने उनको छूकर मारना शुरू किया। यों भी स्पर्शदोष स्नान से तो छूट ही जाता है! मन्दिर के बाहर ही धर्मशाला थी, इसलिये दूदाजी को शीघ्र ही इस गोल-माल की खबर पड़ी और वे तुरन्त बाहर निकले। यदि वे घटना स्थल पर न पहुँचे होते, तो रोहिदास और उनका किशोर साथी दोनों अधिक घायल हुए होते, अथवा मर गये होते।

'मुसलमान मूर्तियों को तोड़ते हैं, और शिवलिंग को अपने पैरों तले रौंदते हैं, वहाँ कुछ बन नहीं पड़ता; और यहाँ मन्दिरों में भक्तिपूर्वक आनेवाले श्रद्धालुओं से उनकी जाति पूछी जाती है!' सब बातें सुनकर दूदाजी ने कहा।

'ऐसा ही हुआ करता है, राव!...'

'ऐसा क्यों हो? यदि तुम्हारे स्पर्श पर उनको आपत्ति हो, तो तुम लोगों के लिए प्रभु-दर्शन का कोई विशेष प्रबन्ध होना चाहिए। तुमने कुछ कहा नहीं।'

'कहा तो बहुत कुछ, परन्तु वहाँ सुने कौन? यदि प्रभु की इच्छा रोहिदास को दर्शन देने की न होती, तो वे अन्तर्धान हो गये होते। परन्तु

उन्होंने तो कैसे सुन्दर दर्शन दिये ! वाह मेरे प्रभु !' रोहिदास ने प्रभु-दर्शन का स्मरण करके कहा। भगवान के दर्शन पाने के उल्लास में वह कुछ क्षणों के लिए अपने आततायियों को भूल गये। द्वेष और घृणा को भुला देने वाली भक्ति के प्रभाव को देखकर दूदाजी का हृदय आनन्द से भर गया। वे तत्काल रोहिदास को धर्मशाला में लिवा ले गये और उनको अपने पास ही रखा। चित्तौड़ की ओर जल्दी ही प्रयाण करना था। अतः स्नान-संध्या और देव-दर्शन से शीघ्र ही निवृत्त होकर दूदाजी ने रोहिदास और उनके किशोर साथी को साथ में बैठाकर भगवान का प्रसाद ग्रहण किया—यद्यपि उन दोनों को अपने से सहज दूर ही बैठाया था। क्षत्रिय, ब्राह्मण अथवा वैश्य के हाथ की रसोई ग्रहण कर सकते थे, परन्तु शूद्र के हाथ की नहीं...ऐसा क्यों ? क्षण भर के लिए दूदाजी के मन में यह विचार भी आया। परन्तु इस समय अधिक ऊहापोह करने का विचार छोड़कर चित्तौड़ की ओर जाने का विचार ही सर्वोपरि था। शीघ्र ही तैयारी कर वे वृन्दावन से निकल पड़े। ऊंट पर रोहिदास और उनके साथी किशोर साधु को बैठाया, और अश्वों पर दूदाजी, तेजल और विजल बैठे। भगवद्-भक्ति की चर्चा करते हुए और रात्रि के समय किसी मन्दिर की धर्मशाला में ठहरते हुए ये लोग मार्ग में आगे बढ़ते जाते थे। रास्ते में साधु, धर्मस्थान को जाने वाले यात्री और अन्य बटोहियों की टोलियाँ मिलती थीं। विश्राम स्थानों पर अनेक राजनीतिक विषयों की भी चर्चा होती। दिल्ली बड़ा या चित्तौड़ अथवा गुजरात बड़ा या मालवा ? व्यापारियों के वेश में गुप्तचर भी दीख पड़ते। दूदाजी भी कभी-कभी भक्तिभाव में से अपना मन निकाल कर भारत के राजद्वारी प्रवाहों को समझ लेते थे। दक्षिण में विजयनगर का उत्कर्ष हो रहा था, और वह सुल्तानों के गौरव को धूमिल बना रहा था। उत्तर में चित्तौड़ की विजय-लक्ष्मी का स्मित-प्रकाश फैल रहा था। कुंभाजी ने राजस्थान के गौरव को खूब बढ़ाया। इसके पहले कि रायमल का सन्तान-विग्रह इस गौरव को मन्द करे, संग्रामसिंह ने चित्तौड़ में पहुँच कर उस गौरव को और ज्वलन्त बनाया। गुजरात और मालवा के इस्लामी राज्यों को चित्तौड़ का उत्कर्ष अप्रिय

लगना स्वाभाविक था। मुग़ल तैमूर के आक्रमण के बाद कुछ-कुछ स्वस्थ बनने वाला दिल्ली का राज्य भी संग्रामसिंह की प्रवृत्तियों को देखकर सशंक हो गया था।

ये यात्री शुक्लपक्ष की एक उजियाली रात्रि में एक कृष्ण-मन्दिर के चबूतरे पर बैठे हुए थे। न जाने किस कारण से गांव-गांव में कृष्ण के मन्दिर निर्मित्त हो रहे थे—यद्यपि मस्जिदों के मीनार भी इतस्ततः दीख पड़ते थे।

'रोहिदास ! यह किशोर साधु कहाँ से मिल गया ?' रोहिदास के साथ रहकर उनकी सेवा करने वाले किशोर को लक्ष्य कर दूदाजी ने पूछा। बारह वर्ष का यह चतुर बालक साधु के वेश में बहुत ही सुन्दर लगता था। उसका कण्ठ बड़ा ही मधुर था। रोहिदास के साथ बैठ कर जब वह भजन गाता, तब उसकी सुरावलि से श्रोतागण मुग्ध हो जाते। कुछ दूर बैठ कर तंबूरा मिलाने वाला किशोर न सुने, इस प्रकार दूदाजी ने प्रश्न किया।

'प्रभु ने दिला दिया', रोहिदास ने उत्तर दिया।

'तुम्हारा बालक तो नहीं मालूम होता।'

'यों कहिये तो मेरा ही पुत्र है...परन्तु अपने माँ-बाप की इसको भी खबर नहीं।'

'मुख पर तो क्षत्रियत्व की रेखाएँ दीख पड़ती हैं।'

'क्षत्रियों ने बड़े-बड़े भक्तों को जन्म दिया है; यह क्षत्रिय हो भी सकता है। चार-छः वर्ष पूर्व एक स्त्री इसको मुझे सौंप गयी थी। उसके बाद वह कभी दिखाई न दी। पैदल चल कर चारों धाम की यात्रा करने का, अथवा अनशन करके देह-त्याग देने का उसने निश्चय किया था।'

'इसके कण्ठ में बड़ी ही मिठास है। इसका नाम क्या है ?'

'इसका नाम कृष्णचरण रखा है। एक पण्डित के पास जाकर चुपचाप विद्याभ्यास कर आता है। बुद्धि तीव्र है और सदा प्रभु-भक्ति में लगा रहता है। यह और मीरां दोनों मिल कर जब भजन गाते हैं, तब साक्षात् भगवान् उतर आते हैं।'

'मीरां ? क्या वह भी गाने लगी ?'

'जी हाँ, कभी-कभी भाग कर वह मेरे मन्दिर में आती है, और पूजा या कीर्तन में सम्मिलित हो जाती है। कैसा मधुर उस बालिका का कण्ठ है !'

'अच्छा !' यकायक दूदाजी को मीरां की याद हो आयी। भक्त दूदाजी के प्रभु अपना रूप बदलकर बालिका मीरां बन गये। दूदाजी एक वीर और राजनीतिज्ञ पुरुष थे; चित्तौड़ के राणा को उनकी परम आवश्यकता थी। उनको मिलने के लिए व्रजवास छोड़ कर वे चित्तौड़ जा रहे थे। परन्तु मीरां को देखने की प्रबल उत्कण्ठा ने उनको इतना व्यग्र बना दिया कि उनका वश चलता तो वे चांदनी रात में मीरां से मिलने के लिए निकल पड़ते। उनके मन में प्रश्न उठा :

'प्रभो ! यह क्या है ? तुम्हारी भक्ति में विघ्न उपस्थित हो रहा है ? या तुम्हारे पास शीघ्रता से पहुँचने का मार्ग मिल रहा है ? बालिका के हितार्थ मैं दूर चला गया; परन्तु वह बालिका तो बराबर सामने ही आती है !'

कुछ देर तक उन्होंने उस किशोर-भक्त के भजन सुने। सुनते-सुनते उनमें मीरां के कण्ठ का आभास आने लगा। दूदाजी के वात्सल्य ने उनको विह्वल बना दिया। उनकी नींद उड़ गयी। मध्य रात्रि में जब और लोग सो गये, तब दूदाजी उठ कर मन्दिर के आस-पास घूमने लगे। एक ओर प्रभु की भक्ति उनको खींचती थी; दूसरी ओर राजस्थान की परिस्थिति अपनी ओर खींच रही थी; तीसरी ओर बालिका मीरां उनको आकर्षित कर रही थी। इस प्रकार घर का एक बालक, जननी-जन्मभूमि का विस्तार और विभु के विस्तार को धारण करने वाला विराट्, इन तीन रज्जुओं द्वारा वृद्धत्व को प्राप्त करने वाले इस राठोड़ वीर के मानस में ऊहापोह चल रहा था।

'कौन हो, भाई ?' यकायक मन्दिर की परछाईं में से चांदनी के प्रकाश में आने वाले किसी व्यक्ति को देख कर दूदाजी ने पूछा।

'मैं ?......मैं एक फिरंगी हूँ', आने वाले व्यक्ति ने उत्तर दिया।

'समुद्र पार से आ रहे हो ?'

'नहीं जी, भू मार्ग द्वारा !'

'मुसाफ़िर हो ?'

'जी हाँ......पहले व्यापारी, तब मुसाफ़िर !'

'ठीक है, भाई ! किस वस्तु का व्यापार करते हो ?'

'हिन्द में से रेशम, कीनख़ाब और गर्म मसाले पश्चिम में ले जाता हूँ।'

'कुछ दे भी जाते हो ?... या सब ले ही जाते हो ?'

'मुँह माँगा दाम देता हूँ...और...तोप...यदि जरूरत हो तो।'

'अर्थात् ? बारूद के ज़ोर से गोला फेंकने वाला यन्त्र, नहीं ?'

'जी हाँ, गुजरात माँगता है, दिल्ली माँगता है, मालवा माँगता है। यदि चित्तौड़ अच्छी क़ीमत दे, तो उसे भी मैं दूँ।'

'तो फिर चित्तौड़ जाकर पूछो। मुझसे क्यों पूछते हो ?.......एक-यात्री को ?'

'आप चित्तौड़ ही जा रहे हैं.......आप यात्री भले हों......परन्तु मैं आपको पहिचानता हूँ........यह ख़रीद आपकी सलाह के अनुसार होगी। इसलिये आपको शस्त्र की रचना समझाने आया हूँ।'

'अच्छा ? यह सब किसने कहा ?'

'स्वयं राणाजी ने......संग्रामसिंहजी ने।'

'तब बताओ, इसके विषय में क्या जानने योग्य है ?'

'यदि किले के एक बुर्ज पर एक तोप रख दी जाय, तो उसका गोला एक कोस तक जायगा। रावजी ! चला कर देख लें।'

'इसका यह अर्थ कि हमारे भाले, तलवार और तीर को निरर्थक बना देना है।'

'निरर्थक बन जायँ तो हर्ज ही क्या है ? नया अच्छा हथियार मिल जाय, तो पुराने भले ही रद्दी हो जायँ।'

'कहीं इस हथियार का उपयोग हुआ है ?'

'दीव के दुर्ग पर यह हथियार रख दिया गया है.......अब हमको गुजरात के सुल्तान का बिलकुल भय नहीं।'

'तुम फिरंगियों की संख्या नगण्य है ! तिस पर कहते हो कि गुजरात के सुल्तान का भय नहीं ?'

'जी हाँ ! जिसके पास हमारी तोप रहेगी, उसी की जीत समझिये।'

'परन्तु यह तो क़िलों का ही रक्षण करेगी; मैदान का क्या होगा ?'

'बिक्री बढ़ेगी, तो मैदानों के लिए भी बनायेंगे......इसका नाम ही हम लोगों ने 'मुल्क-मैदान' रखा है।'

'अच्छा ! तुम चित्तौड़ आओ। मैं राणाजी से बात करूँगा।'

'मैं आपका कृतज्ञ रहूँगा,' कहते हुए फिरंगी ने विचित्र प्रकार का नमन किया और शीघ्र ही वहाँ से प्रस्थान किया।

जिसके पास यह यंत्र हो, उसको विजय मिले ! यह विजय और पराजय ! किसके लिए ? किस लिए ? विचित्र वेश, रहन-सहन और भाषावाली यह जाति समुद्रपार से हिन्दुस्तान में आने लगी है ! कपड़े और मसालों का व्यापार करनेवाली इस जाति ने अब संहारक शस्त्र बेचना शुरू किया है ! गोरे व्यापारियों की कोठियाँ भी स्थापित होने लगी हैं। वे व्यापार करें, इसमें कोई आपत्ति नहीं; परन्तु शस्त्रों का व्यापार देश की परिस्थिति को बदल दे तो संख्या में कम होने पर भी ये फिरंगी अपनी तोप के बल पर कहीं हिन्द के मालिक न बन जायँ ?

दूदाजी ने अपनी परछाईं देखी। गाँव बाहर के मन्दिर की परछाईं भी पड़ रही थी। दोनों की परछाइयों को धारण करनेवाला मैदान चाँदनी में चमक रहा था। जड़ मन्दिर और चेतन दूदाजी के अतिरिक्त मैदान में और कोई दिखाई न पड़ता था। एक फिरंगी को देखकर दूदाजी को ऐसा निर्बल विचार क्यों आया ? उनकी भक्ति उनके वीरत्व में न्यूनता तो नहीं लाती थी ? अनेक समरांगणों में वीरता दिखानेवाले दूदाजी का मन युद्ध से ऊब तो नहीं गया था ? उनकी उम्र और भक्ति उनको दुर्बल तो नहीं बना रही थी ? अवस्था और भक्ति यदि आदमी को दुर्बल बना दे तो वह किस काम की ? दूदाजी ने इस बात का अनुभव किया कि उनके शरीर ने सामर्थ्य खो नहीं दिया है; शस्त्र उठाकर प्रहार करने की उनमें पूरी शक्ति है। भक्ति के कारण उनके बल का ह्रास नहीं हुआ था।

मस्तक उठाकर भक्ति के प्रतीक सरीखे मन्दिर की ओर उन्होंने देखा। उनको ऐसा आभास हुआ मानों शिखर और चन्द्र परस्पर हँस कर बातें करते हों ! उनकी देह की परछाईं से मन्दिर की परछाईं अधिक लम्बी और विस्तृत थी—अधिक भव्य और दर्शनीय ! मानव से कहीं बड़ी मानवी भावना होती है। मानव प्रभु तक पहुँचा है, पहुँच सकता है, इस मानवी भावना को स्पष्ट करने वाला प्रतीक है प्रभु का मन्दिर !

परन्तु इसकी भी परछाईं पड़ती है। आदमी की परछाईं से भले ही वह बड़ी हो, परन्तु है तो वह छाया ही ! मानवी मन्दिर की छाया अर्थात् उस मन्दिर में से उद्भवित होनेवाला श्यामतत्व ! चन्द्र की परछाईं क्यों नहीं पड़ती ? भगवान के जगत-मन्दिर का चन्द्र एक सुवर्ण कलशरूप है। प्रभु के मन्दिर की छाया हो ही नहीं सकती। क्या मानवी मन्दिर इतने अंश में स्पष्ट, अधूरे और धुँधले नहीं हैं ? इस मन्दिर के निर्माण में दूदाजी का मुख्य हाथ था। यही नहीं, सारे राजस्थान के गांव-गांव में दूदाजी ने कितने ही मन्दिरों का निर्माण कराया था। दूदाजी की यह प्रबल इच्छा रहती कि प्रभु की याद दिलाने वाले मन्दिर गाँव-गाँव, गली-गली और घर-घर में स्थापित हों और उनकी यह इच्छा फलीभूत भी हुआ करती। भगवान के बनाये हुए विश्व-मन्दिर के ऊपर स्थापित किये हुए सुवर्ण-कलश समान चन्द्र की कोई श्याम छाया नहीं पड़ती; परन्तु दूदाजी के मन्दिरों के कलश बराबर अपनी काली परछाईं डालते जाते हैं ! इतने अंश में दूदाजी के मन्दिर अधूरे और कमज़ोर थे !

'प्रभो ! मानव को आपके पूरे दर्शन कब मिलेंगे ? अपूर्ण रहनेवाले मानव को क्या आपके दर्शन भी अपूर्ण ही मिलेंगे ?' दूदाजी के मन में विचार आया।

क्षितिज पर एक काला दाग़ दिखाई दिया।

'आज छाया ही क्यों दीख पड़ती है ?' दूदाजी विचार में पड़ गये।

क्षितिज पर दीख पड़नेवाला दाग़ बड़ा होने लगा। कोई आदमी तो नहीं बढ़ा आ रहा है ? राजस्थान के प्रदेश में तो मैदान, मरुभूमि और उसके बाद पर्वत ! मध्य-रात्रि के बाद कौन आदमी इस ओर आ रहा है ?

उसकी चाल धीमी थी। इधर कुछ समय से राजस्थान में भी लोगों का गुप्तरूप से आना-जाना बहुत बढ़ गया था। प्रभु के इस संसार में, शीतलता बरसानेवाले चन्द्र-कुंभ का सतत आनन्द लेनेवाली दुनिया में, ऐसे गुप्त आवागमन क्यों ? किस अर्थ से ?

यह अकेला आदमी कौन होगा ? कोई योद्धा तो नहीं लगता। कदाचित् कोई गुप्तचर हो ! कोई व्यापारी इतनी रात गये निकलता नहीं। फ़कीर तो न होगा ? इधर कुछ समय से राजस्थान में फ़कीर बड़ी संख्या में घूमते हुए नज़र आते थे। फ़कीर जैसा लगनेवाला आदमी पास आया।

'कौन हो ?' दूदाजी ने पूछा।

'फ़कीर हूँ, राव !' फ़कीर ने उत्तर दिया। किसी भी सभ्य दीख पड़नेवाले राजस्थानी को राव कहकर पुकारने से उसका आत्मसम्मान संतुष्ट होता था।

'इतनी रात गये घूम रहे हो ?'

'जी हाँ, विश्राम-स्थान ढूँढता हूँ। कहीं मिलता नहीं।'

'दिल्ली, दक्खन, गुजरात और मालवा छोड़कर राजस्थान में कहाँ चले आये ?'

'यह भूमि देखना बाक़ी था....और सब जगहों से मैं मारकर भगाया गया हूँ।'

'कहाँ कहाँ घूम आये, सांईं ?'

'मक्का, मदीना, बसरा-बग़दाद...अरे अंदलुस[१] तक मैं घूम आया हूँ ! रोम, स्याम सभी जगह घूमता हुआ हिन्द में आया हूँ।'

'इन सब जगहों में क्यों गये थे ?'

'हक़ की खोज में ! अल्लाहताला की खोज में !'

'दोनों मिले ?'

'क्या कहूँ ? हाथ में आते हैं...और आते ही हाथ से निकल जाते हैं।...अभी उसकी मर्ज़ी लगती नहीं।'

१—स्पेन : [इस्लामी संस्कृति अफ्रीका के मार्ग से स्पेन में भी पहुँच गयी थी, और वहाँ उसका अच्छा विकास हुआ था।]

'तुमको विश्राम चाहिये न ?'

'जी हाँ ! घड़ी दो घड़ी का ! किन्तु वह मिलता कहाँ है ? उसकी जगह ठौर-ठौर पर मार मिलती है।'

'अरे, सांई ! तुमको तो चोट लगी है !...ताजे रक्त के दाग़ दिखाई देते हैं।'

'खाक के खिलौने जैसी इस देह में जो वस्तु मौजूद हो, वह बाहर दीख पड़ती है', ज़रा हँसकर फ़कीर ने कहा।

दूदाजी और फ़क़ीर के वार्तालाप के कारण विजल, तेजल और रोहिदास सजग हो गये, और मन्दिर से कुछ दूर पर खड़े हुए उन दोनों के पास आ पहुँचे।

'देख, विजल ! इन सांई के कपड़े लोहू-लुहान हो गये हैं ! इनके कपड़े बदलवा दे। अगर कहीं चोट लगी हो, तो उसको धोकर लेप लगा दिया जाय', दूदाजी ने कहा।

दोनों युवकों ने जल्दी से सांई के कपड़े बदलवाये, उनको पहिनने के लिए दूसरे वस्त्र दिये, चोट पर औषधि लगाई, और उनके सोने की व्यवस्था की। मन्दिर का विशाल चबूतरा शयन के लिये सैकड़ों आदमियों को स्थान दे सकता था।

'सांई ! कैसे चोट लगी ?' विजल ने पूछा।

'लाठी से, बेटा !'

'लाठी ? किसने मारा ?'

'पास के गाँववालों ने ! मुझे बादशाह का जासूस समझ कर वे सब मेरे ऊपर टूट पड़े।'

'क्या आप वास्तव में जासूस हैं ?' दूदाजी ने सीधा प्रश्न पूछा।

'मैं तो अल्लाहताला का जासूस हूँ...उसी पर भरोसा रखकर घूमता हूँ...होगा वही जो उसको मंजूर होगा', फ़क़ीर ने उत्तर दिया।

दूदाजी को इस मुसलमान सन्त की वाणी में भक्तों की शरणागति का स्वर सुनाई दिया।

'तब एक जगह बैठ कर क्यों नहीं रहते ? घूमते हो सारी दुनिया में,

और बातें करते हो ईश्वरेच्छा की !' युवा तेजल ने फ़क़ीर से कहा ।

'बेटा ! ख़ुदा ने पैदा किया है । इस ज़िन्दगी में कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा । क़यामत के दिन जवाब देना पड़ेगा कि इस ज़िन्दगी में कौन-कौन-सा सवाब हासिल किया ! होता तो वही है, जो ख़ुदा की मर्ज़ी में है ! और दुआ भी हम यही माँगते हैं कि हो वही, जो परवरदिगार की मर्ज़ी में हो । लेकिन एक सच्चे नमाज़ी की हैसियत से हमको हाथ-पैर तो चलाने ही चाहिये । समझे, भाई ! इसलिये घूमता-फिरता हूँ ।'

दूदाजी को गीता का वाक्य याद आया :

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।"

'इधर कहाँ जाना है ?' दूदाजी ने पूछा ।

'मेड़ता जाने का इरादा है ।'

'इसीलिए लोगों ने आपको जासूस समझा,' विजल ने कहा ।

'वहाँ किस काम के लिए जाना है ?' रोहिदास ने पूछा ।

'सुना है वहाँ दूदाजी नाम के कोई भक्त रहते हैं....राजा हैं, लेकिन मिलने लायक़ हैं....हम सूफ़ियों का मज़हब जुदाई मानता नहीं...सभी सन्त हमारे हैं !....मन में हुआ कि चलें, दूदाजी को देख आवें ।'

'दूदाजी को देखना है ? वे आपके सामने ही खड़े हैं', विजल ने कहा ।

'अच्छा, राव को देखते ही मुझे लगा ज़रूर कि मैं ख़ुदा के किसी ख़ास बन्दे के पास पहुँच गया हूँ । ख़ुदा की क्या शान है ! जिसको मैं मिलने चला था, ख़ुदा ने उसी को मेरे सामने भेजा !'

फ़कीर ने कहा ।

'अब हम लोग मेड़ता पहुँच कर ही मिलेंगे । रोहिदास ! आप इनको अपने साथ ले जायँ । मैं चित्तौड़ जा रहा हूँ । वहाँ से लौटते समय सांई को अपने साथ ले लूँगा........मीरां भी वहीं है........इनको कोई तकलीफ़ न हो, ऐसी सब व्यवस्था हो जायगी ।' दूदाजी ने कहा ।

पिछली रात का समय होने आया था । स्नान-संध्या से निवृत्त होकर इसी स्थान से दूदाजी चित्तौड़ की ओर जाने वाले थे । प्रभात होते ही दूदाजी ने रोहिदास और फ़कीर को एक ओर बिदा किया, और स्वयं अपने अंग-रक्षकों के साथ चित्तौड़ की ओर चल पड़े ।

५

चित्तौड़ में संरक्षणात्मक कार्य पूरा हो चुका था। महाराणा संग्रामसिंह ने सैनिक व्यवस्था सुचारु रूप से कर रखी थी। पैदल, हय-दल और गज-दल तीनों की संख्या बढ़ा दी गयी थी। प्रजाजनों को भी, जहाँ तक शक्य था, युद्ध की आवश्यक शिक्षा दे दी गयी। पहाड़ी भील तो सैनिक बनने के लिए उत्सुक थे ही। दूदाजी की सलाह के अनुसार चित्तौड़ और कुंभलमेर के दुर्गों पर फिरंगियों की मदद लेकर दो-दो तोपें भी चढ़ा दी गयीं। प्रजा और सेना के लिए स्थान-स्थान पर अनाज के भंडार भर दिये गये। शस्त्रागारों की व्यवस्थित रीति से स्थापना हुई, और सारा मेवाड़ देखते ही देखते एक सुनियंत्रित छावनी के रूप में बदल गया। वहाँ केवल निर्भयता का ही वातावरण न देख पड़ा, अपितु आक्रमण करने वाले पर भयंकर प्रहार करने की सामरिक शक्ति के भी दर्शन होने लगे। महाराणा की व्यवस्था-शक्ति पर दूदाजी को बड़ा हर्ष हुआ। दक्षिण में जिस प्रकार विजयनगर का कीर्तिध्वज सारे दक्षिण भारत में लहरा रहा था, उसी प्रकार कुंभाजी का कीर्तिस्तंभ सारे उत्तर भारत पर दृष्टि लगाकर खड़ा था। दूदाजी को विश्वास हो गया कि कुंभाजी का पौत्र संग्राम ऐसे ही एक दूसरे कीर्ति-स्तम्भ की रचना करेगा।

इस प्रकार की सैनिक तैयारी किसी भी प्रजा के लिए गौरव की बात थी। भय का तो कहीं आभास भी न होता था। चारों ओर से मेवाड़ पर धमकियों की वर्षा हो रही थी। कभी गुजरात मेवाड़ को धमकाता था; कभी मालवा कड़ी आँखों से उसको देखता; कभी दिल्ली से धमकियों के सन्देश आते। पुत्रों के पारस्परिक विद्वेष के कारण राणा रायमलजी के जीवन के अन्तिम वर्ष बड़ी ही बेबसी का अनुभव करते हुए बीते। दूदाजी ने पिता-पुत्र के बीच मेल कराकर राजस्थान का महान उपकार किया। संग्रामसिंह मेवाड़ की परिस्थिति से पहिले से ही अवगत था। अत: गद्दी पर आते ही उसने देश की दुर्बलता को दूर करने का प्रयास तुरन्त शुरू कर दिया था। धीरे-धीरे यह प्रयास सौ गुना बढ़ गया, और मेवाड़ की शक्ति

तथा समृद्धि सारे हिन्द को चकाचौंध करने लगी। दिल्ली, गुजरात और मालवा के मुसलमान शासक तीन दिशाओं से मेवाड़ पर आक्रमण कर उसको जीत लेने की योजना बना रहे थे। परन्तु संग्रामसिंह के प्रयास से स्थिति इतनी बदल गयी कि अब उन शासकों को स्वयं यह भय होने लगा कि कहीं मेवाड़ किसी भी समय उन तीनों राज्यों पर आक्रमण न कर बैठे !

'राणाजी ! तैयारी तो आपकी विश्वविजय करने की लग रही है।' दूदाजी ने कहा।

'दूसरा मार्ग ही क्या, भक्तराज ? हर समय रोते रहने से काम कैसे चलेगा ? मेवाड़ पर सबकी दृष्टि है—आज से नहीं, शताब्दियों से !' संग्राम ने उत्तर दिया।

'राव ! दिल्ली में तैयारियाँ हो रही हैं, चित्तौड़ पर आक्रमण करने की !'

'मूर्ख है वह सुल्तान ! उसे तो चाहिए कि वह अपना राज्य सभाल कर चुपचाप बैठा रहे।'

'हमारे जासूस बराबर घूम रहे हैं। उनसे खबर मिली है कि महीने दो महीने में मेवाड़ की सीमाओं को तोड़ने के लिए सारा दिल्ली टूट पड़ेगा।'

'मुझे आज्ञा देना, मैं मेवाड़ की सीमा पर ही दिल्ली को दबा दूँगा,' दूदाजी ने हँसते-हँसते कहा। मेवाड़ की सेवा करना यह सब क्षत्रियों के गर्व का विषय था। और दूदाजी का रण-शौर्य सर्व-विदित था उनकी भक्ति के समान ! इसीलिए संग्रामसिंह ने अपनी योजनाओं का निरीक्षण करने के लिए और निरीक्षण के बाद आवश्यक सूचनाओं के लिए दूदाजी को अपने पास बुलाया था। अपने दोनों पुत्रों को तो दूदाजी ने मेवाड़ की सेवा में समर्पित कर ही दिया था; आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं भी दुश्मनो से जूझने को तैयार हैं, इस बात का भी आश्वासन उन्होंने संग्रामसिंह को दे दिया। परन्तु राणाजी के मन में विकसित होनेवाली एक आकांक्षा उनको पसन्द न आयी।

संग्रामसिंह की योजनाओं के संबन्ध में चर्चा करने के बाद जब दूदाजी ने मेड़ता की ओर प्रयाण किया, तब उनके सम्मानार्थ स्वयं महाराणा दुर्ग

के द्वार तक साथ आये, और नीचे चित्तौड़नगर की सीमा तक उनको पहुँचाने के लिए अपने कुमार भोजराज को भेजा। संग्राम के गुप्त निवास के समय जो सोने की माला दूदाजी ने भोज को दी थी, वह अभी तक कुमार के गले में पड़ी हुई थी, यह देख कर दूदाजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। भोज ने भक्तराज को नगर की सीमा तक बड़े ही सम्मान के साथ पहुँचा दिया। उसके लौटने के बाद कुमार को याद करके दूदाजी बोल उठे :

'मेवाड़ के युवराज को अलंकार की क्या कमी ? तिस पर भी मेरी दी हुई माला वे अभी तक पहिनते हैं।'

'आपका प्रसाद किसको अच्छा न लगेगा ?' विजल ने कहा।

'मेरा नहीं, प्रभु का प्रसाद कहो !' दूदाजी बोले।

'प्रभु भी तो अपने ही भक्त द्वारा प्रसाद देते हैं न ? रावजी ! मेवाड़ की तैयारी देख कर आँखें खुल गयीं।' तेजल ने कहा।

'इस तैयारी पर प्रभु की कृपा हो, तभी वह सराहनीय कही जाय।' दूदाजी बोले।

'मरने-मारने की तैयारी पर क्या प्रभु की कृपा हो सकती है ?' यौवन-सुलभ नास्तिकता प्रदर्शित करते हुए हँसकर विजल ने प्रश्न किया।

'अवश्य ! जिस प्रकार जन्म प्रभु के हाथ में है, उसी प्रकार मृत्यु भी उनके हाथ में है......मृत्यु जन्म से भी अधिक गंभीर है......अधिक सत्य है.......अधिक पवित्र है।' दूदाजी ने कहा।

'रावजी ! मारने के समय यह सब याद रहता है ?'

'यह याद रहे, इसी के लिए मानव सतत प्रयत्नशील रहता है। हो सकता है, वहाँ तक प्रयत्न करता है। सत्य के लिए अभी हमको लड़ना-भिड़ना पड़ता है, इतने हम मानव...!'

'देव भी तो लड़ते हैं ?'

'मानव के लिए।'

'आपको राणाजी की यह सब तैयारी अच्छी नहीं लगी ?' विजल ने पूछा।

दूदाजी सहज हँस कर रह गये। उन्होंने कोई उत्तर दिया नहीं।

'आपने अपने मन की बात संग्रामसिंह से क्यों नहीं कही ?'

'कही थी....अपने तरीक़े से ।'

थोड़ी देर तक कोई कुछ बोला नहीं । घोड़े मंज़िल काटते हुए चले जा रहे थे, तेजल और विजल जैसे तेजस्वी युवाओं को संग्रामसिंह की सैनिक तैयारी देख कर बड़ा ही हर्ष हुआ था । जिन तैयारियों को देख कर परराज्य के गुप्तचर अपने-अपने सुल्तानों को चित्तौड़ पर चढ़ाई करने को मना करते थे, उनमें अनुभवी दूदाजी को किस बात की न्यूनता लगी, यह उन दोनों की समझ में न आया । दूदाजी बहुत बार अपनी व्यक्तिगत बातें इन रक्षकों से कह दिया करते थे । किस बात से वे अप्रसन्न थे, यह अभी तक उन्होंने तेजल और विजल से नहीं कहा । कदाचित् वह कहने योग्य न हो, ऐसी दोनों की धारणा हुई । दोपहर होते ही जब ये लोग एक तालाब और उसके किनारे पर स्थित एक मन्दिर के निकट पहुँचे, तब दूदाजी ने वहीं थोड़ा रुक कर विश्राम करने की इच्छा प्रदर्शित की । दूदाजी का तो उपवास था, अतः अपने दोनों रक्षकों को प्रसाद देकर वे मन्दिर के चबूतरे पर जाकर लेट गये । वीरों और भक्तों को दिन में नींद कहाँ ?

'रावजी ! नींद नहीं आती ?' तेजल ने पूछा ।

'नहीं । इस समय आँखें बन्द ही नहीं होतीं । और...प्रभु-स्मरण बिना ही नींद भी किस काम की ?' दूदाजी ने कहा ।

'संग्रामसिंह की चिन्ता दूर करने आप चित्तौड़ आये, परन्तु हम देख रहे हैं कि आप स्वयं किसी नयी चिन्ता को लेकर लौट रहे हैं ।' विजल ने दूदाजी के हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न किया ।

'बात सच है, विजल ! अनेक चिन्ताएँ थीं......चित्तौड़ से दो अधिक चिन्ताएँ लेकर जा रहा हूँ ।'

'दो चिन्ताएँ ?....आपको ?'

'क्यों ? मेरा मानव-हृदय चिन्ता किया ही करता है...जब असह्य हो जाता है, तब मैं उन्हें प्रभु के हाथ में सौंप देता हूँ ।'

'ऐसी कौन-सी दो चिन्ताएँ हैं ?'

'एक तो महाराणा की सामरिक तैयारी,' दूदाजी ने कहा।

'इससे चिन्ता क्यों हो ? यह तो चिन्ता की मुक्ति का साधन है।'

'यह तैयारी मेवाड़ या राजस्थान के रक्षण तक ही होती, तो उससे मुझे कोई चिन्ता न होती।'

'तब यह तैयारी किस बात के लिए है ?'

'संग्राम के एक ही आँख है, यह तो तुम जानते हो न ?'

'जी, यह तो उनके वीरत्व का चिन्ह है।'

'एक ही आँख से काम लेने के कारण उसकी एकाग्रता बढ़ गयी है.... उसकी शक्ति बढ़ गयी है....मेवाड़ से बहुत दूर तक वह पहुँचने लगी है।'

'इसका क्या अर्थ ? मेरी समझ में कुछ आया नहीं।'

'यह आँख दिल्ली तक पहुँच गयी है...अरे, दिल्ली से भी आगे !'

'इसमें बुराई क्या ? हिन्दूकुल दिवाकर भले ही सारे भारतवर्ष पर अपना प्रकाश फैलावें !'

'सूर्य और चन्द्र ये दोनों भगवान शिव के नेत्र हैं; तृतीय नेत्र अग्नि-नेत्र को तो महाकाल बन्द रखते हैं। सिसोदियों के लिए शिव भगवान ने मेवाड़ की सीमा बांध रखी है।'

'समझ में नहीं आया, रावजी !'

'मेवाड़ कोई संग्रामसिंह की संपत्ति नहीं,' दूदाजी ने कहा।

'तब वह किसकी है ?'

'भगवान शिव की......एकलिंगजी की ! महाराणा तो उनके अमात्य मात्र हैं; शिवजी की आज्ञा बिना वे मेवाड़ का विस्तार कर नहीं सकते।'

'कदाचित् ऐसी आज्ञा उन्हें मिली हो।'

'मैं नहीं मानता। इसीलिए मैं चिन्तित हूँ। यह तेजस्वी महाराणा एक पैर हिमालय के पार ले जाना चाहता है।'

'मुझे तो यह महत्वाकांक्षा प्रिय लगी।'

'सैनिक-विजय चिर-स्थायी नहीं होती। कितने ही सम्राटों के साम्राज्य अदृश्य हो गये।'

'एक समय मुसलमानों ने प्रायः सारी दुनिया पर अपना राज्य जमाया। आज यदि महातेजस्वी संग्रामसिंह हिन्दू धर्म के लिए जगत को जीत लें, तो उसमें बुराई क्या है?'

'मुसलमानों ने दुनिया पर अपना राज्य जमाया! भले ही ऐसी मान्यता हो। परन्तु यह विजय किसने प्राप्त की? उनके सन्तों ने, अथवा उनके सैनिकों ने?' दूदाजी ने प्रश्न किया।

'दोनों ने मिल कर।'

'यदि दोनों ने मिल कर यह विजय प्राप्त की होती, तो आज मुस्लिम साम्राज्य इतने टुकड़ों में विभक्त न हो गया होता। अपने हिन्दुस्तान में ही देखो। कितने मुस्लिम राज्य हैं? संग्रामसिंह भले ही सारे हिन्द को जीत ले, हिन्द के बाहर भी अपना विजय-ध्वज लहरावे: परन्तु उसकी शस्त्र-विजय के बाद तुरन्त ही उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जायगा....भूल गये? संग्राम और उसके भाइयों के बीच ही कितना वैमनस्य था? संग्रामसिंह का राज्य-लोभ मुझे बहुत अच्छा न लगा। मेरी यह पहिली चिन्ता!' दूदाजी ने स्पष्टीकरण किया।

संग्रामसिंह की शक्ति, वीरता और कुशलता के लिए दूदाजी को सम्मान था। परन्तु महाराणा के मुख से जब उन्होंने दिल्ली-विजय की बात सुनी, तब वे विचार में पड़ गये, और राणा की उस भावना को उन्होंने प्रोत्साहन नहीं दिया। महाराणा की यह इच्छा अभी किसी को विदित नहीं थी। केवल दूदाजी के सामने अन्य बातों की चर्चा करते हुए वे बोल गये थे कि इन सारी तैयारियों के पीछे दिल्ली-विजय और उससे भी आगे जाने की उनकी आकांक्षा है। महाराणा का यह ध्येय एक यशस्वी राज्यकर्ता के यशस्वी रूप ही था, इसमें कोई शंका नहीं। परन्तु दूदाजी के श्रद्धाशील हृदय को यह ध्येय रुचा नहीं। मेवाड़ के स्वामी तो भगवान चन्द्रमौलि! भारत-विजय की यदि उनकी इच्छा होती, तो आज तक कभी का यह कार्य उन्होंने पराक्रमी सिसोदियों द्वारा संपादित करा दिया होता। परन्तु यह हुआ नहीं। यह इस बात का स्पष्ट संकेत करता था कि भगवान शिव ने

सिसोदियों के पराक्रम की मर्यादा मेवाड़ तक ही सीमित कर दी है। मेवाड़ के रक्षण के लिए भले ही सर्वस्व की बलि चढ़ाना पड़े। शिव के मेवाड़ का रक्षण करना, यह सिसोदियों का परम धर्म है। परन्तु मेवाड़ की सीमा दिल्ली, उज्जैन या अहमदाबाद तक पहुँच जाय, यह भगवान शिव को मान्य हो, इसमें दूदाजी को सन्देह था। चक्रवर्ती बनने की सम्पूर्ण पात्रता धारण करने पर भी वापारावल, हम्मीर और कुंभा आदि राजाओं ने अपने राज-छत्र की मर्यादा मेवाड़ तक ही रखी, इसमें भगवान का सच्चा संकेत था। दूसरे राज्यों पर अपना अधिकार स्थापित करने का उद्देश्य कहीं मेवाड़ को अथवा हिन्दुस्तान को कोई दुःखद चमत्कार न दिखावे, यह शंका दूदाजी के मन में बनी हुई थी। और इसी बात की चिन्ता लेकर वे लौट रहे थे। संग्राम सिंह की शक्ति ने उनको मुग्ध अवश्य बना दिया था, परन्तु उनकी महत्वा-कांक्षा चिन्ता का विषय बन गयी थी।

'अभी वह प्रसंग तो आने दें, रावजी ! अभी से उसकी क्या चिन्ता ?' विजल ने धीरे से कहा।

'देखो भाई ! मैंने भी शस्त्र चलाये हैं। शस्त्र को ज्यों ही साफ़ करो, त्योंही वह अपना शिकार माँगता है—वध मांगता है। कुछ भी न मिले तो साफ़ किया हुआ भाला एकाध सुअर का पीछा करता है, यदि सुअर भी न मिला, तो अन्त में एकाध शशक का नाश किये बिना नहीं रहता। होगा वही जो प्रभु ने निर्धारित किया होगा। खैर ! चलो, आगे की मंज़िल तय करें।' दूदाजी ने कहा, और मुसाफ़िरी की तैयारी करके तीनों आगे बढ़े। इस समय कुछ ऐसी प्रथा-सी पड़ गयी थी कि राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार रानियाँ, सरदार और धर्मनिष्ठ धनिक रास्तों में स्थान-स्थान पर मन्दिर और धर्मशालाएँ बनवाते थे। भक्ति-मार्ग के प्रचार ने ऐसे अनेक सार्वजनिक स्वरूपों को प्रकट किया था। मन्दिर का स्थान छोड़कर आगे बढ़ते हुए तेजल ने पूछा :

'रावजी !' आपकी एक चिन्ता तो समझ में आ गयी; दूसरी चिन्ता कौन-सी है ?'

'यह चिन्ता तुम्हारी—तुम्हारे जैसे अविवाहित युवकों की समझ में नहीं आ सकती।' दूदाजी ने हँसकर कहा।

'तब भी क्या हुआ ? हमें कहने में कोई हर्ज है ?' विजल ने आग्रह किया।

'हर्ज तो कुछ भी नहीं......यह चिन्ता मेरे ही पागलपन का एक प्रकार है......कदाचित् वृद्धावस्था उसके लिए ज़िम्मेदार हो......क्या सभी वृद्धों के मन मेरे जैसे ही बन जाते होंग ?' अपनी निर्वलता प्रदर्शित करते हुए दूदाजी ने मुस्कराते हुए कहा।

'आपके मनोभाव में कौन-सा परिवर्तन हुआ ? हमको तो दिखाई नहीं पड़ता।'

'अरे यही...जयमल का मोह ! और....मीरां का मोह !...जिस मोह में से छूटने के लिए मैं व्रज जा कर रहा...वह मोह अभी ज्यों का त्यों बना हुआ है ! प्रभु की न जाने क्या मर्ज़ी है ?'

'प्रभु सब ठीक ही करते हैं।'

'अघटित-घटना-पटीयसी माया ! राज-द्वार छोड़कर प्रभु-द्वार का आश्रय लेने का निश्चय किया, तब भी राजद्वार छोड़ता नही। मोह, ममता छोड़कर प्रभु-चरणों में चित्त लगाया, तब भी व्रज की ओर पैर उठते नहीं...मन उनको मीरां-जयमल के दर्शन के लिए दूसरी ओर खींच रहा है।'

'इसमें आपत्ति ही क्या है ? दोनों को देख, मेड़ता होते हुए व्रज लौटने में कौन-सी रुकावट है ?'

'बच्चे हमको अकेले जाने न देंगे....मीरां मुझे देखकर कहेगी कि दादाजी छोड़ कर चले गये थे...इसका मैं क्या उत्तर दूँगा ?'

'रावजी ! बच्चों को साथ में लेकर भी व्रज में जायँ, तो क्या हर्ज है ?......उनको किसी प्रकार का कष्ट न होगा।'

'मेरी इच्छा है कि जयमल एक महान योद्धा बने, और राठोड़कुल का यश बढ़ावे....और मीरां महासती बनकर, विश्व में अपना प्रकाश फैलावे। मेरा साथ इनको भजन गाते-गाते भगत न बना दे, इस बात का भय होता

है...और इसीलिए मैं दूर हट गया था......परन्तु फिर वापस जा रहा हूँ.......कैसी विचित्रता है ?....संन्यास धारण करूं तब भी ये दो चिन्ताएँ तो बनी ही रहेंगी !'

'दूसरी ही चिन्ता समझ में नहीं आयी।'

'हाँ....देखो, किसी से अभी कुछ कहना मत, अच्छा, बताओ संग्राम के पुत्र को तुम दोनों ने ध्यान से देखा ?'

'जी हाँ। वही न, जो हम लोगों को चित्तौड़ नगर की सीमा तक पहुँचाने आया था ?' विजल ने कहा।

'कुमार बड़ा ही सुन्दर है ! सुनते हैं कि तीर चलाने में वह पिता से ही स्पर्धा करता है ! संग्राम से सवाया बनने की आकांक्षा रखता है।' तेजल ने कहा।

'मीरां का विवाह उसके साथ कर दें तो ?' दूदाजी के मुख से प्रश्न निकल गया।

'इसमें तो कोई बुराई नहीं, रावजी ! मेवाड़ के युवराज से बढ़कर दूसरा वर कहाँ मिलेगा ?' विजल ने अपनी सम्मति दी।

'परन्तु मैं तो केवल एक जागीरदार ठहरा। राजा-महाराजा तो हूँ नहीं ! संग्रामसिंह को यह सम्बन्ध स्वीकार होगा ?' दूदाजी ने अपनी शंका व्यक्त की।

'आप क्या बात करते हैं, रावजी ? आपको राजा-महाराजा बनना होता, तो कभी के बन गये होते ! यह तो आपकी धर्म-भावना बीच में आती है.......नहीं तो आप, आपके पुत्र और हमारे जैसे सेवकों ने मिल कर कभी का कोई राज्य खड़ा कर दिया होता...अभी भी......'

'प्रभु ऐसा राज्य खड़ा करने से बचावे ! यह...तो...देखा न ?...मेरा मन कहाँ-कहाँ जाता है, उसकी बात कर रहा था।' दूदाजी ने कहा।

'रावजी ! आप भले ही एक जागीरदार हों; परन्तु आपके बिना बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का काम नहीं चलता, इस बात को क्यों भूल जाते हैं ? अपनी सैनिक तैयारियों की परीक्षा के लिए और किसी को न बुलाकर महाराणा ने आपको ही आमन्त्रित किया।' तेजल बोल उठा।

'रही मीरां की बात !...अभी वह छोटी अवश्य है...परन्तु उसकी जैसी राजकुमारी भारत भर में से कोई खोज तो लाये ?' विजल ने कहा।

'यह मेरी दूसरी चिन्ता है, देखा न ? वृद्ध-हृदय में बच्चे कैसे चिपक जाते हैं ! यह एक प्रकार का पागलपन ही है; होता वही है जो भगवान ने निर्धारित्त किया है; मानव प्रयास मर्यादित्त होता है....तिस पर भी वृद्धत्व की लता दो आधार-स्तम्भों पर चढ़ती है; एक प्रभु-भक्ति का आधार और दूसरा बाल-भक्ति का...मेरे नाथ ! तुम्हारी इच्छा सर्वोपरि है' कह कर दूदाजी सन्तान-वात्सल्य की अपनी निर्बलता पर हँस पड़े, और उन्होंने मीरां के ननिहाल की ओर घोड़ों को तेज़ी से दौड़ाया।

गाँव निश्चित समय से पहले ही आ गया। सूर्योदय के पहले ही स्नान-ध्यान कर गाँव में प्रवेश करने की तैयारी में लगे हुए दूदाजी ने नदी के किनारे एक बालक को फूल चुनते हुए देखा। उस बालक को देखकर उनको जयमल का आभास हुआ।

'सामने वह जयमल तो नहीं है ? न जाने क्यों मुझे सर्वत्र इन दोनों बालकों का भ्रम हुआ करता है' आश्चर्य से दूदाजी ने पूछा।

यकायक घूमकर उस बालक ने इनकी ओर देखा। वह बालक वास्तव में जयमल ही था। फूल चुनते हुए उस बालक ने क्षण दो क्षण तक इन तीनों अश्वारोहियों को देखा। उसके बाद उसने ज़ोर से कहा :

'दादाजी ! आ गये ?...हम लोगों को छोड़कर कहाँ चले गये थे ?'

इतना कहकर फूल चुनते-चुनते वह बालक दूदाजी की ओर दौड़ा, और दादा की इच्छा की परवाह किये बिना उनकी देह से लिपट गया। दूदाजी को लगा मानो स्वयं बाल-कृष्ण व्रज से दौड़ते हुए आकर उनको भेट रहे हैं ! बालक के आलिंगन का उन्होंने ज़रा भी विरोध नहीं किया। वात्सल्य का भावावेश जब कुछ कम हुआ, तब दूदाजी ने पूछा :

'बेटा ! तुम यहाँ कहाँ ?'

'क्यों ? मीरां यहीं है न !'

'लेकिन यहाँ तो...तुम्हारा ननिहाल है नहीं...'

'मीरां को अकेले यहाँ अच्छा न लगा, इसलिए मैं चला आया...चाची ने मुझे बुलाया....और माँ ने भेजा...मुझे भी मीरां बिना मेड़ता में अच्छा न लगता था...' बालक जयमल ने कहा।

'तुम यहाँ फूल लेने आये हो? इतने सवेरे?'

'हाँ, दादाजी! मीरां को चाहिये न? भगवान की पूजा के लिए!'

'मीरां कहाँ है? यहाँ तो दिखाई नहीं पड़ती?'

'मीरां तो मन्दिर में है— रैदासवाले मन्दिर में।'

'मन्दिर में? अभी से? रोहिदास यहाँ आ गये?'

'हाँ। चाची बीमार है, इसलिए मीरां अधिक पूजा करती है, उसका सारा दिन पूजा में ही जाता है।'

'क्या कहा? चाची बीमार हैं?

'हाँ, दादाजी! बहुत बीमार हैं। वैद्यों का कहना है कि वे बचेंगी नहीं।'

'तुमको किसने कहा?'

'यही, घर में सब लोग बातें करते थे।'

दूदाजी ने जयमल को साथ लिया, और जल्दी-जल्दी दरबारगढ़ की ओर बढ़े। रैदास की पर्णकुटी बीच में ही आती थी। इस पर्णकुटी के पास ही पर्णकुटी सदृश एक मन्दिर बना हुआ था, जिसके चबूतरे के ऊपर रोहिदास, उनका शिष्य कृष्णचरण, मुसलमान सांईं और मीरां बैठे हुए थे। सबका मुख भगवान की ओर था और प्रभु को सम्बोधित करके वे प्रभात के गीत गा रहे थे। कृष्णचरण का मधुर कण्ठ सबके ऊपर उठकर भजन को बड़ा ही आकर्षक बना रहा था। मीरां आँखें बन्द करके प्रभु की ओर ध्यान लगाकर बैठी थी। अश्वारोहियों के आने का किसी को भी भान न रहा। अश्वों की रास पकड़कर आगे बढ़नेवाले दूदाजी और उनके साथी इस भजन-मण्डली के निकट आकर खड़े हो गये। बालक जयमल ने संकेत से सबको शान्त रहने का निर्देश किया, और भजन गानेवालों के अति निकट जाकर धीरे से मीरां के पास अपना संग्रहीत पुष्प-पुञ्ज रख दिया। जयमल की अति गम्भीरता देखकर दूदाजी के मुख पर स्मित आ गया। भजन पूरा हुआ। मीरां उठ कर खड़ी हुई, मूर्ति के पास गयी और उसने फूल चढ़ाये। तदु-

परान्त उसने बड़े ही भाव से भगवान को नमन किया, और दो-तीन पग पीछे हटकर एकत्र मण्डली की ओर देखा। बालिका मीरां की दृष्टि अपने दादा पर पड़ी और वह तुरन्त दौड़कर दूदाजी से लिपट गयी।

'दादाजी ! आप आ गये ? भगवान ने आपको यहाँ भेजा ? हमें छोड़-कर कहाँ चले गये थे ?' मीरां ने सहसा प्रश्न किये।

'हाँ बेटी ! मैं आ गया। भगवान ने मुझे भेजा...और तुम्हें छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ ?...देखो न, तुमको खोजता हुआ फिर यहाँ आ पहुँचा हूँ ...' दूदाजी ने बालिका को गाढ़ आलिंगन करने दिया। मीरां की पीठ और उसके मस्तक का धीरे-धीरे स्पर्श करनेवाले भक्त दूदाजी को क्षण भर के लिए ऐसा आभास हुआ मानो प्रभु का कोई बाल-स्वरूप उनसे लिपट गया हो....दूसरे हाथ से पास में खड़े हुए जयमल को उन्होंने अपनी ओर खींच लिया। दो बालकों को अपने दोनों हाथों में लेते हुए दूदाजी को वात्सल्य का अकथ्य अनुभव हुआ। क्या प्रभु पुत्र-पुत्री रूप में दर्शन नहीं दे सकते ? उनके मन में विचार आया। नन्द-यशोदा के घर में भगवान सन्तान रूप में ही प्रकट हुए थे ! इस समय कृष्ण के दोनों बालस्वरूप दूदाजी के हाथ में खेल रहे थे।

'दादाजी ! अब तो हमें छोड़कर न जाओगे, न ?' मीरां ने पूछा।

'तुम जैसा कहोगी बेटी ! वैसा ही मैं करूँगा....लेकिन तुम इतने सवेरे यहाँ आ गयीं ?'

'हाँ, दादाजी ! माँ की तबीयत अच्छी हो जाय, इसलिये मैं रोज भगवान की प्रार्थना करती हूँ। परन्तु अभी तक वे मेरी प्रार्थना सुनते नहीं। आपकी प्रार्थना दादाजी ! वे जरूर सुनेंगे।'

'माँ को क्या हुआ, बेटी !'

'यह तो नहीं जानती....लेकिन वह बहुत बीमार हैं। बिस्तर पर से उठ भी नहीं सकतीं...मैं बहुत प्रार्थना करती हूँ...लेकिन तब भी भगवान उसको अच्छी नहीं करते...'

'चलो, बेटी ! पहिले तुम्हारी माँ के पास चलें...रोहिदास, साँई !

लौटकर मैं आपसे मिलता हूँ....जय श्रीकृष्ण !' कहकर दूदाजी ने सबको नमस्कार किया। चबूतरे के नीचे से कृष्णमूर्ति के दर्शन होते थे। उस मूर्ति को दूदाजी ने नमस्कार किया और मीरां तथा जयमल को साथ में लेकर वे अविलम्ब दरबारगढ़ में आये।

'बेटी ! तुम्हारे पिता कहाँ हैं ?' गढ़ में प्रवेश करते हुए दूदाजी ने पूछा।

'पता नहीं। कल ही यह खबर मिली कि वे राणाजी के लश्कर की तैयारी में लगे हुए है, और हाथी खरीदने के लिये चांपानेर गये हैं,' मीरां ने उत्तर दिया।

'माँ की बीमारी के समाचार मुझे क्यों नहीं भेजे ?'

'माँ ने मना किया था। आपकी यात्रा में विघ्न न आवे इसलिये.... लेकिन फिर रोहिदास भक्त को इसी के लिए भेजा था...सब लोगों ने मना किया, तब भी मैंने तो भेजा....मुझे इस बात का विश्वास था कि दादाजी के आ जाने पर प्रभु जल्दी प्रसन्न होंगे...'

गढ़ में असाधारण शान्ति थी। दूदाजी के आ जाने की खबर सबको लग गयी थी। मीरां के ननिहाल पक्ष के लोग दौड़ते हुए आये और दूदाजी को मानसहित अन्दर ले गये। दूदाजी ने पूछा:

'बहू की तबीयत कैसी है ? कैसे बीमार पड़ गयी ? कोई अच्छा वैद्य नहीं मिला ?'

'दादाजी ! माँ तो कहती हैं :'

"औषधं जान्हवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः" मीरां ने उत्तर दिया।

मुझे बहू के पास ले चलो, दूदाजी ने कहा।

'आप जरा आराम करें....'समधीपक्ष के अग्रणी ने कहा।

'आराम उसको देखने के बाद...चलो।'

दूदाजी के आग्रह पर लोग उनको पुत्र-वधू के पास ले गये। एक शान्त खण्ड में पलंग के ऊपर वह सोयी हुई थी। आस-पास तीन-चार परिचारिकाएँ सेवा में लगी हुई थीं। खिड़कियाँ यद्यपि अधिकांश बन्द थीं,

तथापि खण्ड में काफ़ी प्रकाश था। एक ओर वैद्यराज बैठे हुए नि:शब्द दवा खरल में घोट रहे थे। सबके मुख पर गांभीर्य की अपेक्षा सन्ताप अधिक दिखाई पड़ता था।

रणभूमि या प्रभु चरण में सर्वस्व समर्पित करने की क्षमता रखनेवाले दूदाजी हृदयहीन कठोर मानव-यंत्र न थे। बीमारी के समय भी सामाजिक विवेक स्वरूप संकोच में पड़ी हुई पुत्र-वधू की मानसिक स्थिति को समझते हुए वे उसके पास पहुँच गये, और मस्तक पर हाथ फेरते हुए बोले :

"बेटी! पिता के पास संकोच की आवश्यकता नहीं....प्रभु तुमको अच्छा कर देंगे।'

'पुत्र-वधू की आँखें सजल हो आयीं। दूदाजी से किसी के भी आँसू देखे न जाते थे। वे तुरन्त विह्वल हो जाते थे। तिस पर यहाँ तो पुत्री-तुल्य उनकी पुत्र-वधू की आँखों में आँसू थे।

'आँख में आँसू न लाओ, बेटी! इतना बड़ा प्रभु हमारी रक्षा के लिए खड़ा है!' दूदाजी ने कहा।

'आँसू मैं अपने लिए नहीं गिराती। इस विचित्र लड़की...मीरां का क्या होगा?'

'इसकी चिन्ता करती हो?....मैं जीवित रहूँगा, तब तक इसे अपनी छाती से लगाकर रखूंगा....मेरा, तुम्हारा और इसका प्रभु कहीं दूर गया है?' दूदाजी ने कहा।

'चाची! मैं हूँ न बहिन के पास?....मैं उसे एक क्षण के लिए भी छोड़ कर कहीं न जाऊँगा,' कुछ समझते हुए, कुछ न समझते हुए बालक जयमल के मुख से उद्‌गार निकले, और उसने पास में खड़ी हुई मीरां का हाथ पकड़ लिया।

'मां! अब दादाजी आ गये हैं। हम दोनों मिलकर भगवान की प्रार्थना करेंगे, और वे जल्दी ही तुमको अच्छा कर देंगे। तुम ज़रा भी चिन्ता न करो,' मीरां ने भी माता को आश्वासन दिया।

बालकों की ऐसी निष्ठा किसी अन्य प्रसंग पर हास्य अथवा विनोद

की प्रेरक होती; परन्तु इस समय तो उसने वातावरण को और अधिक गंभीर बना दिया।

मीरां की माता की बीमारी असाध्य बन गयी थी। दूदाजी के व्रजवास की अवधि में वह अपने नैहर आयी। यहाँ आने का मुख्य कारण यह था कि स्थानान्तरण से मीरां अपने दादा के वियोग को भूल जायगी। नैहर आने के बाद उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। धीरे-धीरे सुधरने के बदले ख़राब ही होता गया, और अन्त में वैद्यों ने परिस्थिति को गंभीर बताया। उसके मां-बाप और भाई ने इस बीमारी का समाचार रत्नसिंह के पास भेजा, परन्तु वह तो कभी का हाथी-घोड़े ख़रीदने के लिए तथा जहाँ तक हो सके स्थानीय परिस्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए गुजरात की ओर गया था। दूदाजी को बुलाने की पुत्र-वधू ने अनिच्छा प्रकट की; कारण इससे उनके धर्मकार्य में बाधा पड़ती। मीरां ने जब देखा कि उसकी प्रार्थना प्रभु नहीं सुनते, और माता की तबीयत दिन पर दिन ख़राब ही होती जाती है, तब उसकी बालक-बुद्धि में यह आया कि वह अपनी माता की बीमारी का समाचार किसी प्रकार दूदाजी को पहुँचाए, और वे आकर प्रार्थना द्वारा प्रभु को मना लें। इस इच्छा से बालिका ने एक दिन रोहिदास से कहा :

'रोहिदास ! आप दूदाजी को क्यों न बुला लावें ?'

'क्यों, बहिन ?'

'माँ को वे ही अच्छा कर सकते हैं। हम लोगों में से किसी की प्रार्थना प्रभु सुनते नहीं हैं।'

व्रजयात्रा की इच्छा बहुत समय से रोहिदास के हृदय में लगी थी। मीरां की वाणी ने उसको और बढ़ा दिया। तुरन्त अपने शिष्य कृष्णचरण को साथ लेकर वे निकल पड़े और व्रजभूमि में पहुँच गये।

दूसरी ओर संग्रामसिंह को दूदाजी की आवश्यकता पड़ी। उनके जैसे निष्णात, निष्पक्ष और वयोवृद्ध शुभेच्छु का अभिप्राय मात्र भी काफ़ी क़ीमती था। गुजरात, मालवा और दिल्ली के त्रिपक्षी व्यूह में मेवाड़ चूर-चूर

न हो जाय, इस विषय की लश्करी तैयारी ने संग्रामसिंह को एक नयी शक्यता की झाँकी करायी। मेवाड़ की प्रभूत सैनिक तैयारी और शक्ति ने संग्राम के मन में आत्म-रक्षण के स्थान पर तीनों मुसलमान राज्यों पर एक साथ आक्रमण करने की महत्वाकांक्षा को जन्म दिया। इतना ही नहीं, महाराणा को यह भी प्रतीत होने लगा कि उनकी शक्ति इन राज्यों पर ही नहीं, अपितु हिमालय के उस पार तक मेवाड़ के हिन्दूपद का साम्राज्य स्थापित कर सकती हैं। इस शक्ति के वास्तविक मूल्यांकन की क्षमता केवल दूदाजी में थी। इसलिए महाराणा ने दूदाजी को अविलंब आने का आमंत्रण भेजा।

मीरां से बहुत दिनों तक पृथक् रहने के कारण दूदाजी का भी मन विह्वल हो उठा था। प्रभुस्मरण की जगह मीरां-स्मरण बढ़ने लगा था। अतः उनकी भी यही इच्छा शीघ्र मेड़ता लौट जाने की हो चुकी थी।

इस प्रकार तीन ओर के आकर्षण ने यात्रार्थ निकले हुए दूदाजी के पैर राजस्थान की ओर मोड़ दिये। चित्तौड़ पहुँच कर उन्होंने संग्रामसिंह की सैनिक तैयारी देखी। उसको देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए, और अपनी प्रसन्नता उन्होंने महाराणा के समक्ष प्रकट भी की; परन्तु इस तैयारी के पीछे जब उनको राणा की विश्व-विजय करने की महत्वाकांक्षा दीख पड़ी, तब वे खिन्न हो गये, और इस खिन्नता को स्पष्टरूप में उन्होंने प्रकट भी कर दिया। वे मीरां के पास जाने के लिए इतने उत्कंठित हो गये थे, कि महाराणा के मन में अपनी बात को बैठा देने के लिए वे रुके नहीं। और जब वे मीरां के पास पहुँचे, तब उसकी माता को मृत्युशैय्या पर पड़ी हुई देखा। वे जानते थे कि यद्यपि मीरां उनको बहुत ही प्रिय थी, तथापि माता का अनोखा स्थान उनको कभी मिल नहीं सकता।

माता की व्याधि इतनी बढ़ गयी थी कि किसी भी क्षण उसकी मृत्यु हो सकती थी। एक दिन बीता, दो दिन, पाँच दिन बीते और एक सप्ताह

भी बीत गया। शरीर इतना क्षीण हो गया था कि देखने वालों को उसके प्रति दया आती थी। परन्तु मीरां की प्रार्थना का क्रम तो चलता ही रहा, और उसको यह दृढ़ विश्वास था कि भगवान उसकी माता को अवश्य बचा लेंगे। दूदाजी भी नित्य मीरां के साथ प्रार्थना में सम्मिलित होते, और कृष्णचरण के साथ विकसित होने वाले मीरां के कण्ठ-माधुर्य को अपने हृदय में स्थान देते थे।

आठवें दिन घोड़े को सरपट दौड़ाता हुआ मीरां का पिता रत्नसिंह वहाँ आ पहुँचा। पत्नी की असाध्य बीमारी का समाचार पाते ही गुजरात में अपने महत्व के काम को छोड़ कर वह तुरन्त वापस आया, और घोड़े पर से उतर सीधा पत्नी की शैया के पास दौड़ा गया। पत्नी के प्राण केवल पति-दर्शन के लिए ही शरीर में अटके हुए थे। यकायक उसने पति को अपने पास खड़े हुए देखा। रोगी की परिचर्या में लगे हुए सब लोग वहाँ से हट गये, और पति-पत्नी की आँखें मिलीं।

पति-पत्नी जब एकान्त में मिलें, बहुत समय के बाद मिलें, क्षण क्षण मृत्यु को पीछे हटाने वाले परिश्रम के अन्त में मिलें, तब नेत्र, मुख, देह और आत्मा परस्पर क्या वार्तालाप करते होंगे, इस बात का ज्ञान तो स्नेहियों को ही होगा। क्षण, पांच क्षण, और एक घटिका बीत गयी; बाहर खड़े हुए लोगों की व्यग्रता बढ़ने लगी। इतने में रोगी के खण्ड में से मुख बाहर करके रत्नसिंह ने कहा :

'मीरां सबको लेकर अन्दर आओ।'

जल्दी-जल्दी सब लोग अन्दर गये। पुत्रवधू के मुख पर असाधारण तेज देखकर दूदाजी का हृदय वेदना से अभिभूत हो गया। उसके मुख पर स्मित था, जीवन-साफल्य की परम शान्ति थी। असन्तोष की एक भी रेखा दिखाई न पड़ती थी।

'मीरां! मेरे पास आओ, माता ने मीरां को बुलाया और बालिका मीरां माता के पास आकर खड़ी हो गयी।

'दादाजी को भी बुला ले। उनके पवित्र चरणों का मैं स्पर्श कर लूँ।' बड़े ही मन्द स्वर में मीरां की माता ने कहा।

दूदाजी के हृदय में स्पन्दन होने लगा। अपने चरणों को उन्होंने कभी भी किसी के स्पर्श का पात्र समझा न था। पुत्र-वधू के निकट आकर उन्होंने अपना हाथ उसके मस्तक पर रखा; वहू ने बलपूर्वक उसको आँखों पर लगाया।

'जयमल कहाँ है?' चुपचाप खड़े हुए अपने भतीजे को चाची ने याद किया।

'यह रहा, चाची!' कहता हुआ जयमल पास जाकर खड़ा हो गया।

भक्तराज दूदाजी का पवित्र हाथ पुत्र-वधू के मस्तक पर ही रहा। मीरां की माता ने बलपूर्वक अपने हाथों से जयमल और मीरां के हाथ सहलाये और उनको अपनी ओर खींचा।

'देखना, बेटा! बहिन का खयाल रखना!'

परिस्थिति को पूरी न समझनेवाले जयमल का हृदय वेदना से कम्पित हो उठा। दूर खड़े हुए अकथनीय असहायता का अनुभव करनेवाले अपने पति की ओर देखकर पत्नी ने सहज स्मित किया और धीमे स्वर में कहा:

'ऐसी सौभाग्यदायिनी मृत्यु...देवों को भी दुर्लभ....'

शब्द ओष्ठ पर ही रह गये। मुख पर आया हुआ स्मित जहाँ का तहाँ स्थिर हो गया। पति की ओर लगायी हुई दृष्टि उसी ओर लगी रही। मीरां और जयमल को पकड़े हुए हाथ छूट गये। भक्तराज दूदाजी का हृदय रो उठा। आँखों से अश्रु की धारा बह चली। उनके अवरुद्ध कण्ठ से उद्गार निकले:

'मेरी लक्ष्मी जा रही है...बेटा! बोलो ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म...' और आगे उनका कण्ठ चला नहीं।

मीरां और जयमल ने दादाजी की आज्ञा से श्लोक को पूरा किया:

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

दोनों बालकों को क्या खबर कि मीरां की माता का शरीर परमगति को प्राप्त हो चुका था। दूदाजी ने अपनी तुलसी-काष्ठ की माला गले में से निकाल कर पुत्रवधू के कण्ठ पर रख दी, और पैर टूट गये हों ऐसे विवश होकर पृथ्वी पर बैठ गये। चारों ओर खड़े हुए लोगों के मुख पर अश्रु-धारा बह रही थी। धीरे-धीरे मीरां की समझ में आया कि क्या हुआ और वह बोल उठी :

'दादाजी ! मेरी और आपकी...किसी की भी...प्रार्थना भगवान ने नहीं सुनी ?'

इन शब्दों ने सबके रुदन को वेग प्रदान किया।

मीरां—नन्हीं मीरां बिना माता की हो गयी !

विवाह का समाधान

१

रोहिदास के चबूतरे पर होनेवाला भजन पूरा हुआ और दूदाजी ने उठ कर मूर्ति को साष्टांग दण्डवत प्रणाम करते हुए कहा :

'जय गिरिधारी ! गिरिराजधारी ! गोवर्धनधारी ! जय !'

अन्य लोगों ने भी अपने-अपने ढंग से उस पवित्र मूर्ति के दर्शन किये और प्रार्थना-वचनों का उच्चार किया।

'दादाजी ! भगवान ने तो माँ को बचाया नहीं....' यकायक मीरां के मुख से उद्‌गार निकले। उसकी माता का दुःख अभी ताजा ही था।

'ऐसा विचार न करो, बेटी ! प्रभु का नाम लेकर अपने से जितना हो सके उतना अवश्य करना चाहिये। तिस पर यदि अपनी इच्छा पूरी न हो, तो समझना चाहिये कि प्रभु की मर्ज़ी कुछ दूसरी है....और प्रभु तो सर्व समर्थ हैं ..सब काम उन्हीं की इच्छा के अनुसार होता है !' दादाजी ने उत्तर दिया।

'हमने तो सिर्फ़ माँ को जीवित रखने की प्रार्थना की थी, यह कोई बुरी मांग तो थी नहीं ?'

'प्रभु को वह पसन्द न था; उन्होंने माँ को अपने पास बुला लिया।'

'प्रभु हम सबको एक साथ अपने पास क्यों नहीं बुला लेते ?'

'बेटी ! हमारी इच्छा और प्रभु की इच्छा पृथक् भी हो सकती है।'

'प्रभु यह क्यों नहीं बता देते कि उनकी क्या इच्छा है ?'

'बता भी देते हैं......जैसी अपनी भावना !'

'मुझे भगवान से बहुत-कुछ पूछना है। उत्तर न मिलेगा, तब तक पूछती ही जाऊँगी।'

'अच्छा बेटी ! अपना तन और मन शुद्ध हो, तो प्रभु की इच्छा अपने-आप समझ में आ जायगी।'

'मैं वही करूँगी, दादाजी ! जब तक प्रभु मेरे प्रश्नों का उत्तर न देंगे, तब तक मैं उन्हें छोड़ूंगी नहीं।'

'ऐसी ज़िद भी ठीक नहीं ! हमारे में पात्रता आते ही भगवान अपने-आप प्रकट हो जायँगे।'

'वे कहाँ से प्रकट होंगे ?'

'हवा में से, तेज में से, पानी में से, पृथ्वी में से, आकाश में से...'

'इस मूर्ति में से निकलकर प्रकट हो सकते हैं, या नहीं ?'

'क्यों नहीं। प्रभु के लिए कुछ भी अशक्य नहीं...कल मेड़ता चलेंगे.... वहाँ पहुँचकर तुमको ऐसे गुरु के पास रख देंगे, जो इन सब बातों को विस्तार से समझाएँगे।'

'कल ही मेड़ता जाना है ?'

'हाँ, बेटी !'

'तो हम इन भगवान को भी साथ लेते चलें ?'

'कौन-से भगवान ?'

'ये जो सामने हैं...गोवर्धनधारी...गिरिधरलाल...., दादाजी ! इन्होंने गिरिराज को उठा लिया था, इसीलिए गिरिधर कहलाये न ?'

'हाँ, बेटी ! लेकिन ये तो रोहिदास के भगवान हैं। हम इन्हें कैसे ले जायँ ?'

'क्या रोहिदास के भगवान अपने नहीं ? मैं तो इन्हीं की प्रार्थना करती आयी हूँ। और दादाजी ! जब-जब मैं प्रार्थना करती हूँ, तब-तब वे स्मित करते हैं। जब तक ये उत्तर न दें, तब तक मेरे पास क्यों न रहें ?' मीरां ने पूछा।

मीरां के प्रश्न और उत्तर बड़े ही विचित्र प्रकार के थे। उसकी जिज्ञासा को संतुष्ट करना सरल न था।

'तब बहिन ! मैं सेवा कैसे करूँगा...यदि तुम भगवान को ले जाओगी ?'

मीरां को लगा कि रोहिदास की बात सच्ची है। वह मूर्ति रोहिदास की थी।

'मुझे यह मूर्ति बहुत प्रिय है। जब यह स्मित करती है, तब मुझे ऐसा आभास होता है कि यह कुछ कह रही है। मुझे तो यही सुनना था कि यह क्या कह रही है।...खैर, रोहिदास की सेवा में विघ्न डालना ठीक नहीं।' कहकर मीरां चुप हो गयी।

मीरां, दूदाजी और जयमल आदि वहाँ से चले गये, तब सांईं ने रोहिदास से कहा :

'रोहिदास ! एक मूर्ति देने से पीछे हट गये ? तुम्हारा प्रभु इसी मूर्ति में वास करता है, या सर्वव्यापी है ?'

'है तो सर्वव्यापी ! परंतु यह मूर्ति मेरे गुरु की दी हुई है। इस मूर्ति द्वारा चराचरव्यापी प्रभु की मैंने झाँकी पायी है....इसलिए मोह होता है... छोड़ने की इच्छा नहीं होती। यह मूर्ति दक्षिण की कला का नमूना है... बड़ी ही मनोमोहक है !'

'अरे क्या कह रहे हैं, भक्तराज !...अगर ऐसी छोटी लड़की माँगने आये, तो हम सूफ़ी हाथ में आये हुए ख़ुदा को भी दे दें !... ख़ुदा के बन्दे हो, तो बराबर देते जाओ, देते जाओ ! जो भी माँगे, उसे दो ! आदमी की मुट्ठी में ख़ुदा ने ख़ज़ाना भर दिया है...वह कभी घटता नहीं।' कहकर सांईं ने अलख जगाया।

'सांईं ! अलख तो हमारा साधु-बोल है !'

'साधु-बोल हमारा कैसा और आपका कैसा ? भक्तराज ! मूर्तियों में मन लगा रहेगा, तो इस ख़ल्क को मुट्ठी में लेकर घूमनेवाला ख़ुदा कैसे हाथ लगेगा ?'

'मूर्ति तो हमारे प्रभु को देखने का यन्त्र है...दूरबीन है, जिसके द्वारा

सारी खुदाई के दर्शन होते हैं....मीरां ज़रा और बड़ी हो जाय, तो उसे अवश्य यह मूर्ति दे दूँगा....मुझसे दीक्षा लेने पर !'

'देने में शर्त कैसी ?...लियाक़त कैसी ?...दीक्षा कैसी ?....देने में हिचको नहीं...बस देते जाओ ! मुसलमानों से इतना तो सीखो कि फ़ना ही सब से बड़ी दौलत है !' सांई ने कहा, और कहकर चुप हो गये। रोहिदास भी कुछ बोले नहीं।

धीरे-धीरे रात बीतती चली। पिछली रात यकायक रोहिदास जाग पड़े, और उन्होंने कृष्णचरण को जगाकर कहा :

'बेटा ! यहां से अब हम लोगों को चले जाना होगा।'

'क्यों ?'

'प्रभु ने आज्ञा दी है।'

'हमको कहाँ जाना होगा ?'

'प्रभु जहाँ ले जायँ, वहाँ।'

'मुझे भी साथ ले जाने की आज्ञा हुई है ?'

रोहिदास विचार में पड़ गये। प्रभु की आज्ञा में कृष्णचरण को साथ में ले जाने का कोई उल्लेख न था।

'ऐसी तो कोई आज्ञा नहीं मिली है...क्यों, मेरे साथ आने की इच्छा नहीं है ?' रोहिदास ने पूछा।

'क्यों नहीं ?...अवश्य आऊँगा...सिर्फ़ इतना ही...कि मीरा आज जा रही है...उसके विदा होने के बाद, यदि आपकी आज्ञा होगी, तो मैं चलूंगा...परन्तु यहां प्रभु की पूजा कौन करेगा ?' कृष्णचरण ने कहा।

'प्रभु तो जा रहे हैं......मीरां के साथ...'

'अच्छा ! भगवान ने यह भी बताया...मैं भी प्रभु के साथ जाऊँ तो ?'

'हाँ, खुशी से जा सकते हो।'

गुरु और शिष्य दोनों ने स्नान किया, और नित्य-नियम के अनुसार पूजा-सामग्री तैयार की। प्रभात होते ही स्थान छोड़ने के पहिले दूदाजी, मीरां तथा जयमल दर्शन के लिए वहाँ आ पहुँचे। मीरां के निकट जाकर रोहिदास ने कहा :

'बहिन ! ये भगवान तुम्हारे साथ आना चाहते हैं ।'

'इसका अर्थ ?' ज़रा चकित होकर मीरां ने पूछा ।

'यही...मुझे प्रभु की आज्ञा मिली है कि गिरिधारीलाल को तुमको सौंप देना ।'

'कब ?'

'रात में...स्वप्न में आकर भगवान ने मुझे आज्ञा दी । बहिन ! तुम्हारे प्रताप से मुझे प्रभु के दर्शन मिले ।'

'दर्शन तो स्वप्न में हुए न ?' किसी ने प्रश्न किया ।

'स्वप्न में ही औरों की अपेक्षा भगवान के दर्शन हों, तो क्या बुरा ?' रोहिदास ने कहा ।

'तब आप क्या करेंगे ? किसकी पूजा करेंगे ?' मीरां ने अपनी चिन्ता व्यक्त की ।

'मेरी पूजा पूरी हो गयी...अब एक नहीं, अनेक मूर्तियों की पूजा करूँगा ।...जहाँ-जहाँ मेरी दृष्टि पड़ेगी, वहाँ-वहाँ मुझे गिरिधारीलाल के दर्शन मिलेंगे...प्रभु की आज्ञा है...मैं पुनः यात्री बनकर तीर्थाटन करूँगा ।' रोहिदास बोले ।

'फिर इस मन्दिर का क्या होगा ?'

'मूर्ति चली जाने पर मन्दिर कैसा ?...कृष्णचरण की इच्छा हो, तो वह भले ही यहाँ रहकर मंदिर सँभाले, और दूसरी मूर्ति ले आये....'

'गुरुजी ! मैं भी इस मूर्ति के साथ जाऊँगा ।' कृष्णचरण ने कहा ।

'तात्पर्य ?'

'यही कि इस मूर्ति के बिना मेरे कण्ठ में से स्वर नहीं निकलेंगे... इसलिए मुझे भी मीरां साथ ले जाय...' कृष्णचरण ने उत्तर दिया ।

'कोई न रहे, तो मैं यहीं पड़ा रहूँगा...बिना मूर्ति के मन्दिर में.... बिना मूर्ति खण्डित किये यहाँ एक पाक तकिये की रचना होगी,' साँई ने कहा ।

क्षण भर के लिये वहाँ स्तब्धता छा गयी ।

पहिली रात जिस मूर्ति की मीरां ने आकांक्षा की थी, वह प्रभात होते-होते उसे मिल गयी। कनीनिका पर गोवर्धन पर्वत धारण करनेवाली अंगुलिमुद्रा में, त्रिभंगाकृति में और स्मित-सुशोभित मुख में मीरां को किसी जीवन्त दिव्यतत्त्व के दर्शन हुआ करते थे। उसको इस बात का बराबर आभास हुआ करता था कि यह मूर्ति अवश्य उसके साथ बोलेगी, बात करेगी, गायेगी, खेलेगी और आवश्यकता पड़ने पर सलाह भी देगी। सलाह से भी अधिक वह कुछ देगी, इसका उसको पूरा भरोसा था—यद्यपि उसकी एक प्रार्थना को मूर्ति ने स्वीकार नहीं किया। उसकी माता का रोग अच्छा हो जाय और वह जीवित रहे, यह माँग उसने मूर्ति से की थी। परन्तु प्रभु ने स्वीकार नहीं की, और जब-जब मीरां प्रभु से इसका कारण पूछती, तब-तब मूक रह कर स्मित करते हुए वे उसे देखा करते। उनके मुख पर दया का भाव था, परन्तु दया के बोल निकलते न थे।

'इसी मूर्ति को मैं मुखर बनाऊँगी। जो उसमें प्रभु होंगे, तो वे अवश्य मेरे साथ बोलेंगे,' मीरां ने निश्चय किया।

'किस विचार में डूबी हो, बेटी?' मूर्ति के सामने एकाग्र होकर खड़ी रहनेवाली मीरां से दूदाजी ने पूछा।

'कुछ नहीं, दादाजी! मैं सोच रही थी कि यदि यह मूर्ति भगवान की ही है, तो वह मेरे साथ बात क्यों नहीं करती?'

'ऐसे विचार कभी मन में लाना नहीं। प्रभु के सामने हठ करना उचित नहीं...प्रभु को यदि बोलना होगा, तो वे बिना कुछ कहे अपने आप बोलेंगे....तुमको याद है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्।
आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः॥
आश्चर्यवच्चैवमन्यः शृणोति।
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

अतः हठ का विचार छोड़ दो,' दूदाजी ने मीरां को शिक्षा दी।

मूर्ति में से देव का विसर्जन होने के बाद, उस मूर्ति को साथ में लेकर मातृहीना मीरां अपने दादा के साथ मेड़ता आयी। साथ में कृष्णाचरण भी आया। मेड़ता में मीरां के लिए एक छोटा-सा मन्दिर भी निर्मित कराया गया, और उस मूर्ति में विधिपूर्वक कृष्ण का आवाहन कर गिरिधारीलाल की वहाँ प्रतिष्ठा हुई। इस अवसर पर वहाँ उत्सव भी मनाया गया। किशोरावस्था में से युवावस्था में पदार्पण करनेवाले साधु कृष्णाचरण को इस मन्दिर की देखभाल और मूर्ति की पूजा का कार्य सौंप दिया गया। यह मन्दिर मीरां का था, इसलिये मन्दिर का सारा कार्य मीरां की इच्छानुसार होता। और बाल्यावस्था में से किशोरावस्था में प्रवेश करनेवाली इस राजकुमारी का संपूर्ण जीवन इस मन्दिर और इस मूर्ति के आसपास गुँथा रहता। मीरां को कभी खोजना हो, बुलाना हो, तो वह सदा मन्दिर में मिला करती!

प्रभात में सबसे पहिले उठ कर वह स्नान करती। निश्चित बगीचे में जाकर अपने हाथ से फूल संचित करती, और उनकी माला बनाती। प्रभात गीतों को गाकर वह प्रभु को जगाती, उनको स्नान कराती, भोग लगाती, मनोरंजन की व्यवस्था करती, विश्राम कराती, वस्त्रालंकार धारण कराती और भगवान के स्मित को देखती हुई उनका ध्यान करती। शीत ऋतु में जब उसको ठंड लगती, तब तुरन्त उसके मन में प्रश्न उठता :

'मेरे गिरिधारीलाल को भी जाड़ा लगता होगा! उनको आज से ऊनी वस्त्र धारण कराऊँगी।'

अपने हाथ से वह सुन्दर ऊन के वस्त्र तैयार करती, और उनको इस ढंग से पहिनाती, जिससे मूर्ति का सौन्दर्य बढ़ जाय। इतना ही नहीं, जाड़े के दिनों में मन्दिर के अन्दर वह अँगीठी भी जलाकर रखती, जिससे भगवान को शीत का कष्ट न हो। यह अँगीठी इस प्रकार रखी जाती कि प्रभु की देह को अधिक गर्मी भी न लगे।

मनुष्य सुवासित और सह्य जल से स्नान करना पसन्द करता है। अपने लिए जब उसे ऐसी स्नान-सामग्री चाहिए, तो प्रभु के लिए वैसा ही प्रबन्ध क्यों न हो? प्रभु तो मानव-नियन्ता है। उन्हें तो स्नान के लिए सब से

शुद्ध जल चाहिए, सर्वोत्तम सुवास से भरा हुआ, और त्वचा को कोई कष्ट न पहुँचे ऐसी उष्णतावाला ! सो भी मीरां अपने ही हाथ से भगवान को स्नान कराती। मनुष्य अपने शरीर की रक्षा के लिए जितना ख़याल रखता है, कम से कम उतना ख़याल अपने इष्ट-देव के लिए तो रखना ही चाहिये ! 'देह को, सो देव को !' यह कहावत मीरां को याद आयी, और वह इस कहावत के सच्चे अर्थ को समझ गयी।

केसर-चन्दन का लेप मनुष्य को प्रिय है। वह देवता को प्रिय क्यों न लगे ? मीरां अपने हाथ से चन्दन-केसर घिसती, उसे स्वर्ण कटोरी में उठा कर अपने हाथ से ही भगवान को तिलक लगाती, और उनके वक्ष और हाथ पर उसका लेपन करती।

पुष्प सरीखा सौन्दर्य और कहाँ मिलेगा ? और यदि भगवान सौन्दर्य के साररूप हों, तो पुष्प उन्हीं को चढ़ने चाहिये।

हाँ, बात सत्य थी। मीरां को भी फूल बहुत पसन्द थे। उसे हाथों में पुष्पों के गजरे बांधने की इच्छा होती, और गले में फूलों की माला पहिनने की। कभी-कभी माथे में पुष्पों की वेणी बनाकर बांधती और अपना मुख दर्पण में देखती। परन्तु उसकी भावना तो यह थी कि जो वस्तु उसे स्वयं प्रिय हो, उसे प्रथम प्रभु को समर्पण करना चाहिये।

प्रभु को समर्पित पुष्प ही वह धारण करे तो ? इससे अच्छा और क्या हो सकता है। प्रभु को समर्पित की हुई पुष्प-माला यदि उसके कण्ठ में रहे, तो वह हृदय में सतत प्रभु का स्मरण कराया करे ! एक तो पुष्प जैसी सुन्दर वस्तु, उस पर प्रभु को चढ़ाई हुई ! मीरां ने निश्चय किया कि भविष्य में पुष्प-वेणी, गजरे और माला पहिले भगवान को चढ़ाकर तब उन्हें धारण किया करेगी। ऐसी पुष्प-मालाओं का शृंगार कर वह कभी-कभी अपना मुख दर्पण में देखती। बगीचे से सीधे चुने हुए पुष्पों की सुवास से अधिक सुवासित भगवान को चढ़ाये हुए पुष्प लगते थे। क्यों ? प्रभु-प्रसाद में मिली हुई माला धारण करने के बाद मीरां को अपनी देह अधिक सुन्दर क्यों लगती थी ?

सुन्दर ? किशोरी मीरां के मन में प्रश्न उठा। क्या वह सुन्दर भी थी ? माता कभी-कभी उसे कहा करती :

'मीरां बेटी ! किसका रूप लेकर तुम आयी हो ?'

आज उसे स्मरण हुआ कि उसे सुन्दर कहनेवाली माता उसको छोड़कर सौन्दर्य के परमधाम प्रभु के चरणों में पहुँच गयी है। क्या वह वास्तव में सुन्दर थी ? सुन्दर किसे कहना ? जो प्रिय-दर्शन हो—जिसकी ओर देखने में आनन्द प्राप्त हो ! नहीं ! मीरां को अपना मुख प्रिय लगा। प्रभु के पास तो सौन्दर्य लेकर ही जाना चाहिये। कुरूप मुख, कुरूप देह, कुरूप वस्त्र और कुरूप मन लेकर विश्व के नाथ भगवान के पास कैसे जाना ? उनके निकट जाने के लिए और उनकी सेवा करने के लिए मनुष्य को सौन्दर्य धारण करना पड़ता है। मीरां को अब वस्त्र का भान हुआ, सौष्ठव का भान हुआ, सौन्दर्य का भान हुआ !

'मीरां ! बेटी ! आज तो तू देव-कन्या सरीखी लग रही है ! तेरी वस्त्रभूषा देख तेरे पाँव पड़ने की इच्छा होती है !' पूजन करके लौटनेवाली मीरां को उसकी चाची ने कहा। मातृहीना मीरां को उसकी माँ का अभाव न खटके, इसलिये चाची ने माता का स्थान ले लिया था, और वे अपनी भतीजी का खयाल अपने पुत्र जयमल से भी अधिक रखती थीं। माँ बन जानेवाली स्त्री बच्चे का सतत ध्यान रखती है। चाची दिन-रात मीरां पर निगाह रखती, और उसमें होनेवाले परिवर्तनों को पूरी तरह से समझती।

'हाँ, चाची ! मेरे मन में विचार आया कि मैली-कुचैली कैसे प्रभु के पास जाऊँ ?' मीरां ने उत्तर दिया।

'आज तक तो इस विषय में तू कुछ भी खयाल न करती थी। मैं कितना कहती कि तू कपड़े बदल ले...परन्तु तू सुनती न थी ! आज मन में ऐसा भाव क्यों आया ?' चाची ने हँसते हुए कहा। भतीजी का भाव-परिवर्तन उसको प्रिय लगा।

'दादाजी कहते हैं न कि प्रभु तो रूप के भंडार हैं ! रूप के भंडार के पास रूपवान बनकर ही जाना चाहिए न, चाची ?' मीरां ने कहा, और इतना कहकर वह मुस्कुरा उठी। चाची ने देखा कि मीरां के स्मित में कोई

अलौकिक सौन्दर्य नाच रहा है। उसका हृदय स्नेह से भर गया। मीरां को दोनों हाथों में लेकर चाची ने बड़े ही वात्सल्यपूर्वक हृदय से लगाया और कहा—

'मेरी बेटी!...न जाने बड़ी होकर तू क्या-क्या करेगी!'

चाची के वात्सल्यपूर्ण हृदय में विचार आये कि मीरां का यह मनोहर नारी-देह अवश्य कोई महाप्रसंग खड़ा करेगा, किसी महापुरुष को आकर्षित करेगा, किसी छत्रधारी चक्रवर्ती के स्नेह को प्राप्त करेगा, अथवा भारत के भाग्यविधान का कोई महाकार्य संपादित करेगा।

मीरां का सौन्दर्य-प्रेम देखकर चाची को संतोष हुआ। उसको हर्ष हुआ कि अब उसकी मीरां केवल भक्ति में ही लीन न रहेगी, और दुनियादारी के अन्य कर्त्तव्यों को भूलेगी नहीं।

इतना होने पर भी ऐसे प्रसंग बराबर उपस्थित होते, जिनसे चाची का मन शंकाशील बना रहता। अन्य कुटुम्बीजनों के साथ मीरां भी भोजन करने बैठती। एक दिन भोजन करते-करते मीरां ने पूछा:

'चाची! यह क्या है?'

'तुम्हारे पिता ने चित्तौड़ से मिठाई भेजी है....अभी ही आयी है। खाकर देखो; तुमको अच्छी लगेगी।'

'लेकिन...भोग के थाल में तो यह मिठाई नहीं थी...' मीरां ने कहा।

'बस अभी आयी ही है। तुम्हारे भोग-थाल लगाने तक वह आयी न थी।'

'परन्तु भगवान को भोग लगाये बिना मैं कैसे खाऊँ?'

'भगवान के लिए थोड़ी अलग निकालकर रख दी है।'

'भोग लगाये बिना तो मैं न लूंगी....तुम लोग खुशी से खाओ।'

'अरे पगली!....यह पागलपन कैसा? इस तरह किया करेगी तो भविष्य में तेरा क्या होगा?'

'मीरां सच कहती है। हम लोग भी आज इसे न लेंगे। भगवान को भोग लगाये बिना कोई भी वस्तु मुख में नहीं रखनी चाहिये,' दूदाजी ने मीरां का पक्ष लेकर कहा।

'प्रभु स्वयं आकर अपने हाथ से थोड़े ही खाते हैं ?....वे तो भाव के भूखे हैं,' दूदाजी की आज्ञा मानकर मिठाई को अपनी थाली में से हटाते हुए किसी ने कहा। उस दिन से कुटुम्ब में यह प्रथा पड़ गयी कि जो पदार्थ प्रभु को भोग में न रखा गया हो, वह घरवालों की थाली में कभी भी न परोसा जाय।

मीरां ने दूदाजी से प्रश्न किया :

'प्रभु को जो हम भोग लगाते हैं, वह प्रभु आकर ग्रहण तो करते नहीं है !'

'अपनी और प्रभु के जीमने की पद्धति में अन्तर है, बेटी ! भाव से जो हम प्रभु को भोग लगायेंगे, उसे वे ग्रहण किये बिना रहेंगे नहीं।'

'इसका तो यह अर्थ है कि वे वस्तु के नहीं, भाव के भूखे हैं, यह सच है दादाजी ?'

'हाँ वे तो विश्वंभर हैं...विश्व के खिलानेवाले ! हम उन्हें क्या खिला सकते हैं ?'

'तब तो भोग का थाल बन्द कर देना चाहिये !'

'इसमें दोष प्रभु को नहीं, हमको लगेगा।'

'यह कैसे, दादाजी ? जब प्रभु भाव के ही भूखे हैं, तब भोग का थाल क्या निरर्थक नहीं है ?'

'नहीं। अर्पण किये बिना भोग की सामग्री प्रभु का प्रसाद नहीं बनती। मनुष्य को जीवित रखनेवाला पदार्थ अन्न तथा अन्न को रुचिकर बनानेवाली वस्तु स्वाद, ये दोनों प्रभु को समर्पित होने के बाद ही प्रसाद का रूप धारण करते हैं। प्रभु जिसे ग्रहण न करें....स्वीकृत न करें, उसे हम मुख में नहीं रख सकते।.. उस दिन जो तुमने कहा था, वह ठीक था, बेटी !'

'प्रभु प्रत्यक्ष आकर अपने हाथ से नहीं जीमते ?'

'उनकी इच्छा में आये, तो वैसा भी करें। उनकी मर्जी की बात है....हमारे लिए तो भोग लगाने की जो परंपरा चली आती है, वही बस है। प्रभु को हम आज्ञा नहीं दे सकते।'

उम्र ज्यों-ज्यों बढ़ती चली, त्यों-त्यों दूदाजी के साथ मीरां की चर्चा

के विषय भी बढ़ते गये। धीरे-धीरे इस विचित्र बालिका की बातें सारे राजस्थान में फैलने लगीं। उसकी चाची को इस बात की चिन्ता होने लगी कि कहीं ऐसा न हो कि उसके संरक्षण में रहनेवाली भतीजी इस प्रकार का व्यवहार करते-करते संसार से विमुख हो जाय ! एक बार मीरां की अनुपस्थिति में चाची ने अपने श्वशुर दूदा जी से कहा :

'इस मीरां के लिए क्या किया जाय, जिससे उसे सांसारिक विषयों में रस उत्पन्न हो ?'

'एक बार मैंने प्रयत्न कर देखा। मुझे लगा कि मेरी उपस्थिति उसको भक्ति की ओर खींच रही है, इसलिए मैं ब्रज में रहने गया। अब जो तुम कहो, वह किया जाय'.. दूदाजी ने उत्तर दिया।

एक ओर घर के सब लोग मीरां की भक्ति देखकर प्रसन्न होते थे; परन्तु दूसरी ओर उसी भक्ति-भावना के कारण कुटुम्बी जनों के मन में चिन्ता भी हुआ करती थी। मीरां की माता का देहान्त हो चुका था; पिता को चित्तौड़ के राज्य-कार्य से अवकाश न मिलता था। मीरां का सारा भार चाचा-चाची और दादा के ऊपर आ पड़ा था। रत्नसिंह को दो-एक-बार भाभी ने कहा :

'आपको अब मीरां का खयाल रखना चाहिये।'

'जहाँ आप और भाई हों, वहाँ मुझे क्या चिन्ता ?'

'ज़रा सोचें। मीरां के माँ नहीं, और आप परदेश रहते हैं...'

'मां से भी अधिक लाड़-प्यार करनेवाली चाची की गोद में बिठाकर मैं निश्चिन्त हूँ...माँ जीवित भी होती, तो जो हो रहा है, उससे अधिक क्या करती ?' कह कर रत्नसिंह भाभी की सलाह पर कुछ ध्यान न देता। एक दिन दूदाजी ने भी उससे कहा :

'यह तुम्हारी बेटी न जाने क्या करेगी...कुछ समझ में नहीं आता।'

'ऐसा क्यों खयाल आया ?....उसकी ओर से आपको कोई असंतोष...?'

'असंतोष कुछ भी नहीं।....मात्र यही...कि सर्वदा सेवा-पूजा में ही लगी रहती है।'

'उसे कोई और काम सौंप दें।'

'काम तो जो दिया जाता है, सब कर देती है...और फिर मन्दिर में पहुँच जाती है।'

'आप कहें तो मैं उसे मन्दिर में जाने की मनाही कर दूं।'

'यह तो हो नहीं सकता। वह क्या बुरा करती है, यही मेरी समझ में नहीं आता...'

'तो फिर क्या करना....आप बताएँ ?'

'लड़की को अपने साथ चित्तौड़ न ले जाओ ?'

'कैसे ले जाऊँ ?...मैं स्वयं स्थिर होकर वहाँ रह नहीं पाता ! और आपसे अधिक ख़याल मैं क्या रखूँगा ?' कह कर रत्नसिंह ने मीरां का भार दूदाजी के ऊपर ही क़ायम रखा। उसको विश्वास था कि उसके भाई-भौजाई और पिता जितना ख़याल मीरां का रखते हैं, उससे अधिक ख़याल माता-पिता भी नहीं रख सकते।

पढ़ने में मीरां, जयमल और साधु कृष्णचरण बराबर रत रहते। देखते-देखते इन तीनों ने काव्य, व्याकरण और पुराणों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। गीता और भागवत् का पारायण तो वे प्रायः किया करते। जयदेव की अष्टपदी तो उनकी जिह्वा पर थी। महाभारत, हरिवंश और गर्गसंहिता जैसे ग्रन्थों का पठन भी हुआ करता। इतना ही नहीं, मीरां स्वयं छिप-छिप कर कविताएँ लिखने लगी। वैष्णव-कुटुम्ब में संस्कृत भाषा के स्तोत्र तो प्रायः सभी को याद रहते हैं। मीरां ने इन स्तोत्रों का प्रचलित प्राकृत भाषा में भाषान्तर करना आरंभ किया, और उनके अनुरूप स्वयं भी नये-नये स्तोत्र प्राकृत में बनाये। भगवान के गोपी-गीत, वेणु-गीत और भ्रमर-गीत के पद तो चलते-फिरते उसके मुख से निकला करते थे।

मीरां के मन्दिर में जब आरती का समय होता था तब सारे कुटुम्ब को वहाँ उपस्थित रहना पड़ता था। इस कार्य के लिए मीरां का कोई आग्रह न था, परन्तु परिवार के सभी लोग यह चाहते थे कि जो कार्य मीरां को

प्रिय हो, उसमें सब को सहयोग देना चाहिये। आरती की तैयारी हो रही थी। मीरां दीपावलि प्रकटा रही थी; जयमल के हाथ में झांझ थी; कृष्णचरण पखावज के साथ गा रहा था; मीरां के कण्ठ से भी स्वरावलि निकल रही थी। यकायक जयमल ने कहा :

'चरण ! मीरां का वह गीत क्यों नहीं गाते ?'

और तुरन्त कृष्णचरण ने मीरां रचित गोपी-गीत की प्राकृत अनुकृति गाना शुरू किया। दीपावलि प्रकटाने में लगी हुई मीरां ने आश्चर्य से पीछे देखा। गीत शुरू हो गया था। जयमल और कृष्णचरण का यह कार्य मीरां को पसन्द न आया; परन्तु ये दोनों गाने में इतने तल्लीन बन गये थे कि मीरां की अप्रसन्नता का ख़याल करने की उनको फ़ुरसत न थी। सबके सामने मीरां की रचना को गाने का अवसर प्राप्त होने से उनके उत्साह का पार न था। आरती पूरी हुई; प्रभु के मुखारविन्द का तेज ग्रहण कर अधिक तेजस्वी बनी हुई दीप-शिखाओं के ऊपर हथेलियाँ घुमाकर सबने आँखों में लगाया। जयमल के कथन को वहां उपस्थित सब लोगों ने सुना था...दूदाजी ने भी। दूदाजी का मीरां के प्रति वात्सल्य-स्रोत बराबर सीमा तोड़कर बहा करता। मीरां बिना वे रह न सकते; पौत्री को देखकर वे पागल बन जाते। कभी वे उसके मस्तक पर हाथ घुमाते, कभी पीठ को थपथपाते और कभी उसका स्पर्श करके उसको अपने पास बैठाते। बालकों के प्रति वात्सल्य वृद्धों के पागलपन का कारण बन जाता है। दूदाजी का मीरां के प्रति वात्सल्य घर में सबको विदित था। कभी-कभी लोग उन पर हँसते थे। मीरां अब बड़ी हो चली थी; वह अब हाथ में खिलाने लायक बालिका न थी, आसपास रहनेवाली वृद्ध मण्डली दूदाजी के ऐसे लाड़-प्यार पर हँसा करती। परन्तु ऐसी विचारधारा या ऐसे उपहास से दूदाजी और मीरां के बीच का वात्सल्य और उसका प्रदर्शन कम न होता। आरती लेकर पास आयी हुई मीरा को स्नेहार्द्र दृष्टि से देखते हुए दूदाजी ने पूछा :

'बेटी ! गोपी-गीत का अपनी भाषा में तुमने अनुवाद किया है ?'

'यह तो यों ही मन में आया, दादाजी ! और मैंने अपनी भाषा में उसे

लिख लिया। बहुत अच्छा नहीं है। संस्कृत की बराबरी करना तो अशक्य है।'

'नहीं बेटी ! बड़ा ही सुन्दर है।'

'मीरां का नींद में बड़बड़ाना भी दादाजी को साम-संगीत सरीखा लगेगा,' एक वयस्क क्षत्राणी ने कहा, और दूदाजी सहित सब लोग हँस पड़े।

उसी रात भजन के समय दूदाजी ने मीरां को अपने पास बुलाकर पूछा :

'मीरां ! अकेला गोपी-गीत का ही भाषान्तर किया है, या और भी किसी गीत का ?'

'मीरां ने तो अनेक गीतों का भाषान्तर किया है, और...अब तो वह अपने स्वतंत्र भजन और पदों की रचना करती है,' जयमल ने बहिन का यशोगान करते-करते छिपी हुई बात को प्रकट कर दिया।

'मैंने तो तुमको यह बात किसी से भी न कहने को कहा था ! बहिन का कहना न मानोगे ?' मीरां ने जयमल को उलाहना दिया।

'तुम्हारा सब कहना नहीं मानूँगा। यह चरण भूलकर बहुत बार तुम्हारे भजन गाता है ! दादाजी ! मुझे मीरां के पद बहुत पसन्द हैं, मैं उन्हें अवश्य गाऊँगा....न गाने का प्रयत्न भी करूँ, तो मन को रोक नहीं सकता...अभी कल ही मीरां ने एक गीत की रचना की है....घड़ी घड़ी वह जीभ पर आ जाता है....' जयमल ने कहा। कृष्णचरणदास को अब सब लोग चरण के ही नाम से पुकारते थे।

'भाई ! इस तरह मेरी हँसी कराओगे ?' मीराँ ने दुःखी होकर कहा।

'कल की तेरी रचना हमको भी तो सुनने दो !' दूदाजी ने मीरां की रचना सुनने का आग्रह किया।

'दादाजी ! बिलकुल अच्छी नहीं है। पागलों के प्रलाप-सी है....जब कुछ अच्छा लिखने लगूँगी, तब आपको अवश्य बताऊँगी। चरण ! अष्टपदी शुरू करो, जयदेव की !' मीरां ने कहा।

'नहीं, दादाजी ! सब बात में मीरां का ही कहना माना जायगा ? आज मेरी बात रहेगी। चरण ! देखो, मीरां का भजन न गाओगे, तो याद

रखना....' जयमल ने हठ पकड़ ली : और अन्त में मीरां की इच्छा न होने पर भी उसका बनाया हुआ पद झाँझ-करताल और पखावज-तंबूरे के साथ शुरू हुआ :

बोल माँ, बोल माँ, बोल मां रे,
राधाकृष्ण विना बीजूँ बोल माँ रे !
साकर शेरड़ी नो स्वाद तजी ने,
कड़वो लीवड़ो घोल माँ रे !...... राधाकृष्ण ।
चंदा सूरज नु तेज तजी ने,
अंगिया संगाते प्रीत जोड़ माँ रे !.......राधाकृष्ण ।
हीरा, माणेक ने मोती तजी ने,
कथीर संगाते मणि तोल माँ रे !......राधाकृष्ण ।

भजन की स्वरावलि उठी, जिसमें सब लोगों ने भाग लिया। मीरां के मुख से एक अक्षर भी न निकला। उसका मुख शर्म से लाल-लाल बन गया था। किसी की ओर उसने दृष्टि भी न डाली। भजन की धुन से सारा भवन भर गया। दूदाजी केवल ताल देते थे, भजन सुनते थे और बीच बीच में मीरां को देख लेते थे। भजन समाप्त होने पर भी देर तक भजन की धुन गूँजती रही; भावावेश से सबके हृदय भर गये थे। कुछ समय बाद शान्ति हुई, और भजन के प्रभाव से मुक्त होकर गानेवालों ने मूक प्रशंसा प्रदर्शित करनेवाली दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखा।

'मीरां ! यह तुमने बनाया, बेटी ?' भजन के शान्त वातावरण में दूदाजी ने पूछा।

'हाँ, दादाजी ! देखिये न ? कैसा ऊटपटाँग और अपरिपक्व है ! जयमल तो कुछ सुनता ही नहीं।...भजन भला ऐसे होते होंगे ?' मीरां ने झुँझला कर कहा।

'तब वे कैसे होने चाहिये ?'

'शब्द और अर्थ दोनों प्रभु का स्पर्श करें...पद ऐसे हों,' मीरां ने कहा।

'अर्थात् ?'

'दादाजी ! आप कहा करते हैं न कि प्रभु के सान्निध्य में कोई भी अस्पष्ट, अस्वच्छ, अशोभनीय और अपूर्ण वस्तु को न ले जाना। प्रभु के स्तवन भी अच्छे से अच्छे शब्द और अच्छे से अच्छे अर्थ में रचित होने चाहिये न ? मैं तो ऐसा कुछ भी न लिख सकी। रचना तो ऐसी होनी चाहिये कि सुन कर प्रभु बोल उठें !'

कुछ क्षणों तक दूदाजी मीरां को देखते रहे। उनको लगा कि मीरां का कहना बिलकुल सत्य है। परन्तु जिस प्रकार की सुन्दर शब्द रचना मीरां को इस समय साध्य है, उसको देखते हुए उनको विश्वास होने लगा कि शीघ्र ही वह ऐसे शब्दार्थ की रचना कर सकेगी जिनको सुनकर प्रभु साक्षात् दर्शन देंगे। प्रभु को समर्पित होनेवाले शब्द स्वच्छ में स्वच्छ और सुन्दर में सुन्दर होने चाहिये इस बात का विरोध कोई कर ही नहीं सकता। कुछ देर मौन रहकर दूदाजी ने पूछा :

'मीरां ! संगीत का कार्य कैसा चल रहा है ?'

'अच्छा ! थोड़े राग और ताल सीख रही हूँ। यह चरण संगीत को जल्दी बैठा लेता है। लगता है कि महान भजनीक होगा !' मीरां ने उत्तर दिया !

'परन्तु अब वह गायेगा तुम्हारे ही बनाये हुए गीत...मुझे कहता था ! जयमल ने अधिक प्रकाश डाला।

'देखो, अब तुम्हें घुड़सवारी करना और हथियार चलाना भी जानना पड़ेगा,' यकायक दूदाजी बोल उठे। दूदाजी को यकायक विचार आया कि मीरां की भक्ति कहीं एकमार्गी न बन जाय, और परिणाम स्वरूप क्षत्राणी के धर्म पालन में उसे कठिनाई पड़े, इसलिये उन्होंने मीरां का ध्यान दूसरी ओर भी आकृष्ट किया।

'आप जो जो कहेंगे, वह सब मैं करूंगी,' मीरां ने निर्व्याज रीति से उत्तर दिया।

सब लोग अपने-अपने स्थान को चले गये। मीरां और जयमल बचपन

से ही दूदाजी के खण्ड में सोते थे। वे भी वहाँ जाकर सो गये। कृष्णचरण मन्दिर के निकट सोया। सोने के पहिले दूदाजी ने जयमल और मीरां के सिर पर हाथ फेरा। शैय्या में लेटते-लेटते प्रभु से उन्होंने प्रार्थना की :

'मुझ निर्धन के यह रत्न हैं...मीरां...और...जयमल...! नाथ मेरे इन रत्नों की रक्षा करना...मेरा मन क्षण-क्षण पर उनके लिए अधीर बन जाता है...मेरे जीवनकाल में इस बालक और इस बालिका को नाथ! तुम्हारा ही रक्षण है!'

आँखों में आये हुए अश्रु को पोंछकर उन्होंने नेत्र बन्द किये। इन बच्चों के लिए इधर कुछ समय से उनका मन अधिक अधीर बनने लगा था।

~ २ ~

साधु कृष्णचरण को आज अपने साधुत्व पर कुछ ग्लानि सी आयी। अपने इष्टदेव भगवान कृष्ण की लीला के पद गाते-गाते उसके मन में विचार आया : कृष्ण रास-लीला करें, गोप-गोपियों के साथ खेलें; और उनका सेवक सब कुछ छोड़ साधु बनकर रहे ! और जो साधु बना, उसको मोह, ममता, माया छोड़ गोपीचन्दन और छापा-तिलक लगाकर विश्व भर में घूमना पड़े ! अथवा किसी मन्दिर को पकड़ कर बैठ रहना पड़े ! इधर कुछ समय से मीरां भी मन्दिर-कार्य में पहले जैसा रस नहीं लेती है। वह क्षत्रिय कन्या घुड़सवारी करने में, तीर-भाला चलाने में और खंजर-तलवार के दांव सीखने में व्यस्त रहती है। साधु के लिए तो इन बातों का शौक़ भी वर्ज्य है !

गुरु के साथ वह भी चला गया होता तो ? स्थान-स्थान की यात्रा होती, भांति-भांति के लोग देखने को मिलते, विचित्र-विचित्र रीति-रिवाज समझने का अवसर मिलता, और इस बीच यदि कोई समर्थ सद्गुरु मिल जाता तो उनके आदेशानुसार योग-साधना कर प्रभु-पद को प्राप्त करने का मार्ग भी दिख जाता !...और प्रभु-पद प्राप्त होने के पहिले ऋद्धि-सिद्धि के खेल भी देखने को मिलते ! सच्चे मोक्ष का मार्ग क्या है ? भक्ति से भी योग जैसी ही एकाग्रता मिलती है, यह बात सत्य है; परन्तु उसमें शरणागत होना आवश्यक है—किसी की शरण में जाना ! योग जैसी इसमें विजय की प्राप्ति नहीं...और ज्ञान ? वाह ! वन में जैसे वनराज या गजराज निर्भीक होकर विचरण करता हो, वैसे ही योग-सिद्धि प्राप्त करने वाला मानव ब्रह्मपद को पाकर संसार में निर्भय घूम सकता है !

संयम, ज्ञान, भक्ति इनमें श्रेष्ठ कौन ? आशु लभ्य कौन ?.... और इस्लाम ? जो फ़ना-फ़िल्ला में ही मानता हैं ! साईं की सांसारिक विषयों की उपेक्षा में भव्यता और बहादुरी के दर्शन होते हैं। भक्ति तो रोती और रुलाती ही रहती है ! तब ददाजी जैसे शूरवीर राजपूत के

हृदय में भक्ति का महत्व क्यों ? भक्ति को वीरोचित मानना या नहीं ? मीरां को इधर क्षात्र-विद्या सिखाई जा रही है ! स्त्री के लिए क्या यह शोभनीय है ? भक्ति की कोमलता स्त्रियों को शोभा देती है; ज्ञान और योग का साहस पुरुषों को दीप्तिमना बनाता है। कृष्ण-चरण पुरुष था; उसके मन में पुरुषोचित भाव प्रकट हो रहे थे।

'आज से ही योग की साधना शुरू क्यों न करूँ ?' कृष्णचरण के मन में विचार आया।

और इस विचार को उसने कार्यान्वित किया। पद्मासन लगाकर वह बैठ गया, और मूर्ति की ओर दृष्टि लगाकर उसने अपने नेत्र बन्द किये। एक क्षण, दो क्षण, पाँच क्षण, में भगवान की मूर्ति उसकी आँखों के सामने आकर खड़ी हो गयी...क्या यही कृष्ण राधा के प्रेमपात्र बने थे ? रूप तो सुन्दर था; परन्तु जिस राधा ने ऐसे कृष्ण का मन लुभाया उसका रूप कैसा होगा ? मीरां से कहकर अब यहाँ राधा की एक मूर्ति अवश्य स्थापित करानी पड़ेगी। राधा बिना कृष्ण अपूर्ण लगते हैं, निस्सहाय से लगते हैं ! मीरां यह मूर्ति कहाँ बनवायेगी और उसका नमूना कहाँ से मिलेगा ? राधा का नमूना स्वयं मीरां बन जाय तो ? भक्ति में लीन रहनेवाली मीरां को क्या इस बात का पता होगा कि उसका देह-सौन्दर्य दिनों दिन बढ़ता जाता है ?

कृष्णचरण ने आँखें खोल दीं ! कृष्ण मूर्ति के ध्यान में से राधा प्रकट हुई ! और राधा में से मीरां !

ध्यान टूट गया। पुनः उसने प्रयत्न करके आंखें बन्द कीं और गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति को हृदय में बैठाया....यह क्या ?...तब भी राधा...? ऐसा तो नहीं कि राधा बिना कृष्ण का ध्यान स्थिर रूप से हो ही नहीं सकता ? राधा में से मीरां के प्रकट होने का कारण ? और मीरां तथा कृष्णचरण जैसे अकिंचन साधु से संबन्ध ही क्या ?...और संबन्ध हो भी कैसे ? मीरां तो एक वीर राज्य स्थापक की पौत्री ! और कृष्णचरण ? उसके माँ-बाप का पता नहीं ! उसकी माता हो या पालक —एक स्त्री उसको किसी अन्त्यज के घर के पास छोड़ गयी थी ! कदाचित्

उस अन्त्यज को सौंप गयी हो ! वह अन्त्यज भगवान का परम भक्त था। उसने बिना कुछ पूछे बालक को ले लिया, और पाल-पोस कर बड़ा किया; दीक्षा देकर उसे साधु बनाया....विधिपूर्वक वह दीक्षा न थी; उसे मात्र रामनाम और राधाकृष्ण के जापमंत्र सिखलाये, और छाप-तिलक की व्यवस्था की...बस यही दीक्षा का प्रकार था। देखने में कृष्णचरण साधु जैसा लगे, इस बात का विशेष ध्यान रखा गया ? उस अन्त्यज ने कृष्ण-चरण को थोड़ा-बहुत पढ़ाने का भी प्रयत्न किया...किसी को पता न लगे इस प्रकार से उसे दूर के गाँव में रहने वाले एक शास्त्री के घर पर पढ़ने के लिए भेजा। शास्त्रीजी विद्वान तो थे ही, साथ-साथ बड़े ही आनंदी, मस्त और रसिक भी थे। कुमारसंभव में से शिव-पार्वती के संयोग वर्णन, भागवत् में से कृष्ण-गोपी के रास, भर्तृहरि के श्रृंगार-शतक के श्लोक, और जयदेव की अष्टपदी के सौन्दर्य-वर्णन उनकी जिह्वा पर सतत बने रहते थे। कृष्णचरण का कण्ठ मधुर होने से ये पद गुरुजी उससे बार-बार गवाते। शास्त्रीजी संगीतकार भी थे, इसलिये कृष्णचरण को स्वरों का तथा राग-रागनियों का ज्ञान संपादित करने का अच्छा अवसर मिल गया था। उसने ढोलक और पखावज बजाना भी सीख लिया। जीवन यदि संगीतमय बने तो कितना अच्छा ? कृष्णचरण नृत्य भी जानता था !...कृष्ण भी नृत्य किया करते थे !...कृष्ण का जीवन संगीतमय था, ...और कृष्ण को तो उनके बालजीवन से ही राधा मिल गयी थी... मीरां जैसी ही होगी वह !

कृष्णचरण के नेत्र पुनः खुल गये ! कृष्ण के ध्यान से हटते-हटते उसका मन अपने पूर्वजीवन की ओर गया और प्रयत्न करके जब उसने पुनः ध्यान कृष्ण की ओर लगाया, तो मीरां की मूर्ति आँखों के आगे आकर खड़ी हो गयी। काल्पनिक मीरां नहीं, सच्ची वास्तविक मीरां आकर उसके सामने खड़ी थी—सौन्दर्य की ज्योति-सरीखी !

'चरण ! क्या कर रहे हो ?' मीरां ने पूछा।

'मैं ध्यान लगा रहा था।'

'किसका ?'

'अपने प्रभु का,...सेवा हो जाने के बाद और क्या करूँ ?'

'ध्यान में प्रभु कितनी देर तक दिखाई पड़े ?'

'एक क्षण भी नहीं....हाँ...एकाध-दो क्षण रहे होंगे....फिर तो उन्मीन्वित नेत्रों के सामने जो चित्रों की माला चली...पूर्वजीवन की बातें और नयी-नयी कल्पनाएँ...'

'तब आँखें बन्द ही क्यों करते हो ? सामने तो ऐसा सुन्दर स्वरूप खड़ा हुआ है !...तुम तो जोगी होना चाहते हो न ? पागल कहीं के !' मीरां ने कहा।

कृष्णचरण तो कभी का मीरां का मित्र बन चुका था। मीरां, जयमल और कृष्णचरण की त्रिपुटी मेड़ता में एक सुन्दर भजन-मण्डली की रचना कर रही थी। मीरां और कृष्णचरण गाते थे, जयमल पखावज बजाता था, और सारा राठोड़-राजकुटुम्ब रात्रि में भजनीक-कुटुम्ब बन जाता था।

'पहिले तो तुम भी ध्यानस्थ बैठा करती थीं।' कृष्णचरण ने कहा।

'हाँ, वह कुछ मुझे अनुकूल नहीं पड़ा। मैंने दादाजी से पूछा, तब उन्होंने भी कहा कि :

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥'

मुझे तो कुछ अभ्यास और वैराग्य जँचा नहीं।' मीरां ने उत्तर दिया।

'तब प्रभु के पास पहुँचने का और कौन-सा मार्ग है ?'

'यह तो किसे मालूम ? मुझे तो प्रिय लगता है प्रभु का नाम, कीर्तन, स्मरण और प्रभु की सेवा ! प्रभु को जहाँ ज़रा भी भूली कि बोल उठती हूँ : 'राधेकृष्ण !', 'गिरिधरलाल !'...जहाँ ज़रा अकेली पड़ी कि गाने लगती हूँ :

'गिरिधर ! व्रजधर ! मुरली अधर-धर !'

और सेवा में तो, चरण ! आठों पहर बीत जाते हैं। स्नान, शृंगार, मंगल-दर्शन, भोग, मुखवास...एक क्षण भी प्रभु-स्पर्शविहीन रहता नहीं।'

'परन्तु...पूजा-सेवा तो सब तुमने मुझे सौंप दी है...तुम तो शस्त्रविद्या सीखनें में लग गयी हो ?....'

'उस काम में भी मुझे सर्वदा मेरे गिरिधरलाल याद आते हैं। मैं तीर चलाती हूँ, तो सामने गिरिधरलाल की आँखें दिखाई पड़ती हैं . तीर चला कर मैं कहती हूँ: प्रभो ! जगत के नाथ ! यह तीर नहीं, अंजन-शलाका है...न हो, तो उसे बना लेना...उसके द्वारा मैं प्रभु की आँख में सुरमा लगाती हूँ...तीर जहाँ-जहाँ लक्ष्य का वेध करता है, वहाँ-वहाँ मुझे प्रभु की अंजन-आँजी आँख दीख पड़ती है...मुझसे प्रभु ने कभी भी न कहा कि उनकी आँख में ज़रा भी चोट आयी।'

'बाई ! तुम तो अद्भुत हो। तीर में मुझे तो कभी भी सुरमे की शलाका नहीं दीख पड़ती ! और शस्त्रास्त्र के वातावरण में तो प्रभु के दर्शन अशक्य हैं।'

'मुझे तो दर्शन बराबर होते हैं। आज दूर से मोर के बोलने की आवाज़ आयी...मुझे आभास हुआ मेरे गिरिधरलाल के बंसी-स्वर का !...जाग उठी वृन्दावन की मधुर-स्मृति....और क्या बताऊँ चरण ! कितनी-कितनी वस्तुएँ याद आयीं ? आज प्रभु का शृंगार करते समय उनके हाथ में एक मुरली अवश्य रखूँगी।'

'शृंगार तो कब का हो गया, मीरां !'

'तो क्या हुआ ? उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन करके मुरली रख दूंगी प्रभु के हाथ में।...ओहो !...वाह रे बांकेविहारी ! तुम्हारे हाथ में वंसी कैसी सुन्दर लगती है !...प्रभु ! बजाओ....बंसी बजाओ मेरे गिरिधर-लाल ! मुझे तुम्हारी बंसी का सुर सुनना है...आहा !' मीरां दृष्टि लगाकर बंसीधर की मूर्ति देखने लगी।

'आहा, क्या कहती हो ? बंसी के स्वर सुनाई दिये ?' ज़रा हँसकर कृष्णचरण ने पूछा।

'हाँ हाँ, मैं सुन रही हूँ।...यह सुनो, बंसी के स्वर नहीं तो और क्या हैं ?....ओहो !...' कहती हुई मीरां भगवान गिरिधरलाल की मूर्ति की ओर देखकर गाने लगी :

वागे छे रे, वागे छे, वृन्दावन मुरली वागे छे!
नेनों शब्द गगन माँ गाँजे छे!
वृन्दावन मुरली वागे छे!
वृन्दा ते बन माँ रास रचायो छे!
व्हालो रासमण्डल माँ विराजे छे,
वृन्दावन मुरली वागे छे!
काने ते कुंडल माथे मुगटमणि,
मुख पर मुरली छाजे छे,
वृन्दावन मुरली वागे छे!
वृन्दा ते वन नी कुंज गलिन माँ,
थनक – थई – थई नाचे छे!
वृन्दावन मुरली वागे छे!

'थनक-थई-थई' कहने के साथ ही मीरां के पाँव में भी थनक शुरू हो गयी। भाव यदि सच्चा हो, तो अभिनय अपने-आप आँखों को अभिराम लगनेवाला और भावानुरूप उतरता है। यदि हाथ, पाँव, कमर और नेत्र भावों को प्रदर्शित करना चाहें, तो गति अपने आप प्रकट हो जाती है। गाते-गाते मीरां मूर्ति के सामने नाचने लगी, और नृत्य करनेवाली मीरां की ओर कृष्णचरण अनिमेष नेत्रों से देखता रहा। दोनों में से किसी को भी इस बात का ध्यान न रहा कि उनके पीछे आकर कौन खड़ा होता है, और उन दोनों की एकाग्रता देखकर मंदिर से चला जाता है।

थोड़ी देर बाद मीरां के पाँव स्थिर हुए। परन्तु उसके नेत्र बन्द ही रहे। आँखें बन्द किये हुए वह देर तक खड़ी रही। मानों ध्यानस्थ होकर गीत के सारे भाव देख रही हो और कृष्णचरण एकाग्रचित्त से मीरां को देखता रहा।

मीरां ने घूमकर पीछे देखा। कुछ लज्जा का अनुभव करते हुए कृष्ण-चरण ने स्मित किया। मीरां के मुख पर भी स्मित झलक उठा। उसे ऐसा आभास हुआ कि उसकी देह किसी अकथ्य आनंद का अनुभव कर रही है।

इस आनंद की विशुद्धि में उसके हृदय में सभी के लिए अपूर्व सद्भाव प्रकट हुआ। केवल कृष्णचरण जैसे साधु के प्रति ही नहीं, सब मानवों के प्रति—पतित से पतित मानव हो, उसके भी प्रति—उसके हृदय में सद्भाव, अनुकम्पा और समवेदना का स्रोत फूट निकला।

'जयमल नहीं दिख पड़ता !' कृष्णचरण ने कहा।

'इस समय वह अखाड़े में होगा....कुश्ती के दांव-पेंच सीखता होगा.... उसको आजकल इसी की धुन लगी है....वह आता ही होगा....' मीरां ने कहा। उसका कथन पूरा भी न हुआ था, इतने में जयमल आता हुआ दिख पड़ा।

यद्यपि जयमल का शरीर अभी तक पुष्ट न हुआ था, तथापि उसमें दृढ़ता, चपलता और बल साफ़ साफ़ दिखाई पड़ते थे। मीरां जयमल को ध्यान से देखने लगी।

'क्या देख रही हो, बहिन ! इस प्रकार मेरी ओर ध्यान लगाकर ?'

'मैं तुम्हारी देह को देख रही हूँ।'

'क्यों ? मेरी देह आज ही दिखाई पड़ी ?'

'आज वह मुझे कुछ दूसरी ही लग रही है।'

'इसका क्या अर्थ ?'

'तुमको किसके जैसा कहूँ ? बलराम सरीखा ? या श्रीभानु गोप सरीखा ? आज मुझे ऐसा लग रहा है मानों तुम कृष्ण के मित्रवृन्द में से एक हो। राधिका के कोई भाई था या नहीं ?' मीरां बोली।

'अपने इस आधे पण्डित से पूछो न ?' जयमल ने कहकर कृष्णचरण की ओर अंगुलि निर्देश किया। जयमल की ओर देखने वाली मीरां को अंगुलि की दिशा का ख़याल रहा नहीं। उसने पूछा :

'कौन-सा आधा पण्डित ?'

'यही....अपना कृष्णचरण....' जयमल ने कहा।

'आधा पण्डित क्यों ?' मीरां ने प्रश्न किया।

'जब वेदान्त पढ़ लेगा, तब यह पूरा पण्डित होगा न ?'

'अरे, पण्डित बनने के पहिले तो यह योगी बनने वाला है...बन गया है...देखो इसकी आँखें...' कहकर मीरां हँस पड़ी।

'हमारी और तुम्हारी स्पर्धा हो जाय मीरां!' कृष्णचरण ने कहा। उसका हृदय यह चाहता रहा कि भले ही उपहास में क्यों न हो, मीरां का हास्य निरन्तर क़ायम रहे।

'किस बात की स्पर्धा?'

'यही कि...प्रभु को पहिले कौन पाता है?'

'प्रभु क्या कोई शतरंज का खेल है? या गोटियों का खेल? कि जब चाहें तब शर्त लगाकर उनसे खेलने लगें?' मीरां ने कहा।

'तुम मेरी हँसी करती हो, इसलिए कहता हूँ...स्वयं भगवान ने नहीं कहा है:

'तस्माद् योगी भवार्जुन?'

'अच्छा बताओ तुम्हें किस बात की शर्त...स्पर्धा करनी है?'

'मैं योग की साधना करूं, और तुम भक्ति करो! जो पहिले प्रभु को पा ले, वह जीते...'

'तब मैं भी तुमको भगवान के ही कथन का स्मरण दिलाऊं:

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्‌याजी मां नमस्कुरु।'

'शर्त लगाना नहीं, चरण! सब कुछ भगवान की इच्छा पर छोड़ देना चाहिये।'

'प्रभु की इच्छा का पता कैसे लगे?'

'यह भी प्रभु के ही हाथों में छोड़ दो।'

'तुम दोनों ने तो योग और भक्ति का मार्ग अपनाया; मैं किस मार्ग पर जाऊं?

'तस्माद् युद्धस्व भारत?'

कहता हुआ जयमल खिल-खिलाकर हँस पड़ा।

मीरां ने यकायक जयमल की ओर देखना शुरू किया। जयमल की आँखों में मानों उसकी भावी दिख रही हो, इस प्रकार मीरां देर तक जयमल की ओर देखती रही।

'क्या देख रही हो, बहिन ?' जयमल ने पूछा।

'क्यों, डर लगता है ?...बहिन पागल हो जायगी, ऐसा तो नहीं लगता ?' मीरां ने दृष्टि हटाकर हँसते हुए पूछा।

'डर अवश्य लगता है...कभी कभी....जिस दिन मेरी बहिन पागल होगी, उस दिन मुझे भी पागल बना समझना...' जयमल ने कहा और स्नेह से मीरां का हाथ पकड़ लिया।

'मेरे मन में अभी-अभी विचार आया भाई ! कि जो तुम कहते हो वही प्रभु का वाक्य है, जो मैं कहती हूँ, वह भी प्रभु का वाक्य है और जो चरण कहता है, वह भी प्रभु ही का वाक्य है। योग, भक्ति और युद्ध ! इस कथन द्वारा कहीं प्रभु अपनी इच्छा तो व्यक्त नहीं कर रहे हैं ?...तीनों के लिए इसी बात को मैं तुम्हारी आँखों में देख रही थी...प्रभु को जल्दी से जल्दी कैसे पाना ?...'

'अरे, तुम तीनों भगत इकट्ठे होकर केवल बातें ही करोगे, या भगवान के भोग की भी व्यवस्था करोगे ? समय बीत गया इसका भान है या नहीं ? और भोग के थाल में जरा भी चूक होगी तो मेरी मीरां खाना न खायेगी !' हाथ में भोग का थाल लिए हुए मीरां की चाची श्रीदेवी ने बातचीत में मग्न बालकों के पीछे से आकर कहा। चाची ने सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण किये थे, और मीरां को प्रसन्न रखने के लिए भोग का समय होते ही वे थाल लेकर मन्दिर में पहुँच गयी थीं। इस कार्य के बहाने उन्होंने बालकों को भोजन के समय की याद दिलायी। भगवान का मन्दिर महल के अन्दर ही एक प्रांगण में स्थित था।

'अरे ! चाची ! तुमको आना पड़ा ? भगवान को जल्दी से जल्दी कैसे पाना इस विषय की चर्चा में हम लोग पड़े थे.......'मीरां बोली।

'तुम में से किसी को भी भगवान जल्दी दर्शन न दें, इसी में तुम्हारा कल्याण है !' देवी ने कहा।

'ऐसा क्यों कहती हो, चाची ?' मीरां ने पूछा।

'तुम सब मिल कर भगवान को भूखे मार डालोगे...आज की तरह !...

भक्त भी भगवान को कितना हैरान करते हैं !' कहती हुई श्रीदेवी हँस पड़ीं। और प्रौढ़ अवस्था की उस राजकुमारी का लावण्य देखते ही बनता था।

'चाची ! तुमने सच कहा।......भगवान को जो हैरान करे उसे भक्त कैसे कहना ?......हमको यह दो...वह दो...इस काम में सहायता करो...उस काम में सहायता करो...अरे, भक्ति में तो हमको दर्शन दो यह कहना भी पाप ही है...है कि नहीं ?' मीरां ने कहा, उसके नेत्र निश्चल भाव से किसी अगम्य तत्व को देख रहे थे।

'बेटी ! तुम्हारा न जाने क्या होगा ? भान भूल कर क्या देख रही हो ? थाल लिये मैं खड़ी हूँ....भोग लगाना है या नहीं ?' चाची ने कुछ दुःखी होकर कहा।

'नहीं, चाची ! आज तुम्हीं भोग लगाओ। कैसी सुन्दर लग रही हो ! मानो जसोदा मां कृष्ण को थाल परोसने आयी हों ! ...आज तुम्हीं अपने हाथ से भगवान को खिलाओ...कैसा सुन्दर लग रहा है !' मीरां ने कहा।

'अपने हाथ से भोग लगाये बिना यदि तू न खाने की ज़िद लेकर बैठ जाय तब ?'

'मैं तो यहीं हूँ न ? मैं तुम्हारे साथ भगवान को खिलाने लगूँगी।'

श्रीदेवी ने मूर्ति के सामने थाल रख दिया। मीरां ने उस पर तुलसीदल रखा, शंख में से पानी लेकर थाल के चारों ओर घुमाया और एक ओर गिरा दिया। सब लोगों ने कुछ क्षण तक आँखें बन्द कर लीं। मीरां के कण्ठ से यकायक भजन के पद निकल पड़े :

हाँ रे मैंने कीन्ही है ठाकोर थाली !
हाँ रे अब आवो...पधारो....वनमाली !
हाँ रे मैंने कीन्ही है ठाकोर थाली !

मीरां ने भगवान को भोग लगाया, भोजन के मध्य में जलप्राशन कराया, और अन्त में हाथ-मुँह धुलाने का भी प्रदर्शन किया। प्रभु को मुखवास भी अर्पण किया। प्रभु की प्रतिमा न खाती थी, न पीती थी; केवल हँसती हुई वह बराबर मीरां की ओर देखा करती थी। मीरां के लिए इतना ही पर्याप्त था। प्रतिमा पीतल की बनी हुई थी; मन्दिर पत्थर

का था; भोग लगाया था ऐसी वस्तुओं का जिसे मनुष्य खा सके। यदि कोई हँसकर पूछे कि—

'क्या पीतल की प्रतिमा भोजन ग्रहण करती है ?'

तो पत्थर का मन्दिर और वहाँ रखी हुई पूजन-सामग्री से कैसे प्रमाणित हो कि प्रभु ने भोजन कर लिया ! परन्तु मीरां का तो विश्वास था कि उसके भगवान ने भोजन किया, हस्त प्रक्षालन किया, मुखवास में ताम्बूल खाया, और मीरां के लिए प्रसाद छोड़ दिया। इस प्रसाद में से उसने भोजन के समय थोड़ा-थोड़ा सब की थालियों में रखा, और थोड़ा स्वयं भी ग्रहण किया। प्रभु का प्रसाद उसको अमृत सदृश स्वादिष्ट लगा।

आज तीनों किशोर-भक्तों के हृदय में अपने-अपने विचार चल रहे थे :

'योग की साधना ही में मुझे प्रभु के दर्शन मिलेंगे। ये स्थूल निर्जीव मूर्तियाँ मुझे पार्थिव सृष्टि के साथ बाँध रखेंगी,' कृष्णाचरण इस विचार में मग्न था।

'प्रभु को मैं वीरत्व में ही पाऊँगा। शस्त्र, दुःखदर्द और मृत्यु के भय की परवाह न करके जहाँ-जहाँ सत्य हो, वहाँ-वहाँ मैं अपना मस्तक बलि में चढ़ाऊंगा....समरांगण में मिली हुई मृत्यु मेरे लिए प्रभु का द्वार खोल देगी,' जयमल को घड़ी-घड़ी यही विचार आते थे।

'मेरी आँखें सर्वदा प्रभु का नख-शिख दर्शन किया करें....आँख में से हृदय में उतरते देर न लगे ! गिरिधरलाल के सिवा और कोई विचार न हो, उच्चार न हो और आचार न हो.......यही मेरा मार्ग......सब प्रभु को ही समर्पण !' मीरां अपना मार्ग निश्चित कर रही थी। मध्याह्न के बाद उसकी चाची वहाँ आकर उसके पीछे खड़ी हो गयी थी, इस बात का पता मीरां को जरा भी न चला। कुछ क्षण तक श्रीदेवी चुपचाप खड़ी रहीं, परन्तु जब उन्होंने देखा कि उनके आगमन की एकाग्रचित्त मीरां को जरा भी ख़बर नहीं, तब उन्होंने पूछा :

'मीरां ! इतनी देर से क्या कर रही है ?'

'कुछ नहीं, चाची ! यों ही खड़ी हूँ,' मीरां ने उत्तर दिया।

'नहीं, किसी का चित्र बना रही हो ! ऊषा बनने की अभिलाषा है, या चित्रलेखा ?'

'दोनों में से कोई नहीं, चाची ! मैं तो जो हूँ, वही अच्छी हूँ...चाची की भतीजी मीरां। बस !' कहते हुए मीरां ने चित्रपट को उलट कर रख दिया।

'मुझे बताओ तो सही कि किसका चित्र बना रही हो ?'

'अभी यह पूरा नहीं हुआ है। पूरा होने के बाद बताऊँगी।'

'परन्तु वह किसका है, यह तो कहो ?' मीरां के पास आकर बैठते हुए श्रीदेवी ने पूछा।

'जब यह दिखाऊँगी, तब आप ही पता लग जायगा कि यह चित्र किसका है ?'

'क्या वह किसी राजकुमार का है ?'

'हो भी सकता है।'

'कहाँ का है वह राजकुमार...मुझे न बताओगी ?'

'तुम्हीं कहो, मुझे कहाँ का राजकुमार प्रिय होगा ?'

'जोधपुर का....जयपुर...मेवाड़....सोरठ...?'

'नहीं, तुम नहीं बता सकीं, चाची !'

'देखना किसी दिल्ली या दक्खन के सुल्तान को अपने चित्र में न बिठाना !'

'मेरा राजकुमार तो सारे विश्व का सुल्तान है !'

'परन्तु वह है कौन ? हम लोग तो किसी ऐसे सुल्तान को नहीं जानते ...और राजस्थान जब तक जीवित है, तब तक विश्व के सुल्तान की भी हिम्मत नहीं कि वह राजस्थान के अन्दर पैर रखे !'

'तुम भी चाची, कैसी हो ! रोज़ देखती हो उस राजकुमार को, और उसे नहीं जानतीं ?'

'बेटी ! इतना बढ़-चढ़ के बोलना ठीक नहीं। मैं तो समझती थी कि इस भोली भक्तिन को किसी बात का भान न होगा। परन्तु तू तो मुझे भुलावा देने लगी है ! बताओ, तुम्हारे चित्र का राजकुमार कौन है ?' बड़प्पन दिखाते हुए, धमका कर चाची ने पूछा। परन्तु मन ही मन वे इस

बात से प्रसन्न हो रही थीं कि जिस विषय पर वे मीरां से बात करने आयी थीं, वह अपने-आप छिड़ गया है।

'बताऊँ, चाची ?'

'कहते शर्म आती हो, तो नाम लिखकर दे...और तब चित्र दिखा। मुझे मालूम तो हो कि तेरे पसन्द का कुमार कौन है ? किसका कुमार ? किस राज्य का ?'

'अच्छा, चाची ! तब देखो मेरे प्रिय उस कुमार को ! नन्द का कुमार है। और उसका राज्य तो...लोग कहते हैं कि भक्तों के हृदयों पर है !' कहकर मीरां ने चित्र को सीधा किया और चाची के सामने रखा। चित्र यद्यपि अधूरा था, तथापि उसकी रंग-रेखाओं से यह स्पष्ट मालूम हो जाता था कि वह भगवान कृष्ण का चित्र है।

चित्र सुन्दर था, मनोहर था, पूरा होने पर तो वह आँखों में बस जाता। परन्तु श्रीदेवी को कभी इस बात की कल्पना भी न हुई थी कि वह श्रीकृष्ण का चित्र होगा। वय के साथ-साथ मीरां की कृष्णभक्ति बढ़ती जाती थी, यह सभी लोग जानते थे; मीरां का मन इस भक्तिभाव से दूसरी ओर आकृष्ट करने के विचार से ही श्रीदेवी उसके पास आयी थीं। एकाग्र होकर चित्रालेखन करती हुई मीरां को देखकर उनके मन में विचार आया कि प्रकृति अपना काम कर रही है और मीरां का मन किसी दूसरी ओर अवश्य जा रहा है। उनको विश्वास हो गया कि यौवन के प्रांगण में पाँव रखनेवाली मीरां का हृदय किसी राजकुमार की कामना कर रहा है।

परन्तु चित्र को देखकर उनकी धारणा को गहरा धक्का लगा।

क्षण भर के लिए वे स्तब्ध रह गयीं। चित्र देखने में संलग्न मीरां की ओर देखते हुए उन्होंने निःश्वास छोड़ा।

'क्यों चाची ! चित्र पसन्द आया ?' मीरां ने पूछा।

'पसन्द आया...चित्र बड़ा ही सुन्दर है।'

'तब कौन-सी वस्तु अप्रिय लगी ?...इस प्रकार निःश्वास क्यों निकाला ?'

'मीरां ! मैं इस समय तेरे पास क्यों आयी हूँ, जानती है ?'

'इसमें जानना क्या है ? तुम मेरे पास न आओ, तो और कौन आवे ? तुम तो मेरी माँ हो !'

'तेरे विषय में सगी माँ से भी अधिक चिन्ता मुझे बनी रहती है... ख़बर है इस बात की ? मुझे तो तेरी माँ भी बनना पड़ता है, और आवश्यकता पड़ने पर सहेली भी,' कहती हुई श्रीदेवी ने मीरां को गले से लगा लिया। उनके नेत्रों से अश्रु की धारा बहने लगी। वास्तव में माता से भी अधिक प्यार करनेवाली श्रीदेवी की भावना को मीरां बराबर समझती थी। परन्तु आज दो नयी घटनाएँ घटीं। एक तो यह कि भोग का थाल वे स्वयं उठाकर लायीं, और दूसरे यह कि मीरां से मिलने के लिए वे उसके खंड में आयीं। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए मीरां ने पूछा :

'चाची ! मुझसे कोई भूल हो गयी ?'

'नहीं, बेटी !'

'तब...ऐसा क्यों कर रही हो ?...आँखों में ये आँसू क्यों ?'

'बेटी ! जब तुझे देखती हूँ, तब तेरी माँ याद आ जाती है...थे हम देवरानी और जेठानी !.......परन्तु हम दोनों में सगी बहन से भी अधिक स्नेह था....उसकी या तुम्हारी याद आते ही मेरा कलेजा भर जाता है... क्या करूँ ?' मीरां की पीठ सहलाते हुए श्रीदेवी ने कहा।

चाची का वात्सल्य मीरां को प्रिय लगा। श्रीदेवी की मूर्ति में उसे अपनी माता के दर्शन हुए। कुछ समय तक वह चुपचाप बैठी रही, और चाची के वात्सल्य कार्य को होने दिया। यों तो न जाने क्यों, कोई भी मानव मीरां को अप्रिय नहीं लगता था; परन्तु चाची के प्रति उसे विशेष आदर था। कुछ देर बाद उसने कहा :

'चाची ! तुम उठकर क्यों आयीं ?' मुझे बुला लेना था।...आज सोना नहीं है ?'

'नहीं; मुझे कई दिनों से नींद ही नहीं आती...!'

'कितने दिनों से ? दवा क्यों नहीं लेतीं ? वैद्य-हकीमों की कमी तो है नहीं।'

'मेरा वैद्य तू है। और हकीम भी तू है!'

'मैं ? क्या कहती हो चाची ? मैं तुम्हारी नींद कहाँ से ला दूँ ?'

'यही तो दुःख का विषय है। तुममें समझ हो तो...'

'मेरी समझ में तो एक ही बात आती है, चाची!...गिरिधरलाल का नाम....यही मेरे लिए दवा है, और यही औषधि...तुम्हें भी नींद लानी हो तो...'

'यह तो मुझे मालूम है; परन्तु बताओ तुम कितने वर्ष की हो ?'

'वर्ष! इस बात को तो मैं भूल ही गयी हूँ, चाची! पन्द्रह वर्ष या सोलह।'

'तेरा शरीर क्या बताता है ? पगली! कभी दर्पण में अपना मुख भी देखती है ?'

'नित्य देखती हूँ, चाची! प्रभु के सामने विकृत मुख से, दीन मुख से, मलिन मुख से मैं कभी जाती नहीं।'

'प्रभु के सिवा तुझे और कोई याद नहीं आता ?'

'क्यों नहीं ?...तुम, दादाजी, जयमल, चाचाजी, पिताजी........अरे वह कृष्णचरण भी........सभी याद आते हैं।'

'हे भगवान! इस विचित्र लड़की को कब समझ आयेगी ?' कह कर श्रीदेवी ने अपना मस्तक ठोका। वे निश्चय न कर सकीं कि मीरां उनकी बातों को समझती है या नहीं, अथवा जानबूझ कर स्पष्ट उत्तर न देने के लिए बातें बनाती है। कुछ क्षणों तक वे चुपचाप मीरां को देखती रहीं। मीरां को भी लगा कि उसकी चाची केवल विवेक के लिए या उसके कुशल समाचार जानने के लिए, अथवा विनोद के लिए उसके पास आयी न थीं: अवश्य वे किसी गम्भीर चिन्ता के कारण आज उसका सान्निध्य खोज रही थीं।

'चाची! मुझे कहीं भ्रम होता हो तो...मुझे माफ़ करो। तुम्हें ऐसा लगता हो कि मुझे किसी बात का ख़याल नहीं है, तो वह बात मुझे समझाओ......तुम तो मेरी माँ हो,' अन्त में मीरां ने कहा।

'अब देखो.......तुम जानती हो न कि जोधपुर की कुँवरि का विवाह हो गया !' चाची ने कहा ।

'हाँ, चाची ! हम सब तो वहाँ गये ही थे......।'

'अपने गिरिधरलाल के बिना तो तू कहीं जाती नहीं ! वे भी तो तेरे साथ गये थे...अच्छा, अब ज़रा कान खोल !'

'खुला है, चाची !'

'यह तो तुझे मालूम है कि जोधपुर की कुँवरि और तेरी एक ही उम्र है ?'

'देखने में तो मेरी ही उम्र की लगती थी । लंबाई में मुझसे कुछ नीची थी, क्यों ?'

'बहुत नीची तो नहीं थी...परन्तु तू उससे ऊँची है, इसलिये तेरा विचार पहिले आता है ।'

'मेरा विचार करो न चाची ! मैं कब ना कहती हूँ ?'

'किस बात का विचार, यह भी कुछ समझती है ?'

'मेरा विचार और किसका विचार ?'

'तेरा विचार तो है ही !...परन्तु तुझे कौन पसन्द आवेगा ? कौन सा कुटुम्ब और कौन सा स्थान तुझे पसन्द होगा, यह भी तो हमें जानना चाहिये ।'

'मुझे तो प्रिय लगेंगे मेरे गिरिधरलाल ! कुटुम्बों में पसन्द है मेरा राठोड़ कुटुम्ब...और स्थान में मेड़ता तथा व्रज...'

'पागल हो गयी है, इतनी बड़ी हुई तब भी समझती कुछ नहीं ! मैं तो तेरे विवाह की बात करती हूँ । दादाजी इस विषय में चिन्तित रहते हैं.... तेरा विवाह करना अब आवश्यक है ।'

यकायक मीरां को एक नये प्रकाश के दर्शन हुए । आज तक विवाह का उसे विचार तक न आया था । अपने कुटुम्बीजनों के सहवास में और गिरिधरलाल की उपासना में वह इतनी व्यस्त रहा करती थी कि उसे कभी इस बात का खयाल भी न आया कि यह मानव-देह उपभोग के आदान-प्रदान की आकांक्षा रखनेवाला एक प्रकार का यंत्र है ।

अपने आस-पास होनेवाले स्त्री-पुरुषों के विवाह उसकी दृष्टि के बाहर न थे। कितने ही लग्न-समारम्भों में वह स्वयं उपस्थित रह चुकी थी। जोधपुर, जयपुर और बूँदी आदि राजघरानों के लग्न-प्रसंगों पर वह मेहमान बनकर वहाँ गयी भी थी। उसकी पढ़ाई के क्रम में, कथा-श्रवण-वाचन में भी विवाह-विषयक अनेक बातें आया करती थीं। किसी राजकुमारी का धूमधाम से विवाह होता; कोई बड़ों के बताये हुए राजकुमार से विवाह करने की अनिच्छा प्रकट कर अपने मनोवांछित युवक से लग्न कर लेती, अथवा स्वयंवर का समारंभ रचाती, या गंधर्व-विवाह करके चली जाती! कभी-कभी तो ऐसे प्रसंग खड़े होते कि कोई कुमारी किसी पुरुष विशेष से विवाह करने के लिए अनेक यातनाएँ भोगती, और पुरुष भी किसी कन्या विशेष के प्रेम में पड़कर अपना प्राण दे देता!

नये प्रकाश में चारों ओर मीरां को विवाह करनेवाली दुनिया के दर्शन हुए। इतना ही नहीं....उसने देखा कि पुरुष जितनी चाहे उतनी स्त्रियों से विवाह करता है! और स्त्रियां पुरुषों को इस प्रकार के अनेक विवाह करने देती हैं! रामचन्द्रजी ने केवल एक ही स्त्री—सीता से पाणि-ग्रहण किया, परन्तु रावण ने अपनी एक पत्नी मन्दोदरी के होते हुए भी सीता का हरण किया! और कृष्ण ?....अहो हो हो !...उनके तो सोलह हज़ार एक सौ और आठ रानियाँ थीं ।...यह विवाह क्या वस्तु होगी ? क्या मीरां को भी विवाह करना पड़ेगा ?....किस कारण से ?... और विवाह का अर्थ क्या ?

इन विचारों में मग्न मीरां को आस-पास का ख़याल न रहा। उसकी चाची ने उसके गाल पर थपकी लगाकर जागृत करते हुए पूछा :

'है तुम्हारे ध्यान में कोई पसन्द आया हुआ कुमार ?...घबराओ नहीं, तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कहीं लग्न न करेंगे !'

'चाची ! क्या विवाह करना मेरे लिए आवश्यक है ?'

'पगली ! बिना ब्याहे कोई रह सका है आज तक ?'

'विवाह करना सबके लिए अनिवार्य क्यों है ?'

'झख मारने के लिए !...लग्न की मांग तेरा मन करेगा...और तन भी करेगा !'

'इसका अर्थ ?'

'सिर ! तेरा और मेरा दोनों का !...देख, भगवान ने तुझे नारी-देह दी है; इस देह के धर्म का तुझे निर्वाह करना ही पड़ेगा। आज से इस बात को याद रखना कि तुझे अपनी देह की लग्न किसी पुरुष के साथ करनी पड़ेगी...आज नहीं तो कल; कल नहीं तो परसों ! और यह लग्न किसके साथ करनी ? जो पुरुष पसन्द आवे...अर्थात्...जो पुरुष अपने नेत्र और मन को प्रिय लगे, जो कीर्ति, सुख और संतोष देनेवाला लगे...ऐसे पुरुष के साथ !' चाची ने सांसारिक विषयों से अज्ञात अपनी भोली भतीजी को ज्ञान देना शुरू किया।

'ऐसा कोई पुरुष मिल सकता है, चाची ?'

'क्यों नहीं ? आखिर सारे संसार की स्त्रियां ब्याह करती ही हैं।... यदि ऐसे पुरुष न मिलते, तो वे ब्याह कैसे करतीं ?...हम बड़े लोग भी खोज में रहेंगे और तू भी ध्यान रखना...खोजने वाले को सब कुछ मिल जाता है। तेरे इस शरीर में रूप-रूप के भंडार भरे हैं....उसका भी तुझे भान नहीं....'

'अच्छा, चाची ! आज से अपनी आँखों को योग्य पुरुष की शोध का काम सिखलाऊँगी...'

'इसका अर्थ ?'

'अर्थ यही कि कौन पुरुष मेरे तन और मन को प्रिय लगता है, इस बात की शोध करने की आँखों को शिक्षा दूँगी।'

'मरी कहीं की !....वह कुछ सीखने-सिखाने की बात है ? अभी तक तुझे समझ न आयी ! अच्छा खैर....आज की बातचीत ध्यान में रखना... अब तुझे जल्दी से ब्याह कर लेना चाहिये...दादाजी कितनी चिन्ता करते हैं....समझी ?' कहकर चाची ने मीरां का चिबुक पकड़ा और कंधे पर हलकी सी थपकी लगायी। कुछ क्षणों के लिए वह मीरां की सखी बन

गयीं, और इस स्नेह भरे भाव से विवाह का प्रस्ताव मीरां के सामने रखकर चली गयीं।

मीरां अकेली रह गयी। एकान्त में चाची की बातों ने नये विचारों की शृंखला खड़ी कर दी। चाची का कहना सत्य था। उसने आज तक अपने शरीर में होनेवाले अनेक परिवर्तनों की ओर ध्यान न दिया था, परन्तु ये परिवर्तन हुए अवश्य थे, इसका उसे तुरन्त ख़याल आया। बचपन में जिस सरलता और स्वच्छन्दता से वह दौड़ा करती, उस प्रकार वह अब दौड़ न सकती थी, इस बात की ओर उसका ध्यान सबसे पहिले गया। इसके अतिरिक्त और भी परिवर्तन दिखाई पड़ते थे...पुष्पों में से कोई दूसरी ही सुवास आती थी, चांदनी की शीतलता कोई दूसरा ही अनुभव कराती थी। कण्ठ से नयी सुरावलि निकलती, और हृदय में ऐसी नयी-नयी उर्मियाँ उठतीं जो सारी सृष्टि को बदलकर उसे किसी दूसरी रंगीन सृष्टि के रूप में उपस्थित करतीं। देह पर मानों कोई नया ही रंग चढ़ा हो!...मीरां को अवश्य अब ऐसा अनुभव होने लगा था कि उसके अंग-अंग में भी नवीनता ने प्रवेश किया है, उसके मन और शरीर नये स्पर्शसुख की आकांक्षा करने लगे हैं, हृदय में नये-नये स्पन्दन होते हैं, और रह रह कर उसकी देह में स्पृहणीय कँप हुआ करते हैं।

यह सब क्या था? यह परिवर्तन कैसा? और इस परिवर्तन के होते ही चाची ने विवाह की बात शुरू की! मेरी देह की यह लग्न-तैयारी तो न होगी? यह तैयारी क्यों? यह वही वस्तु तो नहीं, जिसे यौवन कहते हैं? यौवन ही हो तो? क्या यह देह किसी पुरुष को सौंपनी होगी?...और सौंपने के बाद....बच्चों का भार!...यौवन का अन्त...वार्धक्य...और उसके बाद मृत्यु! क्या मीरां भी उस घटना क्रम का एक यंत्र बन जायगी?

मीरां को रोमांच हो आया और कंप भी। परन्तु सारी प्राणवान सृष्टि का उद्गम इसी मार्ग में है! नहीं? मीरां के ज्ञान ने उसके तर्क का उत्तर दिया।

जन्म, जीवन और मरण ऐसी परिस्थितियों का अनुभव करने वाली सृष्टि को जीवन कहना योग्य होगा ? ऐसी सृष्टि के सर्जन का हेतु ही क्या, जिसको अन्त में प्रभु खिलौने की तरह तोड़-फोड़ कर नष्ट कर देते हैं ? परन्तु इसका जवाब कौन दे ? प्रभु से पूछा जाय,...वे ही इसका उत्तर दे सकते हैं, और तभी कुछ समझ में आवे ! प्रभु बोलने में और उत्तर देने में पूरे कृपण हैं....वे उत्तर दें या न भी दें ! तब तक अपने प्रश्नों का उत्तर भी मीरां को स्वयं ही खोज निकालना होगा। मनुष्य ऐसे खिलौनों का सर्जन करे ही क्यों ? विवाह करने की तो मनुष्य को आदत सी पड़ गयी है। क्या मीरां को भी इस आदत के चक्र में फँसना पड़ेगा ?

'मेरे गिरिधरलाल ! मुझे क्या उत्तर देते हो ?'

मीरां ने गिरिधरलाल के अपूर्ण चित्र को पुनः सामने रखकर पूछा।

चित्र अभी अधूरा था। उसमें अभी कुछ रंग भरने बाकी थे। यह चित्र पूरा होने पर भी बोलेगा या नहीं...मीरां के प्रश्न का उत्तर देगा या नहीं, यह समस्या सुलझे बिना रही।

'अभी ये स्वयं अधूरे हैं ! उत्तर कैसे दें ?' कहकर मीरां चित्र को पूरा करने में लग गयी। कुछ समय बाद चित्र पूरा हो गया। मीरां ने चित्र को ध्यान मे देखा।

'वाह ! कैसा सुन्दर मुख है ! प्रभु ! जरा बोलो तो सही !....कैसा सुन्दर मुख पाया है तुमने ?....' मीरां ने चित्र के साथ बोलना शुरू किया।

'बाँके बिहारी !...बंसीधर !...नटवर नागर !...चित्र में ही बठे रहना है या कभी बाहर भी आओगे ?...बाहर आओ, तो मैं ही सबसे पहिले पकड़ लूँगी...और अपनी चाची से कहूँगी कि यह रहा वह रूप जिस पर मेरे नेत्र और मेरा हृदय मोहित है....!'

'प्रभु कहाँ से प्रत्यक्ष होंगे ?' मीरां का यही पुराना प्रश्न।

'हवा में से, तेज में से, पानी में से, पृथ्वी में से, आकाश में से...' और दूदाजी का यही पहलेवाला उत्तर।

'इस मूर्ति में से निकल कर भगवान दर्शन दे सकते हैं या नहीं ?' मीरां की प्रश्नावलि आगे चली।

'क्यों नहीं ? प्रभु के लिए कुछ भी अशक्य नहीं...' दूदाजी का कहा हुआ सिद्धान्त उसे याद आया।

गिरिधरलाल के चित्र को देखती हुई मीरां को इस प्रश्नोत्तरी का खयाल आया, और खयाल आते ही उसके हृदय में बिजली चमक उठी।

'विवाह करूँगी तो केवल प्रभु के साथ! मानवीय पुरुष मेरे लिए उपयुक्त नहीं!...और मेरी जैसी मानवीय नारी को यदि किसी मानव का ही हाथ स्वीकार करना पड़े, तो क्यों न प्रभु ही मनुष्यरूप धारण करके मेरे सामने आएँ?....यदि मैं इस बात की प्रार्थना करूँ तो?'

मीरां ने चित्र को अपने आवास में इस प्रकार सुव्यवस्थित ढंग से रखा कि उसकी दृष्टि सर्वदा उस पर पड़ती रहे। चित्र को सजाकर रखने के बाद उसने अपनी नजर घुमायी। दर्पण में उसका सारा शरीर दिखाई पड़ा... साथ ही में गिरिधरलाल के मोहक चित्र का प्रतिबिम्ब भी था। मीरां चौंक पड़ी। गिरिधरलाल उसके पास आकर कहाँ से खड़े हो गये? वे चित्र में से तो नहीं निकल आये? भगवान के प्रतिबिम्ब को वह ध्यान से देखने लगी। कैसा पुरुष-लावण्य? उसने अपने प्रतिबिम्ब को भी देखा। उसका भी सौन्दर्य कम न था। क्या वास्तव में वह इतनी सुन्दर है? उसे यकायक विचार आया। राधा...और गोपियाँ भी ऐसी ही सुन्दर होंगी? अथवा उससे भी अधिक? उसकी विचार परम्परा आगे चली। वे उससे भी अधिक सुन्दर न होतीं तो कृष्ण उनको स्वीकार कैसे करते?...परन्तु जब तक वह स्वयं राधा के रूप को न देखे, तब तक यह कैसे मान ले कि राधा उससे अधिक सुन्दर थी? और ऐसा सौन्दर्य प्रभु को छोड़कर और किसको अर्पण किया जावे? अपनी सर्वोत्तम वस्तु प्रभु को ही अर्पण करना चाहिये?

'मेरी यह सुन्दर देह भी प्रभु को ही अर्पण होगी!' दर्पण में देखते हुए मीरां ने निश्चय किया।

~ ३ ~

परन्तु दर्पण में यह तीसरा कौन दिखाई पड़ा ? दूर से बार-बार कोई देखता था और पुनः हट जाता था। मीरां ने घूमकर पीछे देखा। खण्ड के एक कोने में कृष्णचरण खड़ा था। यहाँ वह कब से खड़ा होगा ? क्या उसने मीरां की सब चेष्टाएँ देखी होंगी ? अकेली न रहकर उसने दासियों को साथ रखा होता, तो अच्छा था। मीरां के मन में विचार आया। परन्तु उससे क्या होता ? कोई न कोई तो उसकी चेष्टाएँ अवश्य देखता ! तब कृष्णचरण जैसा भक्त बिना रोक-टोक के यहाँ चला आया, तो इसमें हर्ज ही क्या ?'

'तुम कैसे आये, चरण ?' मीरां ने पूछा।

'उत्थापन का समय कब का हो गया...और तुम तो यहाँ खड़ी खड़ी दर्पण में अपना मुख और शरीर देख रही हो !'

'तुम्हारे कहने का तात्पर्य ?'

'यही कि कबीरजी का कथन याद करो :

'मुखड़ा क्या देखे दर्पन में ?'

'तुम तो रह गये जोगी के जोगी ! क्या जानो इस बात को ? मैं अपने प्रभु के पास कभी मैली-कुचैली न जाऊँगी। अपनी इस देह को सजाऊँगी सोलहो शृंगार से, और तब चलूँगी प्रभु के सान्निध्य में ! अपने को...अपने मुख को मैं बराबर आइने में देखती रहूँगी...वे जरा भी विकृत न होने पावें इसलिये। विकृत मुख और विकृत मन लेकर प्रभु के पास जाना उचित नहीं।'

'सगुण भक्ति भय से भरी हुई है, मीरां !'

'कौन सा भय ?'

'मुक्ति नहीं मिलती ! प्रभुमयता प्राप्त नहीं होती ! निर्गुण ब्रह्म की उपासना बिना...'

'मैं तो सगुण-निर्गुण का भेद समझती नहीं। मैंने भी तुम्हारे साथ शास्त्रीजी के पास बैठकर 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' के विषय में काफ़ी चिन्तन

किया है। मेरे मन तो जो सगुण है, वही निर्गुण है, और जो निर्गुण है, वही सगुण।'

'विचार सर्वदा तर्कबद्ध होना चाहिये।'

'तर्क के चक्कर में मैं पड़ती नहीं। मेरे गिरिधरलाल मुझे प्रिय हैं। वे निर्गुण होंगे, तो भी मेरे लिए सगुण बन जाएँगे; यदि वे मुझे निर्गुण पद दिलाना चाहेंगे, तो वे ही मेरा हाथ पकड़कर उस पद पर ले जायेंगे। मेरा यह पक्का विश्वास है...और इसी विश्वास पर मैं तुम्हारे तर्क और न्याय की विशेष परवाह नहीं करती।'

'तुम तो राजकन्या हो; कल राजरानी बनोगी, और यह सेवा-पूजा तथा भक्ति-भजन का चक्कर भूल जाओगी...मेरे जैसे साधु को तो जीवन भर तर्क, न्याय और वेदान्त का ही सहारा है।'

'तुमको किसने कहा कि मैं राजरानी बनूंगी?'

'राजमहल में से कुछ ऐसी ही ध्वनि आ रही है।'

'तुम पढते-लिखते हो या ऐसी ही ध्वनि सुनने में लगे रहते हो?'

'पढ़ने-लिखने का कार्य तो चलता ही है...परन्तु तुम्हारे संबन्ध की कोई बात जब कान में पड़ जाती है, तब उसे भूलना कठिन हो जाता है... मैं तो ठहरा साधारण सा व्यक्ति!...चेतावनी देने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता हूँ?....बाकी....'

'तो तुमने मेरे विषय में क्या सुना?'

'कहूँगा किसी और समय! इस वक़्त तो उत्थापन में देर होगी...तुम जल्दी ही आ पहुँचो,' कह कर कृष्णाचरण खण्ड के बाहर जाने लगा। घूम कर मीरां ने आइने में पुनः देखा। जाते-जाते एक बार और कृष्णाचरण की दृष्टि मीरां की देह पर रुक गयी।

मीरां के कण्ठ से यकायक एक गीत निकला :

नन्दलाल! नहिं मैं आऊं, घर काम है!
तुलसी की माला में श्याम है...नन्दलाल०
वृन्दा के वन के मारग जातां
राधा गोरी और कान्ह श्याम है!...नन्दलाल०

गीत कुछ क्षण के लिए रुक गया। मीरां ने एक असाधारण कंप का अनुभव किया, और सहसा उसके हृदय में विचार आया :

'मैं भी गोरी हूँ; राधा के सदृश ! पूर्वजन्म में मैं ही राधा तो न थी ? राधा तो कब की कृष्णमय बन गयी !....कृष्णमय तो गोपियां भी बन गयी थीं !'

मीरां का गीत आगे चला :

वृन्दा के बन में रास रचा है !
सहस्र गोपी और एक कान्ह है। ...नन्दलाल०

वृन्दावन उसने देखा न था; व्रज की कल्पना वह कथाश्रवण से किया करती; गोकुल की सीमाओं का उसे ज्ञान न था; यमुना देवी कृष्ण कृष्ण कहती हुई कैसे कृष्णमय बन कर बह रही थीं, यह उसने अपनी आँखों से कभी देखा न था; विष्णुपद का स्पर्श करने के बाद पृथ्वी पर उतरने वाली गंगा ने चन्द्रमौलि के जटाकलाप में कैसे प्रवेश किया, और वहाँ से निकल कर यह पवित्र जल-धारा किस प्रकार सागर की ओर दौड़ी जाती थी, इसका इन्द्रियगम्य परिचय मीरां को न था। तथापि उसकी दृष्टि के सामने वृन्दावन, गोपी, कृष्ण और रास के दृश्य बराबर खड़े होते थे। उसे भ्रम तो न होता था ? मेड़ता में वृन्दावन कैसे आया ? परन्तु यह भ्रम न था। अपनी कल्पना के वृन्दावन में उसे रास का सारा दृश्य दिखाई पड़ता था। कृष्ण की बंसी बज रही थी...दूर सुदूर ! गोपियों की रासलीला चल रही थी.......गीत सुनायी पड़ रहे थे। दूर-दूर...वृन्दावन की किसी कुंजगली में ! और मीरां मानो अकेली गोकुल ग्राम में रह गयी हो, और रास के परमानन्द से विमुख बनी हुई किसी गोपी की विरह-व्यथा का अनुभव करती हो, ऐसी दशा में पुन: आकर गाने लगी :

इस तीरे गंगा, और उस तीरे जमुना !
बीच में गोकुल गाँव है !...नन्दलाल०

बीच में चाहे गंगा आवे अथवा यमुना ! प्रणयिनी को उसे पार करना ही पड़ेगा ! गोकुल में अकेली पड़ी हुई गोपी मीरां दौड़कर जमुना में कूद

पड़ी, तैर कर सामने पार पहुँची और शीघ्रता से रास-मण्डल में शामिल हो गयी...।

आँखों के सामने का यह चित्र यकायक अदृश्य हो गया और मीरां ने अपने को पुनः मेड़ता के राजमहल में पाया। परन्तु उस चित्र का नशा अभी पूर्णरूप से उतरा न था।

'कदाचित् रासमण्डल की मैं एक गोपी होऊँ तो ?....परन्तु उस गोपी को पुनर्जन्म कैसे मिले...श्रीकृष्ण के साक्षात्कार के बाद ?...लेकिन कृष्ण को बार-बार इस प्रकार मिलने की आकांक्षा हो तो ?...फिर से जन्म भी लेना पड़े।....गिरिधरलाल !...आह ! मुक्ति के बाद पुनः प्रभु-मिलन का तीव्र आनन्द प्राप्त करना हो तो दूसरा मार्ग क्या ? पुनः जन्म लेना ही पड़े। बार-बार जन्म लेने में हानि क्या ? यदि प्रत्येक जन्म में प्रभु मिलते हों तो ?' मन ही मन इस प्रकार का विचार करती हुई मीरां का हृदय प्रेम की उर्मियों से भर गया। चित्र के सामने देख कर उसने अपने दोनों हाथ उठाये और हवा में प्रेमालिंगन किया और यकायक उसके कण्ठ में स्वर निकले।

मीरां के प्रभु गिरधर नागर !
चरण कमल सुखधाम है !...नन्दलाल०

गाती हुई वह खण्ड के बाहर निकली। दरवाजे के पीछे कृष्णचरण अभी तक खड़ा हुआ सब दृश्य देख रहा था।

'अभी तक तुम यहीं हो ?' मीरां ने पूछा।

'हाँ...तुम्हारा संगीत सुन रहा था...और पागलपन देख रहा था।'

'पागलपन बिना गीत आ ही नहीं सकते ! ...चलो मन्दिर में आज देर हो गयी...उत्थापन का समय बीत गया...'इतना कह कर ज्योंही मीरां आगे बढ़ी, त्योंही दूदाजी ने प्रवेश किया।

'उत्थापन तो कब का हो गया...अब तो सायं आरती का समय हो रहा है,' दूदाजी ने कहा।

'किसने किया सब काम ?'

'जयमल ने...तुम दोनों जब नाच-गाने में व्यस्त रहो, तब पूजा का कार्य तो किसी और को करना ही पड़े,' दूदाजी ने उत्तर दिया।

मीरां को दादाजी के ये शब्द चुभ गये। आज तक एक भी कटु शब्द उन्होंने मीरां को कहा न था। आज कटु शब्द क्यों? भगवान की पूजा का कार्य मीरां, जयमल और कृष्णचरण इन तीनों के बीच बांट दिया गया था और वे ही इस कार्य को संपादित करते थे, प्रायः तीनों मिलकर करते। यदि किसी कारणवशात् मीरां और जयमल पूजन-कार्य में कभी सहयोग न दे सकें, तो यह कृष्णचरण का धर्म था कि वह स्वयं सब काम संभाल ले। उस साधु को और कोई काम था नहीं। उसे कुटुम्ब की चिन्ता न थी, राज-कार्य न था, विविध क्रीड़ाओं का आकर्षण न था, और न था आखेट का कार्यक्रम! वह स्वयं क्यों न पूजन-कार्य संभाल ले? परन्तु इधर कुछ समय से उसका चित्त पूजन में लगता न था। कभी-कभी पूजा के समय वह मन्दिर में दिखाई न पड़ता, और मीरां के आवास के आसपास घूमता हुआ लोगों को दिखाई देता। महल की स्त्रियों में इस बात की काफ़ी चर्चा हुई थी, और इसीलिये मीरां की चाची ने मीरां के विवाह की बात उठायी थी। दूदाजी भी इस विषय से चिन्तित रहा करते। उन्होंने इस बात का अनुभव कर लिया था कि भक्तिभाव के आधिक्य के कारण मीरां सामान्यता की कोटि से ऊपर उठ चुकी है परन्तु इसमें दोष किसका? स्वयं दूदाजी का ही! उन्होंने मीरां के हृदय में उस के बाल्यकाल से ही भक्तिरस का सिंचन किया था।

परन्तु ध्यान से विचार किया जाय, तो इस कार्य में बुराई क्या थी? भक्तिभाव ने किसी का जीवन नष्ट किया हो, यह कभी देखा नहीं गया। ......परन्तु ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं, जिनमें भक्तिभाव देह-धर्म के प्रचण्ड झंझावात में भग्न हो गया हो, तोड़-मरोड़ कर विकृत कर दिया गया हो, अथवा दैहिक माँगों के अनुरूप बन गया हो। भक्ति का आवेश भक्ति को भ्रम में डाल विकार का ही पोषण करता चले तो? ऐसे दृष्टांत भी उनके सामने थे। उनको अपना बाल-मित्र शार्दूल सिसोदिया याद आया। शार्दूल भक्त था। उसने शास्त्रों का अध्ययन किया था और अनेक विषयों में ज्ञान

प्राप्त किया था। परन्तु उम्र की परिपक्वता प्राप्त करने के पहिले ही वह चिश्ती-पंथियों के सूफ़ीवाद की ओर आकर्षित हुआ, और खुलेआम मुसलमान बन गया। उसकी भक्ति घूमी सनम के दीदार की ओर! और वह सनम कौन? एक सुन्दर स्त्री और........बोतल में से जाम में शराब निकालनेवाला एक सुन्दर बालक! शार्दूल का वह सादुल्ला बन गया! यह सादुल्ला अपने गुरु की ही पुत्री फ़ातिमा के पीछे पागल बना! ये गुरु और गुरु-पत्नी कौन थे, इसका भी दूदाजी को स्मरण आया। एक विद्वान ब्राह्मण एक रूपवती क्षत्रिय-कन्या के मोह में पड़ा। उन्होंने विवाह की इच्छा प्रदर्शित की; परन्तु हिन्दू-समाज ने ऐसे विवाह की अनुमति नहीं दी। वे दोनों भाग निकले, और उन्होंने इस्लाम धर्म का आश्रय लिया। ब्राह्मण-क्षत्रिय के भेद को मिटा कर वे मुस्लिम पति-पत्नी बन गये! ये सब भक्त थे, भक्तिभाव में डूबे हुए थे! परन्तु...पुरुष और स्त्री के देह-आकर्षण ने उनकी भक्ति को सूफ़ीवाद में बदल दिया।

ऐसी घटनाएँ केवल हिन्दुओं में ही नहीं घटती थीं। मुसलमान भी देह-धर्म के इस प्रभाव से मुक्त न थे। देह के आकर्षण से प्रभावित होकर कितने ही मुसलमान कबीर-पंथी बन गये। ये धीरे-धीरे पुनः हिन्दुत्व की ओर आये, और साधुओं के रूप में उनको हिन्दू-समाज ने पुनः अपना लिया।

इसमें बुराई भी क्या हुई?

बुराई कोई न हो, परन्तु इस प्रकार के विकार के कारण जो धर्म-परिवर्तन होते थे, उनमें सत्य का तो अभाव अवश्य था। सत्य का ह्रास वांछनीय नहीं! साधु-सन्त, फ़क़ीर-औलिया भले ही वन्दनीय हों, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राठोड़-कुटुम्ब में आकर रहनेवाले किशोर-साधु कृष्णचरण के यौवन-प्रवेश पर दृष्टि न रखी जाय। विशेषकर जब घर ही में भक्ति-भाव के आवेश में पागल बनी हुई जवान लड़की हो, और मधुर कण्ठवाले उस साधु को एक कुटुम्बीजन की भाँति घर में निर्बाधरूप से घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता हो! प्रायः ये दोनों साथ ही पढ़ते, पूजा करते और भजन गाते!....और कुछ समय से घरवालों को विदित हो रहा था कि कृष्णचरण

की आँखें बारम्बार मीरां को खोजा करती हैं ! इस कारण सतर्कता की आवश्यकता पूरी थी। भक्ति में आसक्त दूदाजी व्यवहार की अवहेलना कर न सके। मीरां का भक्तिभाव की ओर अग्रसर होकर व्यवहार को बार-बार भुला देना, उनको खटकता रहा। अपनी आध्यात्मिक प्रगति में बाधा न पहुँचे, और साथ ही साथ मीरां का लक्ष्य व्यवहार की ओर जाय, इस उद्देश्य से वे एक बार मेड़ता से हटकर वृन्दावन चले गये थे। मीरां के भविष्य का विचार इस समय भी उनके मन को उद्वेलित कर रहा था। मीरां के हृदय में विवाह का विचार उत्पन्न हो ऐसे वातावरण का सर्जन करने के लिए रनिवास के सभी लोगों को योग्य सूचना दे रखी थी, और इस बात की भी ताकीद कर दी थी कि इस वातावरण में बाधक होने वाले सभी तत्वों पर निगाह रखी जाय और उनको दूर किया जाय। मीरां का साधु-सन्तों के साथ अधिक मिलना-जुलना भी उन्हें पसन्द न था। इसमें से कदाचित् कोई अनिष्ट परिणाम हो जाये, इसका भी भय रहा करता। इस विषय में सबसे पहिले उनकी दृष्टि कृष्णचरण पर पड़ी। एकाध सप्ताह से सब लोगों का ध्यान उसके आचरण की ओर आकृष्ट हुआ और सभी उसके व्यवहार को शंकाशील दृष्टि से देखने लगे। कृष्णचरण ने अभी तक कोई आपत्तिजनक कार्य नहीं किया था, तथापि उसका घड़ी घड़ी मीरां के सान्निध्य में आना किसी को भी पसन्द न था। इधर कुछ समय से मीरां को देखकर उसकी आँखें पागल बन जाती थीं।

ऐसी परिस्थिति में आज सायं पूजन के समय जब मीरां और कृष्णचरण को दूदाजी ने साथ-साथ खड़े हुए पाया, तब वे अपना रोष रोक न सके और सहज कटु बात बोल उठे।

'दादाजी ! आज मुझसे भूल हो गयी ! गिरिवरलाल का एक चित्र मैं खींचने बैठी...मन उसको पूरा किये बिना उठने को हुआ नहीं... इसी कारण मन्दिर की पूजा रह गयी...' मीरां ने दादाजी को उत्तर दिया।

मीरां के बोल दादाजी के लिए वेदोच्चार थे। इस निर्दोष बालिका में उन्हें साक्षात् भक्ति की मूर्ति दीख पड़ती, और उसकी वाणी से स्फटिक-शुद्ध सरस्वती के संगीतोच्चार की ध्वनि निकलती।

'मुझे तो वह चित्र बताया नहीं ?' दूदाजी ने कहा।

'आज ही उसे पूरा किया...चाची देख गयी हैं...'

'और इस कृष्णाचरण ने भी देखा होगा, नहीं ?'

'नहीं, दादाजी ! इसको वह चित्र नहीं दिखाया। यह तो मुझे उत्थापन के लिए कहने आया था...मैं ही चित्र के सामने से हट न सकी...और एक बात कहूं, दादाजी ?...चित्र देखते-देखते मैं वृन्दावन में पहुँच गयी, भगवान के रास में सम्मिलित हुई और उनकी बंसी के सुर भी सुन आयी'...मीरां ने कहा।

'पगली कहीं की !'

'क्यों दादाजी ? फिर मैंने कोई भूल की क्या...भक्ति-भाव में पड़कर ?'

'भूल की या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता; परन्तु मेरी मीरां जब व्यवहार की कसौटी पर भी खरी उतरे, तभी उसकी भक्ति सच्ची !'

'इसका अर्थ, दादाजी ? आप कहें, तो व्यवहार की भी कुशलता मैं दिखाऊँ...क्या मैंने घुड़सवारी नहीं सीखी ? क्या मैं तीर चलाना नहीं सीख गयी ?...अब आपकी इच्छा हो, तो युद्ध या राजकार्य मुझे सौंप कर देखें......'

'पहिले अपनी चाची से जाकर पूछ कि व्यवहार के क्षेत्र में भक्तों ने कहाँ कहाँ भूल की है...मैं भी उन्हीं की सलाह लिया करता हूँ...' कहकर दूदाजी हँस पड़े। मीरां भी अपना हास्य रोक न सकी। दोपहर के बाद चाची के साथ जो उसकी बातचीत हुई थी, उसे मीरां भूली न थी।

ये लोग—मीरां, दूदाजी और कृष्णाचरण—मन्दिर में पहुँच गये, जहाँ जयमल आरती लेकर उनकी राह देख रहा था। कुटुम्ब के अन्य स्त्री-पुरुष वहाँ पहिले से उपस्थित थे। गिरिधरलाल को पहिनाये हुए कपड़े और उनका आज का शृंगार देख कर मीरां बहुत ही प्रसन्न हुई। प्रज्ज्वलित आरती की ज्योति इष्टदेव के मुख के सामने वर्तूल-अर्धवर्तूल में घूम रही थी, और प्रभु के स्मित की सुन्दरता को और भी बढ़ा रही थी। प्रियतम के मुख का दर्शन आरती द्वारा ही होना चाहिये। भगवान के मुखारविन्द को, देह को,

और शृंगार को प्रकाश में पृथक-पृथक देखने का नाम ही आरती ! आज मीरां को आरती का रहस्य समझ में आया ! सूर्य, चन्द्र और नौ लाख नक्षत्रों की आरती आठों पहर हुआ करती है, तिस पर भी मनुष्य भगवान के मुख को देख नहीं पाता ! और यहाँ....कैसा आश्चर्य ?...भगवान सामने खड़े हैं....कैसा सुन्दर है उनके मुख का स्मित !....यह स्मित ही ब्रह्माण्ड व्यापी धवल आकाश तो नहीं है ?...

आरती पूरी हुई । उसकी सब विधि पूरी होने पर दूदाजी बोले :

'मीरां ! आज कौन सा भजन गाओगी ?'

'जो प्रभु को अच्छा लगेगा...जिसका वे आदेश देंगे,' मीरां ने कहा ।

'तुमने कितने पदों की रचना की है ?'

'मुझे याद नहीं !...यह कृष्णचरण बता सकता है...मेरा भजन एक बार सुनते ही इसे याद हो जाता है, और बाद को यह उसे लिख लेता है...मैं तो दादाजी ! यकायक गाने लगती हूँ...क्या गाया यह याद नहीं रहता....मन में तरंग उठती है और मैं नये नये गीत गाने लगती हूँ....'

'आज प्रभु का शृंगार जयमल ने बहुत ही सुन्दर किया है ।'

'हाँ दादाजी ! मानो....' धातुमूर्ति प्राणवान हो इस प्रकार उसे ध्यान से देखती हुई मीरां गाने लगी :

आवत कुंजगलिन में गिरधारी,

राधा छिप गई लाज की मारी...आवत०
कसुंबल पाग, केसरिया जामा, ऊपर फूल हजारी;
मोर मुकट पर छत्र विराजे, कुंडल की छबि न्यारी....आवत०
केसरी चीर पीताम्बर पट कुल, ऊपर अंगिया भारी;
आवत देखी कृष्ण मुरारी, छिप गई राधा प्यारी...आवत०
गल मोतिन की माल विराजे नथनी की छबि न्यारी;
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल बलिहारी....आवत०

कुछ क्षणों के लिए मन्दिर का वातावरण अद्भुत बन गया । कण्ठ-माधुर्य ने प्रभु के वर्णन को मधुर काव्य का रूप प्रदान कर दिया । ऐसे कीर्तनों

में शब्दों द्वारा खड़ी हुई मूर्ति और मन्दिर में स्थापित मूर्ति अद्भुत एक-रूपता प्राप्त करती है। कुछ समय के लिए आदमी संसार के सब प्रपंच भूल जाता है, विशुद्धि का अनुभव करता है और सब को क्षमा प्रदान करने वाली एकता का आनन्द लूटने लगता है। वास्तव में प्रभु का अस्तित्व है या नहीं, यह प्रत्येक युग का महागहन प्रश्न है! प्रभु हों या नहीं, पूर्णता को न प्राप्त करने वाले मानव का अधूरा ज्ञान महती अगम्यता को समझ नहीं पाता, और हारकर उसे ईश्वर का नाम देता है! इस प्रकार हमारी अपूर्णता पूर्णता का आकार धारण करती है और मानवता की मंजिल में हम एकाध क़दम आगे बढ़ते हैं, मूर्ति-पूजन और मूर्ति-कीर्तन ने इस समय सबके हृदय को विशुद्ध बना दिया था।

परन्तु मन्दिर के प्रांगण से बाहर निकलते ही पुनः मलिनता ने सब को घेर लिया। एक दासी ने आकर श्रीदेवी के कान में धीरे से कहा :

'आपने सुना मीरां ने क्या गाया ?'

'क्या गाया ? आज का भजन तो मुझे बहुत ही प्रिय लगा....मीरां का कण्ठ और उसके भजन के शब्द अभी तक कानों में गूंज रहे हैं।'

'यही तो सबसे बड़ी कठिनाई है! राक्षस भी सुन्दर रूप धारण करके छल सकता है।'

'इसका क्या अर्थ ?'

'इसका अर्थ यही कि जिसे आप अच्छा समझती हैं, वह कदाचित् अच्छा न भी हो...निःस्वार्थ भावना का दिखावा करने वाले के हृदय में स्वार्थ की भावना नहीं है, यह कहना कठिन है...मन्दिर जैसी पवित्र जगह में भी आँख मारने वाले दिखाई पड़ते हैं...।'

'चल हट ! तुम दासियों को तो जहाँ-तहाँ आँख मारने वालों को छोड़कर और कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता...।'

'आप जैसा विचारें, मैं तो जो योग्य लगता है, वह कह देती हूँ। आप याद करें मीरां के भजन की अन्तिम पंक्ति :

चरण कमल, बलिहारी !'

'इसमें क्या बुराई है ?'

'बुराई इतनी ही कि उसमें साधु कृष्णचरण का नाम है...यह चरण-कमल न होता तो सब ठीक ही था !'

श्रीदेवी चौंक पड़ीं। संदेह का वातावरण तो कुछ-कुछ उत्पन्न हो चुका था। कहीं ऐसा तो न था कि सरल, कोमल तथा भोले स्वाभाव की मीरां का हृदय भक्ति के रूप में किसी पुरुष की कामना करता हो ? हमारे समाज ने स्त्रियों को पति में ही परमेश्वर के दर्शन कराकर एक उच्च स्तर की व्यवहार कुशलता का परिचय दिया है; परन्तु मीरां को तो पति मिलने के पहले ही प्रभु का पागलपन प्राप्त हुआ था...प्रभु के पीछे का यह पागलपन वास्तव में किसी पुरुष के प्रति की कामना का स्वरूप हो तो ? और कृष्णचरण देखने में सुन्दर तो था ही, कण्ठ भी उसका मधुर था, भक्तिभाव में लीन रहने का वह दिखावा भी करता था और विद्वान भी था। ऐसा आकर्षक व्यक्ति सतत परिचय में आकर मीरां के मन पर अपना प्रभाव डाले, यह सम्भव था। मानव स्वभाव की कमज़ोरी ने दासी की बात पर कुछ-कुछ विश्वास उत्पन्न किया।

'और मीरां के पदों में तो 'चरण' और 'कमल' घड़ी-घड़ी आया करते हैं, इसका भी खयाल है ?' विचार में पड़ी हुई श्रीदेवी को, मौक़ा देखकर, दासी ने कहा।

श्रीदेवी का संशय दृढ़ हुआ। दासी की बात उन्हें उपेक्षणीय न लगी। मीरां का विवाह शीघ्र ही कर देना चाहिये ऐसा निश्चय करके वे दूदाजी के पास गयीं, और अपना मन्तव्य उन्हें कह सुनाया। मीरां के चरित्र के विषय में अभी तक किसी को किसी प्रकार का संदेह अथवा अविश्वास उत्पन्न न हुआ था, परन्तु...मन में जब एक बार चोर प्रवेश पा जाता है, तब बाहर का चौकी-पहरा काम नहीं आता।

'बेटी ! तूने भी अच्छी झंझट खड़ी कर दी ! ख़ैर....मेरे प्रभु हैं न ?...वे सब ठीक कर देंगे।' मन में ऐसा कह कर दूदाजी स्वयं आश्वस्त हुए और श्रीदेवी को भी आश्वासित किया।

परन्तु मानसिक चिन्ता मनुष्य को बेचैन बनाती है और उसकी निद्रा हर लेती है। कुछ समय से मीरां और जयमल अपने-अपने खण्ड में पृथक्

सोया करते थे। दूदाजी भी वर्षों से अलग ही सोते थे। बच्चों के बड़े होने पर पक्षी भी अपना घोंसला छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, यह उदाहरण दूदाजी भूले न थे। इसका अर्थ यह नहीं था कि वे अपने प्रिय बालकों को भूल गये थे। बच्चे तो उनको सदा ही याद आया करते थे।

भगवान का स्मरण भी वे बराबर किया करते थे। संसार के व्यवहार अथवा राज्य के गंभीर कार्यों में व्यस्त रहने पर भी वे बीच बीच में 'गोविन्द ! गोविन्द !' 'राधेश्याम !' 'गोपीजनवल्लभ !' आदि उद्गारों का उच्चारण करके अपना ध्यान प्रभु की ओर खींच ले जाते थे। इस समय भी मीरां के सम्बन्ध में विचार करते-करते उन्होंने 'गोविन्द ! गोविन्द !' का उच्चार कर अपने मन को प्रभु के चरणों में लगाया। वहाँ भी मन को शान्ति मिली नहीं और जागता हुआ शरीर पलंग पर उठ बैठा। रात्रि के अस्पष्ट प्रकाश में उनकी दृष्टि सामने रखे हुए भगवान के चित्र की ओर गयी और वे यकायक खड़े होकर शयनखण्ड के बाहर निकल गये।

सारे महल में स्तब्धता व्याप्त थी। सब लोग गहरी नींद में सोये हुए थे। खिड़कियों में से बाहर बुर्ज पर पहरा देनेवाले सिपाहियों की परछाइँ दीख पड़ती थी। दूदाजी एक खण्ड में से निकल कर प्रांगण में आये और वहाँ से तीसरा चौक पार करके पास ही में स्थित मन्दिर की ओर गये। महल में सब लोग इतनी गहरी नींद में सोये हुए थे कि दूदाजी की पग-ध्वनि से कोई जागा नहीं। मन्दिर का द्वार रात्रि में बन्द रहता था और साधु कृष्णचरण मन्दिर के बाहर सोया करता था। रात्रि में दूदाजी के मन में विचार आया कि यह देखना अत्यावश्यक है कि इस समय कृष्णचरण अपने स्थान पर सोया हुआ है, अथवा कहीं घूम रहा है। रात को श्रीदेवी के साथ हुई बातों से कृष्णचरण पर दृष्टि रखना वांछनीय था। दूदाजी ने देखा कि वह अपने सोने के स्थान पर न था।

दूदाजी के हृदय में स्पन्दन होने लगा। उन्हें कुछ रोष भी आया। इतने में उनको ऐसा आभास हुआ कि मन्दिर के बन्द द्वार की ओर मुख किये हुए कोई आकृति बैठी हुई है। उन्होंने पास जाकर देखा तो वहाँ

कृष्णचरण पद्मासन लगाकर द्वार की ओर मुख किये हुए बैठा हुआ दिखाई दिया। उसके सम्बन्ध की शंका यकायक अदृश्य हो गयी; मीरां और इस साधु के व्यवहार के विषय में जो आशंका फैल रही थी, वह निर्मूल सिद्ध हुई। कृष्णचरण बिना हिले-डुले स्थिर होकर बैठा था। दूदाजी के मुख से निकल गया :

'चरण !'

'प्रभो !' कहते हुए कृष्णचरण ने अपने नेत्र खोल दिये। अपने सामने खड़े हुए दूदाजी को देखकर उसको आश्चर्य हुआ।

'ओहो ! रावजी ! इस समय यहाँ कैसे आना हुआ ? मुझसे कोई काम है ?' कृष्णचरण ने पूछा।

'इतनी रात गये यहाँ क्या करते हो ?'

'ॐकार का मैं ध्यान कर रहा हूँ....चित्त इतना एकाग्र हो गया था कि जब मैंने अपना नामोच्चार सुना, तब मुझे ऐसा लगा कि मानो भगवान आकर मुझे पुकार रहे हैं।'

'तुम्हारा ध्यान मैंने भंग किया...क्षमा करना...'

'अरे, यह आप क्या कह रहे हैं, रावजी ! आप भी प्रभु के अंशरूप हैं, परम भक्त हैं। क्या मालूम प्रभु को मिलने में आप सोपानरूप हों ?'

'सोना नहीं है क्या ?'

'नींद नहीं आती....क्या करूँ ? विचार में पड़ गया था...नींद बिल्कुल उचट गयी...तब मैंने सोचा कि विचारों को प्रभु चरणों की ओर लेजाना ही उचित है। रावजी ! मेरा मन अधिक उग्र तपश्चर्या माँगता है।'

'तात्पर्य ?'

'यही...कि मैं अनुभव करता हूँ कि भक्ति मुझे निर्बल बना रही है.... मेरे मन को विह्वल बना रही है...मुझे कड़ी तपश्चर्या करनी पड़ेगी...सोच रहा हूँ कि कहाँ जाऊँ....आबू या गिरनार ?'

'तुमको....हम लोग जाने न देंगे...रोहिदास ने तुमको हमें सौंपा है।'

'कौन किसको सौंपता है, रावजी ?...और फिर हम साधुओं की सुपुर्दगी कैसी ?'

'मीरां तुमको जाने देगी ?'

'यदि इस मार्ग में मेरा कल्याण होगा, तो वह अवश्य जाने की अनुमति देगी...मेरी गुरुभगिनि...'

'तुम्हारे संगीत के बिना...'

'मीरां का संगीत दिन पर दिन मेरे संगीत से अधिक मधुर बनता जा रहा है।'

'यहां रहकर साधना करो...हमारे सरोवर के ऊपर जो मन्दिर बना हुआ है...तुम्हारी इच्छा हो तो उसमें जाकर रहो बाहर जाने की क्या आवश्यकता है ?' दूदाजी ने मेड़ता में एक सुन्दर कृष्ण-मन्दिर निर्मित कराया था।

'जैसी आप की इच्छा, रावजी ! आपकी आज्ञा मिले बिना मैं कुछ भी न करूँगा !'

दूदाजी संतुष्ट होकर वहाँ से लौटे। साधु बिचारा ! तपोनिष्ठ बालक ! नाहक घर के लोग उसको बदनाम करते थे !

यह तो तपोनिष्ठ युवा ही जानता था कि उसकी तपश्चर्या कितनी डगमगा रही है।

मीरां उसे बहुत ही प्रिय लगती थी। उसकी यह प्रीति दिन पर दिन बढ़ती जाती थी। मीरां का कण्ठ सुनने के लिए वह अधीर बन जाता था। उसकी कविता पर वह मुग्ध हो जाता था। परन्तु एक बार क्षण भर के लिए जब उसे ऐसा आभास हुआ कि मीरां की देह के प्रति भी उसे अनुराग जाग्रत हुआ है, तब तो वह चौंक उठा। इस मनोवृत्ति को दबाने की उसने पूरी चेष्टा की; परन्तु जैसे-जैसे वह आत्मदमन करता गया, तैसे-तैसे मीरां के प्रति उसका आकर्षण बढ़ता गया। मीरां का रूप और मीरां की देह उसके मन से निकले नहीं, और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों वे उसके मन में दृढ़ीभूत होते गये। उसकी इच्छा यही रहती थी कि वह बराबर मीरां को देखता रहे। इसलिए वह मीरां का सान्निध्य खोजा करता। मीरां जब प्रभु का दर्शन करती तब कृष्णचरण की दृष्टि मीरां के शरीर पर चिपकी रहती।...यहीं तक उसकी दृष्टि सीमित रहती, तब

भी कोई आपत्ति न थी...परन्तु जब वह मीरां के अवयव सौन्दर्य को खोजती, तब उस स्थिर बुद्धि के साधु को इतना तो समझ में अवश्य आता कि उसका हृदय मीरां की देह की ओर आकर्षित हो रहा है।

इस प्रकार का व्यवहार एक साधु के लिए अशोभनीय था, यह बात सत्य थी; परन्तु कृष्णचरण कोई संन्यासी तो था नहीं कि गृहस्थाश्रम में जाना उसके लिए वर्ज्य हो। ब्रह्मचर्याश्रम में से गृहस्थाश्रम में जाने के लिए उसे कोई रुकावट न थी। ऐसे अनेक दृष्टांत थे, जिनमें साधुओं ने साध्वियों का पाणिग्रहण कर के विवाहित जीवन बिताया हो। ऐसे भी बहुत से भक्त देखे गये, जो भक्तनियों को साथ में रखकर जीवन का आनन्द लेते थे, और साथ ही साथ भगवान की भक्ति भी करते थे। कृष्णचरण भी यदि चाहे तो गार्हस्थजीवन का सुख ले सकता है, और साथ में अपने साधुत्व की रक्षा भी कर सकता है। उसकी विद्वत्ता, उसका संगीत, उसकी भक्ति !....कोई सामान्य मनोवांछित युवती मिल जाय तो......

परन्तु उसे तो आकर्षण मीरां का था। किसी सामान्य युवती का नहीं ! इस आकर्षण में कोई आपत्ति न थी। परन्तु मीरां का मिलना उसके लिए असम्भव-सा था। किसी राठोड़ राजपूत को इस बात का ज़रा भी पता लग जाय, तो वह कृष्णचरण के मस्तक को धड़ से अलग कर दे। कहाँ यह भटकता हुआ साधु, और कहाँ वह उच्च राजपूत कुल की राजकुमारी ! दोनों का मेल कैसा ? कदाचित् साधु को अपने मस्तक की पर्वाह न हो; प्रेमी भी प्राण की पर्वाह नहीं करता; परन्तु यह देखना आवश्यक था कि कृष्णचरण के प्रेम के उत्तर में मीरां का क्या कहना है ?....वह उसके प्रेम को स्वीकार करे तो ?...इस कल्पना में बहुत दिनों तक कृष्णचरण आनन्द-मग्न रहा। परन्तु इधर कुछ समय से रनिवास में मीरां के विवाह की बात चल रही थी। कृष्णचरण भी सुना करता था। ऐसी परिस्थिति में उसे मीरां के प्रति आकर्षण—एक साधु के अयोग्य लगा। मीरां की उपलब्धि उसके लिए असम्भव थी। नहीं तो मीरां के विवाह की बात इस प्रकार उठती ही नहीं। महल में अनेक राजकुमारों की चर्चा होती...इस नामावलि में कृष्णचरण को स्थान कहाँ ? अपने मन का निग्रह

करने के लिए उसने पूरा प्रयत्न किया, और इस कार्य के परिणामरूप उसका लक्ष्य ध्यान-क्रिया की ओर गया। उसने सच्ची निष्ठा से 'ॐकार' का ध्यान करना शुरू किया। देवसेवा अथवा विद्याभ्यास में से ज्यों ही उसे अवकाश मिलता, त्यों ही वह अपना ध्यान ॐकार की ओर केन्द्रित करता।

परन्तु...इस ध्यान में भी यह कैसा पागलपन ?....ॐकार के बिन्दु में उसे कभी-कभी मीरां के दर्शन होते ! ॐकार के अर्धचन्द्र के पीछे मीरां का मुख दिखाई पड़ता ! ॐकार के वृश्चिकाकार वर्तूल का वह ध्यान धरता, तब उसे आभास होता कि यह वर्तूल प्रशस्त हो रहा है और उसके ऊपर एक नहीं, किन्तु अनेक मीरां खड़ी हुई दीख पड़तीं ! उसे आश्चर्य होता। यह ॐकार का ध्यान अथवा मीरां का ? मीरां में देवत्व की कल्पना करके—ईश्वरत्व की कल्पना करके—यदि ध्यान स्थिर होता हो, तो कोई हर्ज नहीं; प्रभु कदाचित् मीरां के रूप में उसे उच्चतर भूमिका में ले जाना चाहते हों ! परन्तु उसे तो मीरां के भौतिक शरीर की लगन लगी थी। उसके ध्यान में मीरां का नूपुर-सुशोभित पाँव आता, नृत्य में सुन्दर आकार धारण करनेवाली उँगलियाँ आतीं, और मीरां की आंखें कभी हीरकमणि सदृश चमकती हुई और कभी मदमस्त बनकर गहन बनी हुई उसको विह्वल बना देतीं...मीरां का मुख उसके ध्यान से हटता नहीं ! यहाँ तक कि मानसिक व्यथा तो वह सहन कर सकता था...परन्तु जब उसको यह आभास होने लगा कि उसका लक्ष्य घड़ी-घड़ी मीरां के अंगों पर जाने लगा है, तब तो वह व्याकुल हो उठा। धीरे-धीरे उसकी व्याकुलता बढ़ती गयी और मन की अशान्ति ने उसका ध्यान दूसरे मार्ग की ओर आकृष्ट किया।

'हठयोग बिना अब दूसरा कोई मार्ग नहीं, चलो जीव, चलें आबू या गिरनार की ओर ! कदाचित् वहाँ कोई अवधूत मिल जाय, जो मेरे मन को शान्ति प्रदान कर सके !' उसने विचार किया।

आज रात में उसे नींद नहीं आयी। मन उसके नियंत्रण के बाहर जा रहा था, और व्याकुलता उसके देह को असह्य पीड़ा दे रही थी। यदि वह क्षत्रिय होता, तो अवश्य मीरां का हरण करता ! परन्तु वह तो था एक साधारण साधु...यह विचार आते ही कृष्णचरण उठ बैठा और उसने तुरन्त

अपनी मृगचर्म-शैया का त्याग किया। शैया छोड़ ठण्डे पानी से उसने स्नान किया और स्नान करने के बाद वह प्रभु-मन्दिर के बंद द्वार के सामने जाकर पद्मासन लगाकर ध्यानस्थ बैठ गया। ज्यों ही उसका ध्यान ॐकार के ऊपर स्थिर हुआ, त्यों ही दूदाजी ने आकर उसको जगाया। दूदाजी के जाने के बाद उसने पुनः आँखें बन्द कर लीं और आसन लगाया। ध्यान में कैसी शान्ति! परन्तु यह शान्ति सांसारिकता में मिले कहाँ? सांसारिक जीवन ध्यान को स्थिर नहीं होने देता...ध्यान की स्थिरता तो उसे तब प्राप्त हो, जब वह संसार छोड़ किसी गुफा में घुसकर बैठे और प्रभुपद की एकात्मता साधे...ऐसा करने पर उसका ध्यान कोई भंग न कर सकेगा...भले ही इन्द्र की अप्सराएँ उसके मन को विचलित करने के लिए आयें!...परन्तु अप्स-राओं के वृन्द में यदि मीरां छिपकर आये तो?...'हट जीव!...मीरां के पास से तू हटता नहीं...' कहकर उसने भयंकर आत्मतिरस्कार का अनुभव किया और आँखें खोल दीं।

सामने उसने मीरां को खड़ी हुई देखा।

कृष्णाचरण को विश्वास न हुआ। उसने आँखें मसल कर पुनः देखा... जो मीरां बार-बार उसके ध्यान में आया करती थी, वही इस समय प्रत्यक्ष उसके सामने खड़ी थी!

'क्या करते हो, चरण? आसन लगाकर ध्यान धरते हो, या सो रहे हो?' मीरां के शब्दों ने दृश्य को स्पष्ट कर दिया।

'मीरां! ध्यान लगाने का प्रयत्न करता हूँ।' कृष्णाचरण ने उत्तर दिया।

'ध्यान में यदि भगवान जल्दी दीख पड़ें, तो मुझे भी उनका दर्शन कराना, भूलना मत।'

'कदाचित् तुम्हीं मेरे भगवान हो तो?' कृष्णाचरण के मुख से यकायक निकल गया।

'किसी ने उसका यह वाक्य सुना तो नहीं?' कृष्णाचरण ने अस्थिरता से चारों ओर देखा। मीरां ने भी न सुना हो, तो कितना अच्छा! परन्तु यह प्रश्न उसके मुख से निकल ही गया था। अब तो उसका उत्तर मिलने पर ही शान्ति मिल सकती थी। वह एक प्रेमी का प्रश्न था...जिसे एक

साधु निस्संकोच पूछ सकता था । परन्तु न जाने क्यों यह प्रश्न पूछने के बाद कृष्णचरण ने बड़े ही संकोच का अनुभव किया ।

'यह भी शक्य है, चरण ! भगवान का क्या पूछना ! उनका कथन याद है न—

'कीर्तिश्रीर्वाक् च नारीणाम्'

बोलो, प्रभु के इस नारी-स्वरूप में से तुमको कौन-सा स्वरूप चाहिए ?' मीरां ने हँसी में पूछा ।

'मुझे तो चाहिए शांति...'

'शान्तिश्चिरं गेहिनी ?....अरे हाँ ! याद आया...दादाजी ने अभी ही मुझे कहा कि तुम तो शान्ति की शोध में हिमालय की ओर जा रहे हो !'

'हिमालय तो अभी नहीं, परन्तु आबू–गिरनार की ओर जाने का विचार अवश्य है ।...दादाजी ने तुमसे कब कहा ? मुझसे तो अभी ही बात करके गये हैं ।'

'मेरे खण्ड में आकर कह गये....उन्होंने देखा कि मैं जाग रही थी !'

'मीरां ! तुम भी रात में बहुत जागा करती हो....'

'या निशा सर्वभूतानाम्....'

'आज यह क्या है कि बात-बात में गीता के वाक्य मेरे सामने फेंके जा रहे हैं ?'

'साधक को और क्या कहना ?'

'आज तुम क्यों जाग रही थीं ?'

'आज न जाने क्यों मुझे भी नींद न आयी । प्रभु का वह चित्र मैंने खींचा है न ?......रात में उसी को देखती बैठी रह गयी...मुझे ऐसा लगा कि भगवान मेरे ऊपर नाराज़ हैं....'

'कैसे मालूम हुआ ?'

'मुख पर जैसा स्मित चाहिये, वैसा दीख न पड़ा ।'

'तब तुमने क्या किया ?'

'सारी रात मैं उस चित्र को देखती रही......मन में भी उसे अंकित किया.......अन्त में मेरे हृदय ने उस स्मित को पकड़ा...तुरन्त उठकर मैंने चित्र में एक रंगबिन्दु रख दिया.......और चरण ! रंगबिन्दु के रखते ही

भगवान स्मेराननं बन गये.......इतने में मेरे खण्ड में दीपक जलता हुआ देख कर दादाजी वहाँ आ गये....'

'तुम भी मीरां ! विचित्र बातें कर रही हो।'

'तुम्हारे योग जैसी...परन्तु चरण ! आबू जाने की क्या आवश्यकता ? तुम्हें यदि एकान्त चाहिये, तो दादाजी के आदेशानुसार सरोवर के ऊपर बने हुए मन्दिर में जाकर क्यों नहीं रहते ? वहाँ ध्यान करने की पूर्ण सुविधा है।'

'देखता हूँ......विचार करता हूँ......एक बात तो अवश्य है कि आबू-गिरनार में तुम्हारे पद सुनने को न मिलेंगे।'

'और यदि तुम चले जाओगे, तो तुम्हारा यह कण्ठ मुझे कैसे सुनने को मिलेगा ?...रह जाओ न ?...' मीरां ने कहा।

'रह तो जाऊँ, मीरां ! परन्तु सब लोग बातें करते हैं कि....'

'कौन-सी बातें ?...चुप क्यों हो गये ? कह डालो।'

'यही कि तुम्हारा विवाह होनेवाला है ?'

'हाँ, इस विषय में बातें हो रही हैं...यह सच है, मुझे भी चाची यह बात कह गयी थीं।'

'तुम्हारा विवाह कहाँ होगा ?'

'यह तो मैं नहीं जानती......किसी और को भी कदाचित् नहीं मालूम !'

'क्या बात करती हो ? तुम्हारे विवाह के विषय में तुम्हीं को खबर नहीं ?'

'जिस बात की मुझे खबर है, वह और कोई नहीं जानता।'

'तब...किस के साथ विवाह करना, क्या यह तुमने निश्चय कर लिया है ?'

'हाँ।'

'किसके साथ ?'

'एक काले चोर के साथ !....चलो, अब नहाकर मैं मन्दिर का द्वार खोलूं। प्रभात का समय हो गया,' हँसते हँसते मीरां ने कहा, और कहकर तुरन्त वहाँ से चली गयी।

हलके अन्धकार में मीरां की देह स्पष्ट रूप से दीख पड़ी...क्या मानव देह भी इतनी सुन्दर हो सकती है ?

अन्त में कृष्णचरण ने मेड़ता में ही रहने का निश्चय किया...राव के

महल में नहीं, परन्तु उनके मन्दिर में सरोवर के किनारे जहाँ राजमहल का सा शोर-गुल नहीं, राजमहल की सी खटपट नहीं, शान्तिपूर्वक ध्यान लगाने की सुविधावाला स्थल ! दिन में एक बार राजमहल में जाना, प्रभु के दर्शन करना, प्रसाद लेना, कीर्तन करना, और पुनः मन्दिर के एकान्त में आकर ध्यान लगाना, यही उसका प्रतिदिन का क्रम हो गया।

इस प्रकार मीरां भी ज़रा दूर रहने लगी !

मीरां ने काले चोर का उल्लेख किया...यह काला चोर कौन ?

कृष्णचरण स्वयं नहीं हो सकता....वह तो बहुत काला न था...हाँ, मीरां से कुछ अधिक काला वह अवश्य था। और मीरां थी स्फटिक के से वर्ण की......नहीं नहीं, कंचनवर्णी !...अथवा चंपकवर्णी !...और कृष्णचरण ही तो काला चोर नहीं ?....कृष्ण का अर्थ तो काला ही है न ?

'ॐ...' मन्दिर के चबूतरे पर उच्चार करके कृष्णचरण वहीं ध्यान लगाकर बैठ गया।

इस प्रकार अनेक बार जब कृष्णचरण को मीरां की स्मृति सताती तब वह ॐकार का उच्चार करता। उस स्थान के निकट से आने-जाने वाले लोग इस युवा साधु के शब्दोच्चार को सुन कर प्रसन्न होते, और उसकी धर्म-भावना की प्रशंसा करते। किन्तु कृष्णचरण तो जानता था कि उसका ॐकार उच्चारण मीरां के विचार से मुक्त होने का, पृथक् होने का—एक साधन मात्र था।

जब जब वह ध्यान करने बैठता, तब तब ॐ अक्षर की मानसिक आकृति में मीरां की ही मूर्ति दिखाई पड़ती।

यह बात वह किसको कहे ? किस गुरु के पास जाकर मन की इस व्यथा को शान्त करने का उपाय पूछे ?

अथवा ऐसा तो नहीं है कि...उस वाममार्गी की तरह, जो एक रात यहीं रहकर बोध दे गया था...स्त्री सेवन में ही उद्धार-मार्ग है !

मन्दिर का एकान्त मीरां की ओर से मन हटाने के स्थान पर कृष्णचरण का मन उसकी ओर अधिक आकृष्ट करने लगा।

४

पहाड़ी प्रदेश था, आस-पास झाड़ियों से घिरा हुआ, वहाँ विशाल वृक्ष-राजियों के बीच से एक छोटा-सा झरना बह रहा था। वहाँ आदमियों का नाम-निशान न था। दिखाई पड़ते थे मात्र पक्षिगण, भागकर छिप जाने वाले शशक, भूला-भटका कोई शृगाल, अथवा सर्वदा मृत्युभय की विह्वलता का अनुभव करनेवाला कोई हिरन ! सर्वत्र नीरवता व्याप्त थी।

इतने में यकायक एक झाड़ी में से किसी मानव का दबा हुआ मधुर-हास्य सुनाई दिया और साथ ही मुख के ऊपर धारदार दंतशूल धारण करने वाला एक जंगली सूअर एक झाड़ी में से निकल कर दौड़ता हुआ दूसरी झाड़ी में घुस गया, और उसके पीछे पड़ हुए दो अश्वारोही भी झाड़ी में से बाहर आये।

'देखो, बहिन ! शिकार में कभी हँसना नहीं...बोलना नहीं।'

'क्यों ? मौत चुपचाप शिकारी की तरह आती है, हँसते-खेलते नहीं, इसलिए ?'

'मौत ? किसकी मौत ?'

'अरे, उस बिचारे सूअर की ! हमी लोग मौत के रूप में आ रहे थे न ?'

इधर कुछ समय से जयमल और मीरां साथ-साथ शिकार के लिए जाते थे। राजपूत युवक की भांति राजपूत युवती को भी घुड़सवारी, शस्त्र-कौशल और युद्ध का शिक्षण आवश्यक था। मीरां ने बहुत-सी कलाएँ सीखी थीं; अब उसे केवल युद्ध-विद्या का पाठ पढ़ना बाकी था और युद्ध का पहिला पाठ है शिकार ! सामना करनेवाले मनुष्य को कैसे मारना, यह सीखने के लिए पहिले शशक, हिरन और साबर जैसे मनुष्यों को देखकर भागने वाले पशुओं को मारने की कला सीखना आवश्यक था। ये प्राणी सामना कर ही नहीं सकते...ये तो आदमी को देख कर भागना ही जानते हैं !

इन पशुओं को मारने का काम सीख लेने के बाद, हिंसक पशुओं का शिकार शुरू होता है। देह दबाकर विद्युत् गति से उछलने वाला चीता,

वज्र के समान दृढ़ चर्म को धारण करने वाला गैंडा, लौह शृंग तथा कठोर मस्तक वाला जंगली महिष, आँखों से क्रूरता बरसानेवाला भेड़िया, पिछले दो पैर कमज़ोर होने पर भी मारक आक्रमण करने वाला हुंडार, जीवन्त मृत्यु सरीखा भयानक रंग-विरंगा व्याघ्र, एक नराधिप की अदा से बैठने और घूमनेवाला वनराज सिंह, तथा कुदरती कवच से सुरक्षित अंगारे समान आँखों द्वारा ही जीवित मालूम होने वाला क्रूरता की साक्षात् मूर्ति मगर; इन सब का शिकार युद्ध-शिक्षण का व्यावहारिक पाठ बन जाता है।

मीरां की भक्ति-भावना के आवेश को शिकार की ओर क्यों न ले जाना? दूदाजी के मन में विचार आया और उन्होंने मीरां को शिकार की ओर प्रवृत्त होने का आग्रह किया। मीरां को बड़ों की कोई भी बात अमान्य न थी। जयमल के साथ वह भी शिकार में जाने लगी। परन्तु मीरां के आखेट-कार्य में कोई गंभीरता न रहती; उसमें लड़कपन भरा रहता। आज उन दोनों ने झाड़ी में एक जंगली शूकर को देखा। अपनी आँखों को एकाग्र करके वह इन दोनों की ओर दौड़ा। शूकर का शिकार कोई सरल काम नहीं। तुरन्त मीरां और जयमल ने अपने भाले उठाये। इतने ही में मीरां यकायक ठठाकर हँस पड़ी। निःशब्द युद्ध के स्थान पर हास्य के शोर को सुनकर शूकर भी चौंक उठा। वह रुक गया, क्षण भर उसने मीरां और जयमल की ओर ध्यान से देखा और तुरन्त मार्ग बदल कर त्वरित गति से भागता हुआ दूसरी झाड़ी में अदृश्य हो गया। इसी प्रकार मीरां हाथ में आये हुए शिकार को खो देती थी।

'मीरां! जब तुम्हें मालूम था कि हम दोनों मौत के रूप में बढ़ रहे थे; तब तुम हँसी क्यों?'

'मुझे तो सूअर की दौड़ देखकर ही हँसी आ गयी। कैसी विचित्र वह दौड़ थी? मुझे तो अभी तक हँसी आ रही है!' कहकर मीरां हँस पड़ी।

'एक तो तुमने शिकार खो दिया और ऊपर से हँसती हो?'

'भाई ! उसकी दौड़ में तुम्हें कुछ भी हँसने जैसा न लगा ?....मुझे तो भगवान का वराह रूप याद आया...वह रूप भी ऐसा ही होगा। मेरे मन में विचार आया कि प्रभु ने यह रूप क्यों पसन्द किया ? उन्हें और कोई रूप न मिला ?...यह विचार आते ही मैं हँस पड़ी।'

'न तो तुम हिरनों को मारती हो, और न व्याघ्र को, तब शिकार में आती क्यों हो ?'

'व्याघ्र ?...अहा !...कैसी सुन्दर दीख पड़ती हैं उसकी रंगीन धारियाँ ? मैं तो उस दिन उन रंगों को देखती ही रह गयी।'

'इतने में वह हाथी को मार डालता तो ?'

'परन्तु उसने मारा तो नहीं ? उल्टा वह तो चला गया...'

'हिनहिनाकर तुम्हारा घोड़ा उछला न होता तो...?'

'तो क्या व्याघ्र मुझे मार डालता ?....मृत्यु !...वह कैसी लगती होगी, भाई ? जैसी हमारी धारणा है, वैसी वह क्रूर होगी ?...अथवा हँसते-खेलते आकर आनन्द से हमें पालकी में बिठाकर ले जानेवाली होगी ?'

बातें करते-करते अश्वों की गति को मन्द करके वे झरने के तट पर पहुँच गये। तीसरा पहर बीत चुका था। संध्या होने में थोड़ी देर थी।

जल-प्रपात का वह किनारा बड़ा ही रमणीय लग रहा था। जयमल और मीरां अश्वों पर से नीचे उतर आये और उनको निकट के वृक्षों के साथ बांध दिया। अगली टापों से ज़मीन को खोदते हुए दोनों अश्व अभी तक भय की अभिव्यक्ति कर रहे थे...यद्यपि बीच-बीच में हिनहिनाकर वे यह भी बता रहे थे कि वे ज़रा भी भयभीत नहीं....भय का सामना करने के लिए वे सर्वदा तैयार हैं। झरने के आस-पास की भूमि मीरां को इतनी आकर्षक लगी कि वहाँ से हटने की उसकी इच्छा न हुई। कुछ देर तक वहाँ रुकने के लिए उसने झरने में हाथ धोने का बहाना खोज निकाला। दोनों भाई बहन ने झरने में हाथ डालकर धोना शुरू किया; इतने ही में पास की झाड़ी में से चीत्कार की आवाज़ आयी

किसी ने सूअर पर आघात किया है।' जयमल ने कहा।

'तुमने कैसे जाना ?'

'यह चीत्कार तुमने नहीं सुना ?'

"व्याघ्र ने तो उसे नहीं पकड़ा होगा ?'

'कदाचित् व्याघ्र ने पंजा मारा हो !....जिसका दाँव पड़े वही विजयी होता है ..यदि सूअर को पहिले मौका मिले, तो वह व्याघ्र को चीर डाले...न मिला, तो व्याघ्र उसे अपने भयंकर पंजे का शिकार बनाता है...'

इतने में उन्होंने देखा कि एक अश्वारोही तेज़ी से झरने की ओर आ रहा है, जिसको देख कर मीरां और जयमल के घोड़े हिनहिना कर उछलने लगे। यह अश्व बिजली की गति से आ रहा था। उसकी गति न उसके नियंत्रण में थी और न उस पर सवारी करनेवाले के! झरने के निकट आकर घोड़े ने ठोकर खायी और उसका सवार कूद पडा। कुछ ही क्षण बाद घोड़ा पृथ्वी पर गिर गया। उसके सवार ने दौड़कर घोड़े की जीन काट दी। घोड़े ने चारों पाँव हिलाकर उठने का प्रयत्न किया; परन्तु वह उठ न सका। जयमल और मीरां गिरे हुए घोड़े और उसके सवार के निकट पहुँच गये। उन्होंने देखा कि घोड़े के शरीर से रुधिर निकल रहा है और उसके आरोही के वस्त्र पर भी रुधिर के दाग़ पड़े हुए हैं।

'इसे क्या हुआ ?' तुरन्त घोड़े की सुश्रुषा में लगकर मीरां ने पूछा।

'यह अचानक भड़क उठा।' नये सवार ने उत्तर दिया।

'क्यों ?'

'एक सूअर को देखकर, जो यकायक सामने से निकला।'

'चोट कैसे लगी ?'

'सूअर का दाँत लग गया...जिससे इसके शरीर के एक भाग में गहरा घाव हो गया है।'

'अब क्या होगा ?'

'यह बिचारा घोड़ा अब बचेगा नहीं।'

'और सूअर का क्या हुआ ?' जयमल ने प्रश्न किया।

'मैंने अपना भाला उसको मारा... जो अभी तक उसके शरीर में घुसा हुआ होगा।' उस नवागन्तुक ने उत्तर दिया।

'देखा बहिन ! तुमने उस सूअर को छोड़ दिया तो...' जयमल ने मीरां को उलाहना देना शुरू किया । उसका वाक्य पूरा भी न हुआ था, इतने में मीरां बोल उठी :

'किसी दूसरे के हाथ वह बिचारा मारा गया ।'

'बहिन' शब्द सुनकर उस नये सवार को कुछ आश्चर्य हुआ । उसने मीरां की ओर ध्यान से देखा । शिकारी की पोशाक में वह एक स्त्री थी, यह उसे प्रतीत हो गया । अभी तक वह घायल अश्व की सुश्रुषा में इतना तल्लीन था कि अपने सहायकों के विषय में कुछ पूछताछ करने का भी उसे अवकाश न मिला । उसने उन अज्ञात भाई-बहिन को फिर से देखा । भाई-बहिन, इस प्रकार साथ-साथ आखेट करने निकलें, यह उसे एक आश्चर्य का विषय लगा । कभी-कभी राजा और रानी अथवा राजकुमार और राजकुमारी साथ-साथ शिकार करने निकलते हैं, यह उसे विदित था ! परन्तु भाई-बहिन इस प्रकार साथ-साथ मृगया के लिए निकले हों, इसका वह पहिला ही दृष्टान्त देख रहा था ।

'अब तुम शिकार में आना बन्द कर दो, बहिन !'

'मेरा मन भी यही कहता है । मुझसे अब यह हत्या नहीं होती !' मीरां ने उत्तर दिया ।

'तुमने पहिले भी कब किसी शिकार को मारा है....जो आज हत्या न करने की बात करती हो ?'

'क्या करूँ, भाई ! उछलते-कूदते, क्रीड़ा करते हुए...अथवा आकाश में आनन्द से उड़ते हुए पशु-पक्षी को मारते मुझे अच्छा नहीं लगता ।'

इतने में घायल अश्व अन्तिम बार हिला और अन्तिम श्वास छोड़कर सदा के लिए शान्त हो गया । मरने के समय उसकी आँखें अपने स्वामी की ओर लगी हुई थीं ।

अपने प्रिय अश्व को मरते हुए देखकर सवार ने भी अकथनीय वेदना का अनुभव किया । उसने एक दर्द भरा निश्वास छोड़ा, सिर हिलाया और जल्दी से अपना साफ़ा मस्तक पर से उतार कर घोड़े के ऊपर ओढ़ा दिया ।

'मेरे प्रिय अश्व !' उसके मुख से शब्द निकल पड़े।

'आप कहाँ से आ रहे हैं ?' सहानुभूतिपूर्वक मीरां ने पूछा।

'मैं...चित्तौड़ से आ रहा हूँ...'

'अकेले ही हैं ?' जयमल ने चित्तौड़ का नाम सुनकर चौंककर पूछा।

'अकेला पड़ गया...शिकार के फेर में....मेरे साथी बहुत पीछे रह गये।'

'वे कब तक आ पहुँचेंगे ?'

क्या बताऊँ.......सवेरे से ही साथ छूट गया है...एक चीते की शोध में।'

'मेवाड़ से आप शिकार खेलने निकले थे ?'

'नहीं भाई !...परन्तु...शिकार का शौक एक ऐसी लत है...कि आदमी अपना काम छोड़कर शिकार के पीछे दौड़ता है।'

'आप जायँगे कहाँ ?'

'मेड़ता।'

'मेड़ता यहाँ से दूर नहीं...हम भी वहीं जा रहे हैं।' मीरां ने कहा।

'हम दोनों भी शिकार के लिए ही निकले थे...आपका नाम ?' जयमल ने पूछा।

'मेरा नाम....भोज है।'

'भोजकुमार तो नहीं ? मेवाड़ के युवराज !'....मीरां ने पूछा।

'हूँ तो वही...आप कैसे जानती हैं ?'

'हम दोनों के पिता आपके दरबार चित्तौड़ में ही हैं।'

'तो आप...मीरां देवी तो नहीं ?' भोज ने मीरां की ओर ध्यान से देखकर पूछा।

'देवी तो कौन जाने...मीरां अवश्य हूँ।' मुस्कुराते हुए मीरां ने कहा।

'और यह जयमल हैं ?...जो अपनी तीरंदाजी और तलवार के लिए प्रसिद्ध हो रहे हैं ?' भोज ने जयमल को भी प्रायः पहिचान लिया।

'जी हां।' मीरां ने भोज की बात को पुष्टि देते हुए कहा।

'मेरे अहोभाग्य कि आपसे अकस्मात मुलाक़ात हो गयी।'

'अहोभाग्य तो हमारे कि चित्तौड़ के युवराज हमारे यहाँ पधारने वाले हैं...सन्ध्या होने के पहिले हम लोग मेड़ता पहुँच जायँ तो अच्छा।' मीरां ने कहा।

परन्तु जल्दी पहुँचना कैसे ? जयमल और मीरां की सवारी के लिए तो अश्व थे। भोज का अश्व मर चुका था। दो व्यक्ति घोड़े पर बैठें और एक पैदल चले, यह भी उचित न था। तिस पर भोज तो मेहमान होकर मेड़ता जा रहा था। उसको पैदल चलाने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। तब करना क्या ? मीरां और जयमल विचार में पड़ गये। मृत अश्व की एक पृथक् समस्या थी। उस वफ़ादार प्राणी की मृत देह को योंही छोड़कर चले जाने के लिए भोज तैयार न था। अन्त में यह निश्चित हुआ कि तीनों आदमी पैदल चलें, मीरां और जयमल अपने-अपने अश्व को पकड़ कर साथ लें, और मेड़ता पहुँच कर अश्व की अन्तिम क्रिया के लिए वहाँ से आदमी भेजे जायँ। मेड़ता निकट ही था।

तीनों आदमी मेड़ता की ओर चल पड़े। एक दूसरे के साथ विशेष परिचय न होने के कारण बातचीत साधारण ही हुई। चित्तौड़ की कीर्ति-गाथा ही बातचीत का केन्द्र रहा। बातचीत करते करते जब आधा रास्ता कट गया, तब यकायक कोई विचार आने से जयमल ने कहा:

'बहिन ! मैं ज़रा आगे बढ़कर एक घोड़ा या पालकी ले आऊँ तो कैसा हो ? भोजकुमार को विशेप चलना न पड़े।'

'नहीं, नहीं ! आप कष्ट न करें...मैं चला चलूँगा....चलने में मुझे आनन्द मिलता है...और विशेषकर आप लोगों के साथ चलने का अवसर मुझे कब-कब मिलेगा ?' भोज ने कहा।

परन्तु मेहमान को अधिक चलाकर कष्ट देना न मीरां को पसन्द था और न जयमल को। जयमल ने आगे जाने का ही निश्चय किया। उसे तथा मीरां को भी इस बात का ज़रा भी विचार न आया कि मीरां को इस अपरिचित युवक के साथ अकेले छोड़ना उचित न होगा। यों तो मेड़ता के राठोड़ों की धाक ऐसी बलवती थी कि मीरां की ओर कोई आंख भी उठाने का साहस न कर सकता; और मीरां तथा जयमल को अपने ऊपर इतना

विश्वास था कि किसी भी परिस्थिति में वे ज़रा भी भयभीत न होते। नवयौवन के प्रदेश में प्रवेश करने पर भी मीरां का अल्हड़पन सरलता भरा था, जिससे अभी अपने-पराये का भेद उसे दिखाई न पड़ता। सब की लाडली होने के कारण इस भेद की ओर ले जाने की किसी ने चेष्टा भी न की। केवल वह बड़ी हो रही थी, इस कारण घरवालों को उसके विवाह की फिक्र पड़ी थी। विवाह की ओर उसका ध्यान जाय, ऐसे प्रयास सतत हुआ करते थे। शिकार की योजना भी ऐसे प्रयास का एक प्रकार था। साथ-साथ राजपूतों में नारी-प्रतिष्ठा की प्रबल भावना थी और क्षत्राणियों में अपने सतीत्व को बचाने की पूरी सामर्थ्य थी। यदि स्त्री में सामर्थ्य हो और पुरुष के मन में नारी के प्रति सम्मान, तो एकान्त में भी कभी अनुचित व्यवहार का भय उपस्थित नहीं होता। परन्तु यदि एक ओर सामर्थ्य का अभाव हो और दूसरी ओर सम्मान का, तो एकान्त मनुष्य को पिशाच या राक्षस बना देता है।

जयमल ने रकाब में पैर रखा और अश्व झाड़ी के पीछे अदृश्य हो गया। यकायक भोज के मुख से शब्द निकल पड़े:

'आप अकेली पड़ गयीं।'

'नहीं, नहीं; यह सब प्रदेश मेरा जाना-बूझा है....और....आप साथ में हैं....सच पूछें तो मुझे कभी अकेला लगता ही नहीं।'

'कारण?'

'कारण बताऊँ?......देखिये, मैं जब अकेली रहती हूँ तब......मेरे गिरिधरलाल मेरे साथ ही रहते हैं...मैं कभी उन्हें भूल भी जाऊँ, परन्तु वे मुझे भूलते ही नहीं, और सदा मेरे साथ रहते हैं!'

'अच्छा?...किसी दिन मुझे भी अपने भगवान के दर्शन कराएँ!'

'कहाँ मैं मेड़ता जैसी छोटी जगह में रहनेवाली बालिका, और कहाँ आप चित्तौड़ के राजकुमार! आपकी दृष्टि विशाल है...और मेरी तो सीमित'...मीरां ने विवेक के साथ कहा।

'आप जिसे साथ में रखती हैं, वह तो समस्त विश्व से भी बड़ा है... विशाल है।' भोज ने कहा।

मीरां चौंक पड़ी। यह सुन्दर युवा सिर्फ ऊपरी मन से तो ऐसी बात नहीं करता है ? मीरां ने क्षण दो क्षण तक भोज को ध्यान से देखा। उसने यह जानने का प्रयत्न किया कि भोज उसे प्रसन्न करने के उद्देश्य से ऐसी बातें करता है, अथवा यथार्थ में अपने विश्वास को व्यक्त करता है। भोज के मुख पर उसे दंभ या विनोद की छाया दिखाई न पड़ी। उसने पूछा :

'भोजकुमार ! आपको भगवान अधिक प्रिय अथवा मेवाड़ ?'

'मेवाड़ भगवान का ही दिया हुआ है, उसकी रक्षा करना हम सिसोदियों का धर्म है।'

'तब तो....आपके भगवान मेरे भगवान से छोटे नहीं ?' हँस कर मीरां ने पूछा।

'हो सकता है... हमारी दृष्टि संकुचित हो...हमारे भगवान की मूर्ति हमें मेवाड़ से अधिक बड़ी नहीं लगती....हमारे भगवान मेवाड़ में ही सीमित हैं।'

'कुमार ! मैंने तो सुना है कि राणाजी चक्रवर्ती बनना चाहते हैं।' अपने आस-पास चलनेवाले राजकीय घटनाचक्र से मीरां अवगत थी, यह सूचित करते हुए मीरां ने कहा। महाराणा संग्रामसिंह सारे हिन्दुस्तान से लड़ने की तैयारी कर रहे थे, यह बात अब धीरे-धीरे फैल रही थी।

'वह चक्र भी प्रभु को ही अर्पण होगा।'

'तब... मुसलमानों के प्रभु क्या करेंगे ?' हँसकर मीरां ने प्रश्नावलि को आगे चलाया।

'अब कुछ दिन सो जायँ...वे बहुत जागे....अब तो कल्याण इसी में है कि हिन्दुओं के प्रभु जागें।'

मीरां को लगा कि भोज के साथ वार्तालाप करने में समय बहुत अच्छी तरह कटता है; परन्तु एक-दो बार उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि भोज चलते-चलते रुक गया और उसके हँसते हुए मुख पर किसी वेदना की छाया दौड़ गयी।

'कुमार ! आप कुछ अस्वस्थ हैं ?'

'नहीं नहीं, यों ही...'

'नहीं, मुझे तो ऐसा लगता है कि आपको कोई पीड़ा हो रही है... शिकार में आपको तो चोट नहीं लगी ?'

'कुछ लगी जरूर है...परन्तु कोई हर्ज नहीं...मेड़ता तक चल सकूंगा।'

'मैं आपको आगे चलने न दूंगी...कृपया रुक जायें....और मुझे देखने दें कि चोट कैसी है....?'

वास्तव में भोज के पैर में चोट अवश्य लगी थी, और उसके कपड़े पर जो रक्त के दाग़ थे, वे घोड़े के रुधिर के ही दाग़ न थे, उसके अपने रुधिर के भी थे। पास ही में एक जलाशय था, और उसके किनारे पर वृक्षों की सुन्दर छाया थी। इस छाया में छोटे-छोटे स्मारक बने हुए थे, और जलाशय में थोड़ी थोड़ी दूर पर सीढ़ियाँ भी बनी हुई थीं। मीरां भोज को आग्रह करके उस जलाशय के तट पर ले गयी, वे दोनों एक सीढ़ी पर बैठ गये। मीरां ने देखा कि भोज के एक पैर का और जूता कट गया है, और उसकी एड़ी में जो घाव हो गया है, उसमें से रुधिर बह रहा है।

'बाप रे! कितनी गहरी चोट है? आप इतनी दूर कैसे चल सके?' घाव के रुधिर को साफ़ करते करते मीरां ने पूछा।

'यह तो साधारण चोट है। आपको तो मालूम ही है राजपूतों की रीति—मस्तक कट जाने पर भी धड़ लड़ता रहता है।' भोज ने उत्तर दिया।

'यह कुछ राजपूतों की ही रीति नहीं! राजपूतानियों की भी यही प्रणाली है, कुमार! मरना भी जीवन की एक मौज ही है, नहीं क्या?'

'मुझे खबर न थी कि युद्ध का आपको इतना शौक़ है।'

'मैं तो निरन्तर युद्ध किया करती हूँ कुमार!'

'अच्छा, कहाँ?....किस बात के लिए?'

'युद्ध चला करता है मेरे हृदय में......मेरे और मेरे प्रभु के बीच में आनेवाले सबके विरुद्ध....इस प्रकार का युद्ध करती हूँ प्रभु तक पहुँचने के लिए...मेरा युद्ध-क्षेत्र और ही है।'

'हृदय का युद्ध और रण-भूमि का युद्ध...बड़ा ही सुन्दर साम्य है... परन्तु अभी तक आपका वह युद्ध-स्थान मैंने देखा नहीं....मुझे वह कैसे देखने को मिले?'

'जिस दिन आप भक्त को या उसकी भक्ति को पहचान लेंगे, उस दिन आपका हृदय उस भूमि को दिखा देगा।' मीरां ने उत्तर दिया।

बातें करते-करते मीरां ने भोज के पैर पर लगे हुए रुधिर को साफ़ किया, और अपना वस्त्र फाड़कर घाव पर पट्टी बांधी। सूअर ने अपने तीक्ष्ण दांत से अश्व को चीर डाला और भोज को भी चोट पहुँचायी। जिस नैसर्गिक सरलता से मीरां भोज की सुश्रुषा कर रही थी, उसे देख कर भोज चकित हो गया। मीरां में कोई विशेष प्रकार का संकोच न था; परन्तु साथ ही साथ उसमें मर्यादा रहित कोई उच्छृंखलता भी न थी। वन का एकान्त उत्तेजक अवश्य था, परन्तु भोज की मीरां के प्रति भावना कुछ दूसरे ही प्रकार की थी। मीरां के शरीर को वह घड़ी घड़ी देखता था, और बार-बार उसको इस बात का अनुभव होता था कि उस सुन्दर देह के अन्दर किसी विचित्र आत्मा का आवास है। भय तो मीरां को छू तक न गया था। भोज में उसे पूर्ण विश्वास था....कदाचित् उसमें पूर्ण विश्वास न भी हो तब भी अपने में तो उसे अटल विश्वास था ही। यदि ऐसा न होता, तो पराये युवक के साथ इस प्रकार निस्संकोच बैठकर वह उसके घाव पर मरहम-पट्टी न करती। यद्यपि पश्चिम की ओर डूबनेवाले सूर्य का प्रकाश उस वन-प्रदेश में लंबी लंबी छाया प्रकटा रहा था, तथापि सन्ध्या होने में अब अधिक देर न थी।

भोज और मीरां बहुत देर तक चुप रहे। घाव पर जब पट्टी बंध गयी, तब भोज के मुख से शब्द निकला :

'मीरां देवी !'

'कहिये !'

'आप जितना समझती हैं, उतना आप चित्तौड़ में अपरिचित नहीं।'

'कैसे ? मेरी बातचीत वहाँ कौन करता होगा ? पिताजी कभी करने वाले नहीं......कदाचित् चाचाजी ने कोई बात कही हो !' दूदाजी के आदेशानुसार मीरां के पिता और चाचा वर्षों से राणा संग्रामसिंह के साथ चित्तौड़ में रहते थे, इस बात का उल्लेख मीरां ने किया।

'आपके पिताजी या चाचाजी ने कभी कोई बात नहीं की...न जाने

कैसे आपका नाम उड़कर सारे राजस्थान में फैल गया है।' भोज ने कहा।

'किस संबन्ध में ?....कदाचित् एक पगली लड़की के रूप में....विचित्र स्वभाववाली बालिका के रूप में...अथवा भक्तिन के रूप में मुझे कोई जानता हो ! वैसे तो मैं...हाँ...दूदाजी की पौत्री के रूप में भी मुझे कुछ लोग जानते हों...क्यों कि दादाजी राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध हैं।'

'आप अपने साथ क्यों अन्याय कर रही हैं ?....इस घड़ी दो घड़ी के सहवास से मैं आप को कुछ-कुछ पहिचानने लगा हूँ...मुझे प्रतीत हो गया कि...'

'क्या प्रतीत हुआ कुमार ?...मेरी बात सत्य लगी न ?' हँसकर मीरां बोली।

'नहीं, मुझे तो प्रतीत हो गया कि आप सारे राजस्थान की तिलक हैं।'

'मैं तिलक ? भोजकुमार ! मैं तो प्रभु के चरणकमल का तिलक अपने ललाट में लगाती हूँ...मैं न जाने कब तिलकमय बन जाऊँगी ?... कृष्ण चरण की कृपा होगी, तभी वह पद मुझे प्राप्त होगा !'

इतने में ही जलाशय की सीढ़ियों के पीछे की वृक्षराजि में से ॐकार का एक प्रचण्ड नाद सुनायी दिया। मीरां ने घूमकर देखा। सामने से साधु कृष्णचरण और एक मुसलमान फ़कीर आते हुए दिखाई पड़े।

'चरण ! तुम यहाँ कैसे आये ?' साधु के निकट आने पर मीरां ने प्रश्न किया।

'मैं इन साईं बाबा के साथ तुम्हारे ननिहाल जा रहा हूँ। रोहिदास वहाँ लौट आये हैं—और उन्होंने मुझे याद किया है।' कृष्णचरण ने कहा।

'दादा जी से पूछ लिया है ?' मीरां ने पूछा।

'हाँ।'

'सांईं ! कहाँ के हो ?' भोज ने फ़कीर से पूछा।

'अल्लाह का फ़कीर हूँ...कहाँ का बताऊँ ?...जिस ज़मीन पर खड़ा हूँ, वहीं का।' सांईं ने उत्तर दिया।

'इधर कुछ समय से...तुम फ़कीरों को राजस्थान बहुत पसन्द आ गया है...' भोज ने राजनीतिक परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा।

'यह प्रदेश बहुत ही सुन्दर है...विचित्र है....मन हुआ कि ज़रा देखते चलें।' सांईं ने शान्ति से उत्तर दिया।

'ये तो वर्षों से यहाँ निवास करते हैं....कभी-कभी दादाजी के पास आते हैं....बड़े मस्त हैं ...कबीर की सुन्दर साखियाँ सुनाते हैं...और लोगों की मार भी खा लेते हैं,' मीरां ने सांईं का विस्तृत परिचय दिया।

शिकार के लिए सबेरे से ही निकले हुए मीरां और जयमल को यह तो मालूम ही था कि सांईं मीरां के ननिहाल से मेड़ता आये हुए हैं। परन्तु वे आज ही मेड़ता से चले जाने वाले हैं, इस बात की उन्हें खबर न थी। दोपहर को वे दोनों हिन्दू-मुसलमान साधु मेड़ता से चल पड़े। चलते-चलते जब वे इस जलाशय के पास पहुँचे, तब उन्होंने देखा कि सन्ध्या का समय निकट है। आगे दूर तक भयानक जंगल फैला हुआ था। रात यहीं जलाशय के किनारे बिताने के उद्देश्य से वे दोनों पास के ही एक स्मारक के पीछे जाकर लेट गये। वृक्षों की पंक्ति इतनी घनी थी कि उनको आसानी से कोई देख न सकता था। जलाशय के तट पर मीरां को एक अपरिचित युवक की सुश्रुषा करते हुए देखकर उनको आश्चर्य हुआ। कृष्णचरण को तो कुछ ईर्ष्या भी हुई, और क्रोध भी आया। भले ही वह साधु हो, मीरां पर उसका कोई अधिकार न हो, और मीरां के आकर्षण से मुक्त होने के लिए उसने राजमहल का त्याग कर बाहर के तालाब पर अपना निवासस्थान क़ायम किया हो और वहाँ भी इच्छित शान्ति न मिलने पर वह आबू-गिरनार जाने का और वहाँ जाकर हठयोग द्वारा अपने मन का दमन करने का विचार करता हो! परन्तु वह मीरां को छोड़ कर दूर चले जाने के अपने प्रयास में अभी तक असफल रहा। मेड़ता वह छोड़ न सका। इतने में एक दिन अकस्मात् सांईं बाबा दूदाजी से मिलने आये। बीच बीच में वे बराबर आया करते थे। मेड़ता आने पर उन्हें कृष्णचरण की मनोदशा का पता चला, और उन्होंने उस तरुण साधु को कुछ दिन अपने साथ रहने का आग्रह किया। कृष्णचरण को पाल-पोस कर बड़ा करने वाले रोहिदास भी प्रवास से लौट आये थे। इन सब कारणों से अन्त में कृष्णचरण ने मेड़ता छोड़ने का ही निश्चय किया। जिस समय उसने यह निश्चय किया,

उस समय मीरां मेड़ता में न थी। वह शिकार के लिए नगर से बाहर चली गयी थी।

जिस मीरां से दूर भागने का वह प्रयत्न कर रहा था, वही मीरां पुनः उसके सामने खड़ी हो गयी। परन्तु जब उसने यह सुना कि मीरां अभी तक उसकी कृपा की आकांक्षिणी है, तब उसका क्रोध उतर गया और उसने ज़ोर से ॐकार का उच्चार किया।

इसके बाद प्रकट होकर उसने मीरां से मेड़ता छोड़कर जाने का अपना निश्चय कह सुनाया। सांईं की उपस्थिति भोज को पसन्द न आयी। यह बात सर्वविदित थी कि राजस्थान के चारों ओर फैली हुई मुस्लिम सत्ता फ़कीरों के द्वारा ही यहाँ के रहस्यों को जानने का प्रयत्न करती थी। आस्तिक प्रकृति के हिन्दू लोग मुस्लिम फ़कीरों का जल्दी से विश्वास कर लेते थे। जासूसी करने के अतिरिक्त ये फकीर हिन्दुओं के मन पर इस्लाम की ख़ूबियों का प्रभाव डालने का भी प्रयत्न करते थे, और कभी कभी इनके फन्दे में फँसकर कट्टर मन के राजपूत भी मुसलमान बन जाते थे। भोज इन बातों को अच्छी तरह से जानता था।...अरे इतना ही नहीं, उसी के परिवार का एक सिसोदिया वर्षों पूर्व अपने पुत्र और पत्नी को छोड़कर इस्लाम धर्म को स्वीकार कर राजस्थान के बाहर कहीं चला गया था, और आज तक उसका पता न था। उसकी पत्नी के दुःख का पार न रहा। दुःख से छूटने के लिए पुत्र को लेकर उसने अग्नि-प्रवेश किया। ऐसे दृष्टान्त आँखों के सामने होने के कारण भोज को सांईं की उपस्थिति अप्रिय लगे, यह स्वाभाविक था। यह मुसलमान फ़कीर एक हिन्दू साधु को अपने साथ ले जा रहा था, यह देखकर उसे और भी दुःख हुआ। और जब उसने यह सुना कि दूदाजी भी कभी-कभी इस सांईं से मिला करते हैं, तब तो उसको विश्वास हो गया कि हिन्दुओं की उदारता ही उनके पराजय का कारण है....उदार हृदय के हिन्दू मुसलमानों के कपट को समझते नहीं, और इसीलिये अन्त में हार जाते हैं।

'अच्छा ! तो अब चलना चाहिये।' भोज ने मीरां से कहा।

'आपको गहरी चोट लगी है; आपको पैदल चलाना ठीक नहीं।'

'अब कोई डर नहीं, आपके हाथ की पट्टी बड़ी ही सुन्दर बँधी है।'

'जयमल सवारी लेकर आता ही होगा। तब तक हम लोग यहीं बैठें...और चरण के एक-दो भजन सुनें।'

इधर कुछ समय से कृष्णाचरण को भजन-कीर्तन में रस न आता। भजन गाते समय भी मीरां उसकी आँखों के सामने खड़ी हो जाती। इसलिये उसने भजन-कीर्तन छोड़ आसन-प्राणायाम और ध्यान-धारणा की ओर विशेष ध्यान देना शुरू किया था। भजन उसको मीरां की ओर ले जाता था। अतः भजन गाने की उसने अनिच्छा प्रकट की।

'देखो मीरां! मैंने कुछ समय से संगीत बन्द कर दिया है। एक एक करके मैं सभी वस्तु का मोह छोड़ता जाता हूँ' कृष्णाचरण ने कहा।

'भूल रहे हो, चरण! इस प्रकार मोह को छोड़ते जाओगे, तो एक समय ऐसा आवेगा, जब तुम्हारा जीवन शून्य बन जायगा। इससे तो अच्छा यह होगा कि अपने मोह को प्रभु के शृंगार में लगाओ...और प्रभु को उससे अलंकृत करो।'

'मीरां! शर्त याद है न? हम दोनों में से जिसको पहिले भगवान के दर्शन हों, वही विजयी समझा जायगा....और उसका यह धर्म होगा कि वह हारनेवाले को प्रभु-दर्शन कराए। तुम भक्ति के मार्ग की ओर जा रही हो; मैं योग की साधना में लगा हूँ। देखना है कि भगवान पहिले किसको मिलते हैं।'

'प्रभु को शर्त या प्रतिस्पर्धा में रखना उचित नहीं...चलो, एक भजन सुना दो...मेड़ता की हद छोड़ने के पहिले।' मीरां ने आग्रह किया।

'भजन भी तो तुम्हारा ही बनाया हुआ गाना पड़ेगा न?' हँसकर कृष्णाचरण ने कहा।

'नहीं, नहीं! मेरी मूर्खता को मेड़ता तक ही रहने देना।' मीरां ने कहा।

'तो मीरां देवी! आप गीत-रचना भी करती हैं? गीत छन्द में रहते हैं, या पद में?' चकित हो भोज ने पूछा।

'नहीं कुमार! न पद में...और न छन्द में ही! मन में भाव उठते हैं

और गाने योग्य कुछ बना लेती हूँ, इतना ही !...इस कृष्णाचरण की स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र है, कभी-कभी वह उन्हें लिख लेता है...मेरी तो यह हालत है कि इधर भजन पूरा हुआ और उधर मैं भूल गयी।' मीरां ने कहा।

'मैं दादाजी से कह आया हूँ कि तुम्हारे भजन किसी से लिखवाते रहें... नहीं तो कदाचित् इस काम के लिए मुझे पुन. मेड़ता आना पड़े !' कृष्ण-चरण ने कहा।

मीरां के साथ इतनी स्वतंत्रता से बात करनेवाले साधु के प्रति भोज को कोई सद्भावना प्रकट न हुई। तिस पर भी उसने साधु से मीरां के ही भजन को सुनाने का आग्रह किया। सांईं चुपचाप एक ओर बैठकर यह दृश्य देख रहा था। उसकी आँखों में कुछ-कुछ पागलपन दिखाई देता था।

कृष्णचरण ने मीरां-रचित भजन ही गाना शुरू किया:—

बाला, मैं वैरागिण हूँगी।
जिन भेषां म्हाँरो साहिब रीझै, सोई भेष धरूँगी।
सील संतोष धरूँ घट भीतर, समता पकड़ रहूँगी।
जाको नाम निरंजन कहिए, ताको ध्यान धरूँगी।
प्रेम प्रीत सूं हरि-गुण गाऊँ, चरणन लिपट रहूँगी।
या तन की मैं करूँ कींगरी, रसना नाम कहूँगी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, साधाँ संग रहूँगी।

वास्तव में कृष्णाचरण का कण्ठ अद्भुत था। उसके माधुर्य में, सुननेवाला अपने को भूल जाता था। भजन में प्रदर्शित किये हुए भाव और ज्ञान हृदयग्राही थे। मीरां तो गाना सुनने में तल्लीन बन गयी थी। भोज के हृदय में नयी-नयी भावोर्मियाँ उठ रही थीं। भजन के एक-एक पद में मीरां तपस्विनी-योगिनी के रूप में उसके सामने खड़ी होती। इस बाला-जोगन को नमन करने की उसकी इच्छा हुई। इस इच्छा के पीछे उपभोग की कोई भावना न थी। भावना थी केवल सम्मान की। एक अपरिचित व्यक्ति को, विशेष कर के एक युवती को यकायक नमन करना भी ठीक न था। देखनेवालों को कदाचित् यह कार्य अशिष्ट लगे !

परन्तु कृष्णचरण को तो ऐसा आभास हुआ कि मीरां के जीवन में

इस प्रकार प्रवेश करनेवाला भोजकुमार उसे अवश्य उठा ले जायगा। संगीत और भाव की खुमारी में से जागे हुए सांईं के शब्दों ने सुननेवालों की तल्लीनता को भंग कर दिया।

'वाह बेटी ! यदि यह तुम्हारी ही रचना है, तो तुमने ज़िन्दगी को जीत लिया !' सांईं ने कहा।

'ज़िन्दगी तो, सांईं ! जीती हुई उस दिन समझी जाय, जिस दिन मेरे गिरिधरलाल मेरे सामने आकर खड़े हो जायँ ! यह तो....जो कुछ पढ़ा... विचारा, वह गायन के रूप में अपने-आप प्रकट हुआ....मैं तो भूल गयी कि मैंने क्या गाया था !' मीरां ने उत्तर दिया।

'बेटी ! तुम्हारे प्रभु को मैं तुम्हारे ही आस-पास विराजमान देख रहा हूँ....वह तुम्हारे सामने ही खड़े हैं।' सांईं ने कहा।

'लेकिन सांईं बाबा ! आप तो मुसलमान हैं, आपको यह गीत कैसे पसन्द आया ?' भोज ने सांईं से पूछा। एक मुसलमान के मुख से मीरां का बखान सुनकर उसको आश्चर्य हुआ।

'मैंने हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों को खूब देख डाला...यों कहिए कि छान कर मैं पी गया...परन्तु शांति मिली या तो मेरे सूफ़ियों के बीच, या आपके भक्तों के बीच...मुझे इन दोनों के रास्ते पसन्द हैं....कहीं-कहीं नापसन्द भी हैं !' सांईं ने कहा।

'यह उपदेश आप मुसलमानों को क्यों नहीं देते ?' भोज ने पूछा।

'सच पूछिए तो मैं उपदेश किसी को नहीं देता। उपदेश से न तो हिन्दू सुधरते हैं, न मुसलमान।'

'तब ?'

'परस्पर लड़कर थक जाने दो दोनों को !...अन्त में इन दोनों को मालूम होगा कि वे दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब के खिलाफ़ लड़ रहे थे।' सांईं ने उत्तर दिया।

'आजकल आप राजस्थान में घूम रहे हैं ?'

'और कहाँ घूमूँ बेटा ? राजस्थान ने मुझे पैदा किया है। ज़िन्दगी का

आखिरी हिस्सा यहीं बीते, और यहीं की मिट्टी में मेरी मिट्टी मिले, इसी ख्वाहिश से यहाँ आया हूँ। नौजवान ! तुम कहाँ से आते हो ?'

'चित्तौड़ से।'

'चित्तौड़ से। वाह ! सिसोदिया वंश के होगे ?' सांई की आँखें कुछ क्षणों के लिए स्थिर हो गयीं, मानो चित्तौड़ को देख रही हों।

'जी हाँ !

'चित्तौड़ तो सदा आग की चिनगारी रूप है,. . .पहिले किससे जूझेगा ? . . .मालवा से....या गुजरात से ?' सांई ने पूछा।

'जो सामने आयेगा, उसी से चित्तौड़ जूझेगा।' भोज ने स्पष्ट उत्तर दिया।

'जूझो, बच्चा ! जूझो...सत्य जब तक दीख न पड़े, तब तक और करोगे क्या ?' कहकर सांई उठ कर खड़ा हो गया और चलने लगा। भोज उसके पीछे गया। वह जानता था कि ऐसे फ़क़ीर राजनीतिक जासूसी के कार्य किया करते हैं। इतना ही नहीं, वे अनेक प्रकार से हिन्दुओं के मन पर इस्लाम का प्रभाव डालने का प्रयत्न करते थे। कभी-कभी वे चमत्कारिक क्रियाएँ करते, हिन्दुओं के देवी-देवताओं तथा अवतारों की श्रेणी में युक्ति से अपने किसी पैग़म्बर या खलीफ़ा को बैठा देते, हिन्दुओं के रीति-रिवाजों में दो-चार इस्लामी रिवाज दाखिल कर देते, नयी मान्यताओं को और पंथों को चलाते, और इस प्रकार वे भारत के इस्लामीकरण में गति प्रदान करते। भोज की यह दृढ़ मान्यता थी कि ये फ़क़ीर इस्लामी तलवार जैसे ही क़ातिल थे। सांई के विषय में अधिक जानने के लिए वह उसके पीछे चला।

एकान्त मिलने से मीरां और कृष्णाचरण को परस्पर हृदय खोलने का अवसर मिला।

'मीरां ! मैं अब जा रहा हूँ।', कृष्णाचरण ने कहा।

'जल्दी लौटना ...गुरुजी को मेरा नमस्कार कहना।'

'उनको तुम्हारा नमस्कार अवश्य कहूँगा...परन्तु लौटकर मैं क्या करूँगा ?'

'क्यों ? हम दोनों मिल कर प्रभु की सेवा करेंगे...'

'अब तुम्हारी प्रभु-सेवा रुकी समझना।'

'मेरी प्रभु-सेवा को कौन रोक सकता है ?'

'तुम्हारा विवाह !'

'मेरा विवाह ? तो ऐसा विवाह मैं करूँगी ही नहीं !'

'तुम्हारा विवाह तो समझ लो कि हो गया।'

'पागल हुए हो ?....किसके साथ ?'

'अभी मैं बताता हूँ किसके साथ...पहिले यह कहो कि यह अपरिचित युवक कौन था जिसको तुमने अपना गीत सुनाया ?'

'ये तो भोजराज हैं....चित्तौड़ के युवराज !'

'अब सुनो, इन्हीं के साथ तुम्हारा विवाह होगा।'

'चलो, चलो ! ये बिचारे तो पहली बार यहाँ आये हैं...तिसपर शिकार में चोट खा गये....'

'तुमने पूछा कि वे क्यों आये हैं ?'

'हाँ....मैंने पूछा....वे दादाजी से मिलने आये हैं। किसी युद्ध की व्यूह-रचना के विषय में परामर्श करने...'

'इस व्यूह-रचना में तुम्हारे विवाह के व्यूह का भी समावेश है।'

'भोजकुमार को पूछ देखूँ ?'

'यहाँ नहीं...मेड़ता जाकर पूछना...विवाह के बाद न जाने तुम कहाँ होगी ?...मीरां ! मैं मेड़ता नहीं आऊँगा।'

'मैं जहाँ रहूँगी, वहाँ तुमको बुलाऊँगी।'

'मेरी एक सलाह मानोगी ? विवाह के बाद मुझे और भक्ति दोनों को भूल जाना।'

'जो विवाह मेरी भक्ति का अवरोध करेगा, उसे मैं अपने पास न आने दूंगी...'

'इस निश्चय को भूलना मत।'

इतने ही में घोड़ों की हिनहिनाहट सुनायी दी। जयमल सवारी लेकर आ गया था। वह मीरां और भोज को मेड़ता ले गया।

उन सबके जाने के बाद कृष्णचरण ने ॐकार का उच्चार किया। 'ॐ' की ध्वनि वहाँ के शान्त वातावरण में गूँज उठी।

'बेटा! ॐकार पुरुष है या स्त्री?' साँईं ने प्रश्न किया।

कृष्णचरण ने कोई उत्तर न दिया।

'जो भी हो! हम सूफ़ी तो प्रभु को स्त्री के रूप में ही देखते हैं।...शक्ति के रूप में नहीं, सुन्दरी के रूप में।...निष्ठा छोड़ना मत...ख़ुदा की राह में चारों ओर तलवारें चमक रही हैं...चूका तो सिर उड़ा समझना।' साँईं ने कहा।

साधु ने तालाब में स्नान किया, और वह किनारे पर ध्यान लगा कर बैठ गया। ध्यान में उसे स्थिरता मिली नहीं। उसके मन और तन दोनों थके हुए थे। थोड़ी ही देर में उसे नींद आ गयी।

कृष्णचरण को स्वप्न आया। स्वप्न में उसने देखा कि स्वर्ग की अप्सराएँ उसका तप भंग करने के लिए अर्धनग्न देह का प्रदर्शन करती हुई तालाब पर उतर आयी हैं।

सवेरे उठकर सांईं और कृष्णचरण आगे चले। कृष्णचरण ने मेड़ता और मीरां दोनों को छोड़ दिया...किन्तु हृदय पर पड़े हुए संस्कार मनुष्य को जल्दी छोड़ते नहीं। पाँव उसके एक ओर जा रहे थे और मन दूसरी ओर! मन विचार करता था गुरु, गिरनार, आबू और अन्त में हिमालय का। कृष्णचरण का विकल मन आर्यों के प्रसिद्ध शान्तिधामों की याद कर रहा था।

शक्ति नहीं, सुन्दरी! सूफियों का मंत्र!

सत्य और शिव के साथ भी सौंदर्य! ऋषिमुनियों के दर्शन!

सत्यदर्शन के लिए ज्ञानयोग! शिवदर्शन के लिए कर्मयोग! और सौंदर्यदर्शन के लिए भक्तियोग! कदाचित् ईश्वर इन तीनों का समन्वय माँगता हो?

संसार जो बताता नहीं, वह गिरनार बताएगा।

राजस्थान की एक छोटी-सी पहाड़ी इन दोनों साधुओं के मार्ग में खड़ी होकर बोल उठी:

'गिरनार भी तो संसार का ही एक भाग है!'

५

भोज कोई साधारण मेहमान न था। वह चित्तौड़ का युवराज था; मेवाड़ का भावी महाराणा था; समस्त हिन्दुस्तान के राज्यों की नींद हराम करनेवाले हिन्दूकुल-दिवाकर संग्रामसिंह का वह पुत्र ही न था, बल्कि पिता से भी बढ़कर होने की योग्यता रखनेवाला उनका उत्तराधिकारी भी था। दूदाजी संग्राम के पिता के मित्र थे। जब से इन्होंने संग्रामसिंह और उनके पिता में मेल करा दिया, तब से मेवाड़ का राजतंत्र सुदृढ़ और यशस्वी बन गया था। मेवाड़ के सिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद संग्राम का एक ही लक्ष्य था : मेवाड़ केवल राजस्थान का ही नहीं, किन्तु सारे हिन्दुस्तान का केन्द्रस्थान बने। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने कोई बात उठा न रखी। उन्होंने प्रजा को आबाद किया; सेना को बढ़ाया; पुराने दुर्गों की मरम्मत करायी और नये दुर्ग बनवाये; अपने गुप्तचर चारों ओर भेजे; उपयुक्त स्थानों पर शस्त्रों के भंडार भर कर तैयार किये; समय-समय पर ऊँट, घोड़े और हाथियों को खरीद कर सैन्य-शक्ति बढ़ायी; और व्यापार में अभिवृद्धि की। मेवाड़ की शक्ति और समृद्धि देखकर आसपास के राज्य चकाचौंध हो गये। पर्वतीय प्रदेशों में रहनेवाले भीलों के सुस्त जीवन में बिजली की तेजी आ गयी। भीलों के यूथ के यूथ आकर उनकी सेना में दाखिल होने लगे। पास के राजपूत राज्य संग्राम की मैत्री के इच्छुक बनें, यह तो स्वाभाविक था। परन्तु दिल्ली, मालवा और गुजरात के सुल्तान भी संग्राम से डरने लगे, और भेंट-सौगात के साथ अपने-अपने दूतमण्डल उसके दरबार में भेज मैत्री का प्रस्ताव उपस्थित करने लगे।

शक्ति को सब लोग नमन करते हैं; परन्तु उससे डरते भी हैं। शक्ति के पुजारी मन ही मन यह भी चाहते हैं कि शक्तिशाली की शक्ति क्षीण हो, और वह निर्बल बन जाय। संग्राम की मित्रता के सभी इच्छुक उसके सच्चे मित्र बनना नहीं चाहते थे। उनकी दिली इच्छा तो यह थी कि संग्रामसिंह निर्बल बने और उनके सामने झुकता रहे। संग्राम इस बात को भलीभाँति

जानता था। उसे तो एक ही स्वप्न दिखाई पड़ता था : समस्त हिन्दुस्तान में हिन्दुओं का ही राज्य हो! हिन्द के सिर पर सतत लटकनेवाली भय की तलवार सदा के लिए दूर हो और मेवाड़ हिन्दू जगत का केन्द्रस्थान बनकर रहे! जिस प्रकार हिन्दुओं में ऐक्य न था, उसी प्रकार मुसलमानों में भी एकता न थी। मुसलमान राज्यों का विध्वंस करके यदि हिन्दुस्तान को सच्चा हिन्दुओं का बनाया जाय, तभी मेवाड़ का अस्तित्व सार्थक समझा जाय।

मुसलमानों के धार्मिक जोश और बल को वह खूब समझता था। उनकी उदारता और वफ़ादारी का भी उसे अनुभव था। उसके ऐसे मित्रों में, जो मित्रता के लिये समय पर सिर भी दे दें, बहुत से मुसलमान थे। ऐसे मुस्लिम मित्रों के संस्कार में कितनी नज़ाकत थी, कितना विवेक था, कितनी सफ़ाई थी और कितनी गंभीरता थी, यह भी संग्राम अच्छी तरह से जानता था। उसको यह भी मालूम था कि मुसलमान साधु-सन्त किस हद तक हिन्दू-जीवन में प्रवेश पा चुके हैं और किस प्रकार वे हिन्दुओं को अपने धर्म की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। तलवार के भय से मुसलमान बननेवाला कभी सच्चा मुसलमान बन नहीं सकता। परन्तु फ़कीर औलिया के बोध और सुजनता के कार्य प्रतिदिन असंख्य हिन्दुओं को दृढ़ता से इस्लाम की ओर आकर्षित करते थे। यह बात भी संग्राम के ध्यान-बाहर न थी।

संग्राम की दृष्टि हिन्द-विजय की ओर थी, और उसी की तैयारी में वह लगा हुआ था। अभी तो विजय-यात्रा शुरू भी न हुई थी। केवल तैयारी मात्र हो रही थी। परन्तु इतने से ही उसके पड़ोसी तीनों मुसलमान राज्य चौकन्ने हो गये।

ऐसे संग्राम का पुत्र भोज! एक उच्चकोटि का मेहमान! उसके पद के अनुरूप ही मेहमानदारी भी होनी चाहिये। भोज को दुर्ग में ही एक सुन्दर आवास रहने के लिए दिया गया। उसके पाँव की चोट का योग्य उपचार भी किया गया। भोज के साथी जो पीछे छूट गये थे, वे भी मेड़ता आ पहुँचे थे। भोजन करने के बाद स्वस्थ होने पर दूदाजी ने भोज से मेड़ता आने का कारण पूछा :

'कहो कुमार ! खबर दिये बिना कैसे आना हुआ ? ऐसा कौन-सा आवश्यक काम आ पड़ा ?'

'आपको तो सब मालूम ही है, रावजी ! आपकी दृष्टि के बाहर कुछ भी नहीं.. तिस पर भी पिताजी ने यह पत्र आपको दिया है।' कहते हुए भोज ने दूदाजी के हाथ में एक पत्र रख दिया।

दूदाजी ने शमादान के प्रकाश में पत्र को ध्यानपूर्वक पढ़ा। पत्र पढ़कर कुछ देर तक वे विचार में पड़ गये। उसके बाद हँसने लगे, भोज की समझ में न आया कि गंभीर राजद्वारी पुरुषों के पत्र-व्यवहार में हँसने की ऐसी कौन-सी बात होगी !

'आप कौन सा संदेशा लाये हैं, इस बात की खबर आपको है ?' हँसते हुए दूदाजी ने पूछा।

'मालवा का सुल्तान हम लोगों पर आक्रमण करने वाला है...इसलिए आपको चित्तौड़ बुलाया है...मुझे तो इतनी ही खबर है।' भोज ने दबे शब्दों में कहा।

उस स्थान में और कोई उपस्थित न था, इसलिये दूदाजी ने बात आगे चलायी :

'यह बात सच है...परन्तु एक ऐसी ही दूसरी महत्व की बात है.... आपके विवाह की।'

'मेरे विवाह की ? यह बात तो मैं आप से ही सुन रहा हूँ !'

'अब पहिले की तरह स्वयंवर होते नहीं...स्त्री-हरण की प्रथा भी अच्छी नहीं...अब तो मिल-जुल कर...समझ-बूझकर विवाह की व्यवस्था करनी पड़ती है...।'

'परन्तु मुझे तो कोई व्यवस्था नहीं करनी है....'

'देखो, कुमार ! ईडर, सिरोही, चंदेरी, ग्वालियर आदि राजघरानों से मँगनी आयी है...पसन्दगी का प्रश्न कठिन अवश्य है.......जितनों को हम अपना बना सकें, उतना अच्छा...परन्तु इस समय इस बात की चर्चा यहीं रोक देनी उचित है....आप आराम करें....' कह कर दूदाजी उठ खड़े हुए, और दूसरे खंड में चले गये।

परन्तु भोजकुमार के हृदय में अनेक प्रकार के विचार उठने लगे। अभी तक उसे युद्ध और राजकर्त्तव्य के अतिरिक्त और किसी विषय पर विचार करने का अवकाश ही न मिला था। राज्य का प्रत्येक भाग वह देख आया, उसने सीमाओं का निरीक्षण किया, कहाँ कहाँ क़िलेबन्दी करना, उसका विचार कर लिया, और दूर-दूर तक मुसाफ़िरी भी कर आया। दिल्ली, काशी, उज्जैन, मांडू, अहमदाबाद, ईडर और सोरठ में वह काफी घूमकर वहाँ की परिस्थिति देख आया। संग्रामसिंह की यह उत्कट अभिलाषा थी कि उसका पुत्र अपने पिता की महेच्छा को पूर्ण करने में पूरा सहयोग दे, और किसी कारण पिता के जीवन-काल में यह महेच्छा पूर्ण न हो सके, तो पुत्र उसको स्वयं पूरा करे। इस उद्देश्य से संग्रामसिंह ने अपने युवराज को राज्य-कार्य और व्यूह-रचना में सर्वदा अपने साथ रखा, और एक मित्र की भाँति वह बराबर उससे परामर्श करता रहा। भोज अपने काम में जैसी प्रगति कर रहा था, उसको देखकर संग्राम को संतोष था। जिस बालक का जन्म गुप्तवास में हुआ और जिसने गुप्तवास के दारुण दुःख सहे, उस बालक को महाराणापद की शिक्षा देनी थी। इस पद की पूरी योग्यता विवाह बिना अधूरी रहती, ये विचार संग्राम के मन में आने लगे थे। उसको यह पता न था कि भोज को किसी के प्रेम का रंग लगा है, या नहीं। कितनी ही राजकन्याओं से मिलने की उसको सुविधा प्रदान की गयी थी। परन्तु आज तक किसी युवती विशेष की ओर का अपना अनुराग उसने व्यक्त न किया था। क्या प्रेम को पहिचानने का चातुर्य उसमें है? कभी कभी संग्राम को विचार आता। यदि होता तो आज तक उसका प्रदर्शन अवश्य हुआ होता। अनेक राजकुटुम्बों की ओर से उसकी मँगनी हो रही थी; संग्राम को लगा कि अब पुत्र-लग्न का राजकीय उपयोग तो होना ही चाहिए, परन्तु साथ-साथ पुत्र के जीवन में प्रेमरस भी प्रकटाना चाहिए। मीरां का नाम भी उसके कान तक आया था। मीरां के पिता या चाचा चित्तौड़ में रहकर मीरां के विषय में कुछ कहें या न कहें, दूदाजी की विचित्र पौत्री के रूप में उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी थी, और उसके विषय में अनेक प्रकार की बातें सुनने में आती थीं। उसके संस्कार और भक्तिभाव की अनेक कहानियाँ प्रचलित

थीं। कुछ कहानियों में तो ऐसे भी प्रसंगों का समावेश था, जो आश्चर्यजनक, अविश्वसनीय और कुछ हास्यास्पद मालूम होते थे। दूदाजी के कारण जोधपुर के राठोड़ों में मेड़तिया कुटुम्बों का महत्व बहुत बढ़ गया था। उनकी सहायता के लिए राजस्थान के प्राय: सभी नरेश उत्सुक रहते थे। चित्तौड़ की तो यही मान्यता थी कि दूदाजी की सलाह और मदद सफलता की, विजय की कुँजी रूप हैं। दूदाजी के साथ मैत्री तो थी ही; यदि पारिवारिक संबंध भी हो जाय, तो चित्तौड़ और भी सुदृढ़ बने। दूदाजी के साथ गुजरात-मालवा के विरुद्ध युद्ध-व्यूह रचने के विषय में बात-चीत करना था। यह विषय बड़ा ही महत्वपूर्ण था, इस बात का खयाल दिलाने के लिए संग्रामसिंह ने स्वयं अपने युवराज भोज को भेजा। भोज को मेड़ता भेजने के पीछे उसकी एक प्रच्छन्न इच्छा भी थी; वह यह कि भोज मीरां को देखता आवे, जिससे उसके विवाह के विषय में बातचीत करते समय इस बालिका का भी विचार हो सके। साथ ही दूदाजी को भी भोज के प्रति अपने विचार स्थिर करने का मौका मिले।

परन्तु भोज को अभी तक इस बात की खबर न थी कि उसके पिता उसके विवाह के विषय में इतने चिन्तित हैं। आज ही मीरां की ओर उसका ध्यान आकर्षित हुआ था। मीरां का रूप मनोहारी था, इसका भी अनुभव उसे हो चुका था। शिकार में कुछ समय उसके साथ रहने से उसने यह देख लिया था कि मीरां निर्भय और तेजस्विनी है। वह भक्त है, कवयित्री है, मधुर गायिका है, और विवेकिनी है, यह सब भी थोड़ी ही देर के परिचय में उसे ज्ञात हो गया था। मीरां की सरल परन्तु चमत्कृत करनेवाली वाणी, उसका मुक्त हास्य और संकोचरहित तथापि निर्दोष-व्यवहार कभी कभी उसके विषय में भ्रमात्मक बातें फैलाते थे। भोज ने उसके साथ रहकर इस बात को समझ लिया कि ये बातें निराधार हैं। दादा के प्यार ने पौत्री के हृदय में भक्ति की भावना प्रकट की थी, यह बात सत्य थी; परन्तु उससे नुकसान ही क्या हुआ? जो भक्ति स्त्री-देह में इतनी सुघरता उत्पन्न करे, वह प्रशंसा की पात्र है; साधु-सन्तों के बीच बैठ ज्ञानोपार्जन की उसकी रीति उसको संसार के व्यवहार अथवा शस्त्रास्त्र-कला सीखने से वंचित न रखती

हो, तो ऐसे सत्संग से हानि ही क्या, यह बात भोज के हृदय में बैठ गयी।

मीरां के विषय में कितनी ही किंवदन्तियां फैली हुई थीं। अप्सराओं से भी बढ़ कर उसका सौन्दर्य था; परन्तु उसकी स्वच्छन्दता उसे अप्सराओं की ही श्रेणी में रख देती थी। उसे किसी का भय न था; उसके कुटुम्बवाले उसके पागलपन का पोषण करते थे। उसकी स्वच्छंदता इतनी बढ़ गयी थी कि वह सबके सामने भजन गाती थी, और मन्दिर में नृत्य भी करती थी। कुछ लोगों की तो यही पक्की धारणा थी कि उसके साथ कोई संस्कारी युवक लग्न करेगा नहीं, और अन्त में वह किसी साधु के साथ भाग जायगी। इस प्रकार की अच्छी और बुरी तरंगों पर तैरनेवाली मीरां को भोज ने प्रत्यक्ष रूप में देखा, और उसको विश्वास हो गया कि समाज मीरां को समझ नहीं सका है, इसी कारण उसके विषय में बहुत-सी निन्दात्मक बातों का प्रचार हुआ है।

भोज को मीरां में प्रबल रस उत्पन्न हुआ। वह स्वयं रसिक था। संगीत का भी उसको पूरा शौक़ था। संगीत में आनन्द माननेवाली मीरां को वह अपनाले तो हर्ज ही क्या? उसे विचार आया। और यदि उसके पिता की भी यही इच्छा हो, तो वह सीधे दूदाजी को क्यों न पूछें? इस विचारविमर्श में पड़े हुए भोज को दूदाजी ने जब उसके पिता की इच्छा प्रदर्शित की, तब मीरां के प्रति उसका प्रेम एक प्रबल प्रवाह की भाँति फूट निकला। उसे निद्रा आयी नहीं। वह उठकर बैठ गया। पिता के डाकू-जीवन के काल में अहीर और किसान बालकों के साथ घूमते समय उसे बंसी बजाने का शौक लग गया था। तबसे वह बंसी सर्वदा अपने साथ रखता। नींद उड़ जाने से उसे और घबराहट होने लगी। मन को शान्त करने के लिए उसने बंसी उठाकर हल्के स्वर में बजाया। कुछ देर बंसी बजाकर उसने पुनः सो जाने का प्रयत्न किया; परन्तु उसे नींद आयी नहीं। रात भर भिन्न-भिन्न रूप में मीरां की ही मूर्ति उसकी आँखों के सामने नाचती रही। सवेरे वह जल्दी ही उठा और स्नानादि कार्य से निवृत्त हो गया। इतने में दूदाजी ने उसको मीरां के मन्दिर में चलने का आमंत्रण दिया। भोज ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। चौक के पास ही मन्दिर बना हुआ

था। भोज वहाँ पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर उसे एक छोटे से स्वर्ग के दर्शन हुए। उस सुन्दर दृश्य को देखकर वह चकित हो गया।

मन्दिर बड़ा ही स्वच्छ था। मन्दिर की भित्तियों पर कृष्ण जीवन के अनेक सुन्दर चित्र बने हुए थे। दीपावलि दिन के प्रकाश में वृद्धि करती थी। पार्थिव मलिनता में से स्वच्छता का अखण्ड प्रदेश उद्भवित करनेवाली कोई अलौकिक सुवास मन्दिर के कोने कोने में से निकल रही थी। पुष्प और पुष्पमालाओं की रचना तो अपूर्व थी। शृंगार पूरा हो जाने के बाद प्रभु-मूर्ति के सामने पड़े हुए परदे को हटाकर जब मीरां प्रत्यक्ष हुई, तब तो ऐसा लगा मानों मीरां और मीरां के प्रभु दोनों अभी ही गोलोक से नीचे उतरे हों। मूर्ति का आज का शृंगार अलौकिक था। तंबूरा झनझना उठा, पखावज पर थाप पड़ी; मंजीरे की मधुर ध्वनि और झांझ की झमक ने तो मानों संगीत के किसी देव के द्वार खोल दिये हों। संगीतमण्डली में एक प्रकार की मादकता व्याप्त हो गयी और यकायक मीरां के कण्ठ में से माधुर्य की वर्षा करनेवाला म्हाड़ राग निकल पड़ा :

बंसीवारा ! आज्यो म्हारे देश !
थांरी सांवरी सुरत व्हालो बेस !
आऊँ आऊं कर गया सांवरा, कर गया कौल अनेक;
गिणतां गिणतां घिस गईं म्हारी आंगलियां री रेख !
मैं वैरागिण आदि की जी, थांरे म्हारो कद को सनेह;
बिन पाणी बिन साबुण सांवरां होय गई धोय सफेद
...बंसीवाला०

भोज सहित सबके हृदय में भक्ति का कोई अद्भुत प्रवाह बह चला। आरती हुई; आरती में भगवान का मुख-तेज और भी चमक उठा। सब लोगों ने आरती की शिखा पर अपनी हथेलियाँ घुमायीं और उसकी उष्मा को आँखों में लगाया। भोज के सामने आरती लाते ही मीरां हँस पड़ी... उसके स्मित ने राजमहल के सारे स्त्रीवर्ग में नवीन उत्साह और आनन्द का वातावरण पैदा कर दिया; क्योंकि भोज और मीरां जब जंगल से साथ-साथ मेड़ता आये, तभी से स्त्रियों में इन दोनों के सम्बन्ध की संभावना पर विचार

होने लगा था और श्रीदेवी ने तो इस विषय की चर्चा दूदाजी से भी की थी।

स्त्रियाँ हृदय की भावनाएँ गंभीरता से छिपाने में कुशल होती हैं; परन्तु जब उनकी इच्छा हो, तब वे गुप्त बात जहाँ पहुँचाना चाहें वहाँ पहुँचा भी देती हैं। भोज के एक-दो विश्वस्त साथियों से मिलकर उन्होंने भोज के मन की बात जान ली। भोज मीरां पर मुग्ध था, और थोड़े ही समय के परिचय ने उसे मीरांमय बना दिया था, यह बात उन्होंने समझ ली। भोज भी दूदाजी को अप्रिय लगे हों, ऐसा नहीं था। तब मीरां और भोज के संबन्ध के विषय में संग्रामसिंह के पास प्रस्ताव क्यों न भेजा जाय? श्रीदेवी ने दूदाजी से आग्रह किया। दूदाजी को यह सम्बन्ध पसन्द था, परन्तु वे अपनी ओर से इस विषय में संग्रामसिंह को कुछ भी कहना या कहलाना नहीं चाहते थे। ऐसा करने में उन्हें मैत्री के दुरुपयोग होने का भय दिखाई पड़ता था। उन्होंने श्रीदेवी के सुझाव को अस्वीकार कर दिया।

'मैं तो भोज को इस विषय में कोई इशारा भी नहीं कर सकता! मंगनी का प्रस्ताव मुझसे न हो सकेगा; इससे मेरे कुटुम्ब की लाज जायगी।' दूदाजी ने उत्साहित होकर आयी हुई श्रीदेवी को साफ़-साफ़ कह दिया।

'भोज के लिए भी विषम परिस्थिति है....वह भी आप जैसे वयोवृद्ध से इस विषय में कैसे कुछ कहे?...और मित्र कुटुम्ब की कन्या होने से वह उसे भगाकर भी नहीं ले जा सकता—चाहे उसकी कितनी भी इच्छा क्यों न हो!' क्षत्रियों की लग्न-पद्धति में अपहरण की रीति प्रचलित थी, और कभी कभी क्षत्रिय कन्याओं को वह पसन्द भी आती थी। श्रीदेवी का संकेत इस बात का समर्थन करता था। अपने श्वसुर के सामने यह संकेत करते समय इस महा अनुभवी क्षत्राणी के मुख पर हास्य की रेखाएँ दिखाई पड़ीं।

'संग्रामसिंह की ओर से मंगनी आये, भोज हाँ कहे, और मीरां को भी विरोध न हो, तब मैं आगे क़दम उठाऊँ।' भक्त दूदाजी ने कहा। युद्धकार्य और राज-खटपट में निपुण योद्धा और राजनीतिज्ञ गृहसंसार के कामों में कैसे अनभिज्ञ होते हैं, इस बात का एक और प्रमाण श्रीदेवी को मिल गया। उन्होंने कोई उत्तर न दिया। परन्तु मीरां जैसी मातृविहीना कन्या

के लिए सिसोदिया जैसे श्रेष्ठ कुटुम्ब का वर मिले, इससे अधिक अच्छा क्या हो सकता था ? इस संबन्ध को क़ायम करने के लिए वह कटिबद्ध हो गयीं । उन्होंने इसे अपना फर्ज समझा । अभी दो दिन भी न बीते थे कि उन्होंने मीरां की सहेलियों द्वारा भोज और मीरां के एकान्त मिलन का अवसर उपस्थित करा दिया । बगीचे के किसी एकान्त भाग में घूमते हुए भोज के समक्ष मीरां को अकेली खड़ी कर देना, यह राजमहल में रहनेवाली सखियों और दासियों के लिए कोई कठिन बात न थी । दूदाजी ने महल के अन्दर जिस भक्तिमय वातावरण का सर्जन किया था, उसमें प्रेमियों के साथ ऐसे अवसर की संभावना बहुत कम रहती थी; परन्तु वह असम्भव तो न थी । मनुष्य भक्त हो या अभक्त हो उसके हृदय में प्रेम की स्वाभाविक ऊर्मि अपना काम करती ही रहती है...मीरां के जीवन में भी ऐसा प्रसंग आये, तो उसमें आश्चर्य ही क्या ? प्रेम भी तो प्रभु ही की देन है ।... सखियों ने दूर से देखा कि मीरां और भोज के एकान्त में मिलने का प्रसंग जल्दी ही आ गया ।

'यहां अकेले क्या कर रहे हैं, भोजकुमार ?' दूर से ही मीरां ने ऊँचे स्वर में पूछा और वह पास आयी । एकान्त का मानों अस्तित्व ही न हो, ऐसी निर्भीकता और सरलता से मीरां ने प्रश्न किया । उसको या भोज को इस बात की खबर न थी कि यह एकान्त-मिलन पूर्व नियोजित है ।

'कुछ नहीं, ज़रा बग़ीचे की शोभा देख रहा था ।'

'इसमें देखने योग्य क्या है...ठीक है...हमारे मरुप्रदेश में हम कभी-कभी ऐसी रचना कर लेते हैं ।' मीरां ने कहा ।

'चित्तौड़ में तो हमने ईरान-ख़ुरासान से एक बाग़बान बुलाकर उससे एक सुन्दर बगीचा लगवाया है...परन्तु आपके बाग़ की इन क्यारियों की बनावट अपूर्व है....इसे देखने के लिए हमारे बाग़बान को यहाँ भेजना पड़ेगा ।'

'आपको यह स्थान पसन्द आया ? यों तो कुछ नहीं है....यह तुलसीवन है, जिसे मैं वृन्दावन कहती हूं...और यह छोटी-सी नहर देखें, ये मेरी यमुनाजी....'

'यमुनाजी का यथार्थ रूप ! इसके पानी का रंग भी श्याम बनाया गया है...यमुनाजी का रंग भी ऐसा ही है...मैंने देखा है।'

'अच्छा ! तब तो आपने यमुना के पवित्र जल को भी पिया होगा ? कैसे भाग्यवान हैं आप !'

'इस पानी को श्याम रंग आपने कैसे दिया ?'

'पानी के नीचे काले पत्थर और काली मिट्टी को स्थापित करके व्यवस्था की गयी है।'

'और सामने वह पहाड़ी कैसी है...बगीचे में ?'

'यह तो वृन्दावन है, कुमार ! केवल बगीचा ही नहीं। देखिए, अब मैं आपको समझाती हूँ....वह जो सामने पहाड़ी दीख पड़ती है न, वह गिरिराज गोवर्धन है, जिसको प्रभु ने धारण किया था...वह बंसीवट—वटवृक्ष, जिसकी छाया में बैठकर मेरे प्रभु बंसी बजाते हैं, और बंसी के स्वर सुनकर गायें दौड़ती आती हैं, गोपाल आते हैं, गोपियाँ आती हैं...और शरदपूर्णिमा की रात्रि को यहाँ रास होता है....अनन्त रात्रि ! कुमार, रास पंचाध्यायी पढ़ा है न ?'

'इस प्रकार आप मेड़ता में वृन्दावन की रचना करती हैं....तो क्यों नहीं एक बार स्वयं वृन्दावन जाकर उसे देख आतीं ?'

'दादाजी ना कहते हैं। उनको डर लगता है कि यदि एक बार मैं वृन्दावन पहुँच गयी, तो कदाचित् वहाँ से लौटने को मन न हो।' मीरां ने हँसते-हँसते वृन्दावन न जाने का कारण बताया।

'मुझे भी यही भय लगता है।' भोज ने भी हँसकर उत्तर दिया।

'परन्तु कुमार ! प्रभु तो ऐसा दयालु है कि जहाँ हम माँगें, वहीं वृन्दावन खड़ा कर देता है।'

'आप रास की भी रचना करती हैं ?'

'क्यों नहीं ? कभी मन हुआ तो महल की और ग्राम की सहेलियों को एकत्र कर लेती हूँ, हम सब कृष्ण और गोपियों के वस्त्र पहिन लेती हैं और रास की जमावट करती हैं....साथ में ताली, डण्डे, मंजीरे, ढोलक, मृदंग और बाँसुरी....वाह ! रास की भी मादकता अद्भुत होती है, कुमार ! हम भान

भूल जाते हैं, और हमको सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखाई पड़ते हैं...सारा वातावरण कृष्णमय बन जाता है ।...देखें, देखें, कुमार ! ...यह क्या दीख पड़ता है ?....' कहकर क्षण भर तक मीरां अनिमिष नेत्रों से शून्य में देखती रही। मीरां के नेत्रों में कोई अस्वाभाविक तेज चमक उठा, और उसका मुख लाल बन गया । उसका हाथ भी उठा ही रह गया, मानों वह किसी को पकड़ना चाहती हो, अथवा दबाना चाहती हो ! क्षण भर के बाद मीरां का वह भाव अदृश्य हो गया ।

'क्या हुआ मीरां देवी ?' भोज ने आश्चर्य का अनुभव करके पूछा ।

'कुछ नहीं, यों ही हो गया !....किसी से कहें नहीं कुमार !...कभी-कभी मुझे.....कृष्ण के साथ...सारा वृन्दावन इस महल में दिखाई पड़ता है...'

'अच्छा ?' भोज ने कहा । उसका आश्चर्य अभी गया न था ।

'और उन्हें देख....मैं गाने लगती हूँ....अनर्गल बोलने लगती हूँ...' हँसकर मीरां ने अपनी बात पूरी की ।

'आप गायें...बोलें...मुझे सब कुछ प्रिय लगेगा....सुनने में तो यह भी आया है कि...आप सुन्दर पदों की रचनाएँ भी करती हैं !...अरे ! मैं भी कैसा भूलनेवाला हूँ !...उस सरोवर के समीप तो मैं आपका बनाया हुआ पद सुन चुका हूँ ।'

'इस समय नहीं.. फिर गाऊँगी....मन्दिर में ! सब के साथ...' कहकर जल्दी से मीरां भोज का सान्निध्य छोड़कर चली गयी । भोज जानेवाली मीरां को देखता रहा । उसे ऐसा आभास हुआ मानों सौंदर्य का कोई पुञ्ज उसे छोड़कर जा रहा हो ! यह युवती विचित्र अवश्य थी । इसके प्रेम में पड़ना वांछनीय था ?—क्यों नहीं ? विचित्रता को अपनी ओर घुमाने की क्षमता हो...तो इससे बढ़कर दूसरी प्रेमिका नहीं ! भोज एक क्षत्रिय राजकुमार था.. युवराज था सिसोदिया राजवंश का....और संस्कारी भी था । इस विचित्रता को जीतने में ही उसके वीरत्व की सार्थकता थी । मीरां की विचित्रता से डरने की आवश्यकता क्या ? जिस प्रकार रणभूमि में वीरत्व आवश्यक है, उसी प्रकार गृह के प्रांगण में भी उसकी आवश्यकता पड़ती है । भोज का निश्चय अधिक दृढ़ बना ।

'विवाह करूँगा तो मीरां के ही साथ !' निश्चय की दृढ़ता बढ़ने के साथ उसकी आँखें और उसका हृदय मीरां को अधिक तीव्रता के साथ खोजने लगा।

परन्तु मीरां का मन क्या कह रहा था ? कृष्ण सहित वृन्दावन का दृश्य अभी उसकी आँखों के सामने ही था। उस दृश्य को वाणी में उतारने के लिए वह अधीर बन रहा था। भोज जैसे अजाने युवक के एकान्त में उसने नाहक विघ्न पहुँचाया। उसे विचार आया। उसके विवेक में इतनी न्यूनता आ गयी। यह विचार करती हुई वह अपने खण्ड की ओर गयी, और भीतर पैर रखने के पहिले ही अपनी एक सखी द्वारा पकड़ ली गयी। उसके कन्धे पर हाथ रखकर सखी ने पूछा :

'मीरां ! भोजकुमार पसन्द आये ?'

'इसमें पूछने की कौन-सी बात है ? मुझे क्यों न पसन्द आयें ? वे तो ऐसे हैं, जो सभी को प्रिय लगें !' मीरां ने उत्तर दिया।

'सिसोदिया कुटुम्ब मिलना सबके भाग्य में नहीं होता !'

'हम लोगों के भाग्य में तो है न ? हमारे तो वे मित्र हैं......' मीरां ने कहा।

'यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई...सभी लोग प्रसन्न होंगे...तुम बहुत ही समझदार हो, मीरां !....सबको तुम्हारे लिए कितनी चिन्ता थी ! ...परन्तु मैं तो जानती थी अपनी सहेली को !'

'इसमें जानने का क्या था ?'

'अनजान न बनो मीरां ! हम तो तुमको समझ गये हैं....किये जाओ अपनी भक्ति ! बाक़ी का सब होता रहेगा।....' कहती हुई वह सखी वहां से भाग गयी, और रनिवास में जाकर उसने गुप्त समाचार भी दिया कि मीरां और भोज एकान्त में मिले थे....और मीरां को भोज पसन्द आ गया है....भोज को तो मीरां पहिले ही पसन्द आ गयी थी।

उस रात्रि को मन्दिर में सब की उपस्थिति के बीच मीरां ने गाया :

म्हांने चाकर राखोजी !
गिरिधारीलला ! म्हांने चाकर राखोजी !
चाकर रहसूं, बाग लगासूँ, नित उठ दरसन पासूं ;
वृन्दावन की कुंजगलिन में, गोविन्द-लीला गासूं...म्हांने०
मोर मुकट पीताम्बर सोहे, गल बैजन्ती माला ;
वृन्दावन में धेनु चरावे, मोहन मुरलीवाला....म्हांने०
ऊंचे ऊंचे महल बनाऊं, बिच बिच राखूं बारी ;
सांवरिया के दरसन पाऊं, पहिर कुसुम्बी सारी....म्हां०
मीरां के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदे रहो जी धीरा ;
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हों, जमुनाजी के तीरा...म्हांने०

इस गीत को सुनते ही भोज को मीरां की बातचीत याद आयी। बगीचे की रचना, वृन्दावन का आकार, मेड़ता का महल एवं उसके झरोखे, यमुना की योजना और सर्वत्र कृष्णदर्शन ! विचित्र स्वभाव की मीरां की नयी विचित्रता का उसे अनुभव हुआ। मीरां की दृष्टि कुछ ऐसे ऐसे दृश्य देखती, जो अन्य सामान्य मनुष्यों को दिखाई न पड़ते.......इतना ही नहीं, मीरां उन दृश्यों को कविताओं में उतारती। रणवीर और भक्तवीर ! दोनों तलवार की धार पर खेलने वाले ! परन्तु एक रणवीरांगना और भक्त-वीरांगना ? बिजली सरीखी आकर्षक, अपरिमेय एवं तेजस्विनी ! उसमें विद्युत की भयंकरता रहती है। देखने में अलबेली ! आँख से; लेकिन आगे...कलेजे पर...उसे ला नहीं सकते ?

तब ?

तब क्या ? वीर सिसोदिया को डर किस बात का ? साक्षात् बिजली को अपने गले की माला बनानी पड़े, तो भी क्या ? वह जला देगी, इतना ही न ! बिजली का स्पर्श करके मरना, यह भी एक अद्भुत अनुभव होगा। इस बात की चर्चा चल रही थी कि मीरां के लिए योग्य वर खोजा जा रहा है और भावी पतियों की श्रेणी में भोज का भी नाम सम्मिलित था, इस समाचार को भोज के कान तक पहुंचाने की व्यवस्था भी की जा चुकी थी। मीरां के एकान्त-मिलन के पीछे भी कदाचित् यही हेतु हो ;

परन्तु वह तो यकायक भोज को छोड़ कर चली आयी थी।

तब उस दिन बंसीवाले के प्रति किया हुआ संबोधन भोज ने अपने लिए क्यों समझा ?......प्रस्थान का दिन आ पहुँचा था। पिता ने जो पत्र दूदाजी के लिए दिया था, उसका उत्तर लेकर, अथवा उत्तर का सार दूदाजी के मुख से सुनकर, उसे अब लौटना उचित था। यदि वह चाहे तो दो दिन और रुक सकता था; परन्तु इस बीच मीरां एकान्त में न मिले तो ?

वह सोच ही रहा था, इतने में उसने सामने से मीरां को अपने पास आते देखा। रात्रि के समय ? मीरां एक पर-पुरुष से मिलने आ रही थी ? पर-पुरुष को जब अपना बनाना हो, तभी स्त्रियाँ ऐसा करती हैं ! भोज का हृदय धड़कने लगा...परन्तु यह क्या ?...मीरां के आगमन में अभिसारिका का संकोच या भय क्यों नहीं दिखाई पड़ता था ? भोज को आश्चर्य हुआ।

'मीरां देवी ! आप यहाँ कैसे ?...इस समय ?' भोज ने पूछा।

'कुमार ! मुझे आपसे एक बात पूछनी है—बड़े ही महत्व की।' मीरां ने उत्तर दिया। इसका उत्तर पूरा हो, इसके पहिले ही भोज उठकर खड़ा हो गया था।

'मुझसे ?...यों तो सभी महत्व की बातें हो चुकी हैं रावजी के साथ।'

'वे सब राजकार्य की बातें होंगी....मुझे तो कुछ और ही पूछना है।'

'पूछें...प्रसन्नता से !'

'आपने मेरे साथ विवाह करने की स्वीकृति दी है ?

'जी हाँ।' जरा चकित होकर भोज ने उत्तर दिया। ऐसे सीधे प्रश्न की कल्पना भी न की थी।

'क्यों ?'

'क्यों न दूं ? वह भाग्यशाली होगा, जिसे मीरां देवी जैसी पत्नी मिले ! मेरे लिए दूसरा रास्ता ही न था।'

'भाग्यशाली होंगे, मीरां जैसी पत्नी मिलने पर ? कुमार ! पूरा विचार कर लें। बड़े-बड़े राजकुटुम्बों की कन्याएँ आपको मिल सकती हैं। हमारा कुटुम्ब तो....जोधपुर के आधीन....'

'इसकी मुझे परवाह नहीं। मेरी दृष्टि में रावजी का कुटुम्ब किसी भी बड़े राजकुटुम्ब से कम नहीं है।'

'परन्तु मैं ? पत्नी के रूप में ?'

'क्यों नहीं ? पूर्व के पुण्य हों तभी....'

'कुमार ! मेरे साथ विवाह करने की बात छोड़ दें।'

'कारण ?'

'कारण यही कि...मेरे ग्रह अच्छे नहीं हैं।'

'किसके लिए ?'

'जो पुरुष मेरे साथ विवाह करे, उसके लिए।'

'आपको यह किसने कहा ?'

'मैं स्वयं जानती हूँ....और इसलिए चाहती हूँ कि मेरे प्रति सद्भावना रखनेवाले सब लोग इस बात को जान लें।'

'इसलिए....आप मुझे चेतावनी देने आयी हैं ?'

'हाँ।'

'मीराँदेवी ! वे ग्रह मृत्यु से अधिक तो किसी अनिष्ट का निर्देश नहीं करते हैं ?'

'यह अनिष्ट कम है ?'

'क्षत्रियों के लिए मृत्यु कभी अनिष्ट माना नहीं जाता... आपकी चेतावनी से मुझे ज़रा भी क्षोभ नहीं होता। ग्रहों से सामना करने के लिए भी मैं विवाह करूँगा। मृत्यु का मुझे ज़रा भी भय नहीं।'

मीरां कुछ क्षणों तक भोज को देखती रही। उसके बाद नीचे बिछी हुई गद्दी पर बैठकर उसने भोज से कहा:

'कुमार ! खड़े न रहें ....ज़रा नीचे बैठ जायँ, और शान्ति से मेरी बातें सुनें...और समझें।'

भोज हँसता हुआ नीचे बैठ गया। उसकी समझ में न आया कि यह बात कहने के लिए मीरां उसके पास क्यों आयी।

'कहें; और भी कुछ कहना है ?' भोज ने पूछा। जितना वह इस विचित्र युवती को अधिक देखता था, उतना ही उसकी ओर वह अधिक आकर्षित होता था।

'मुझे बहुत कहना है, कुमार !'

'अपने ही विरुद्ध न ? एक बात आप कह चुकीं, उसे फिर से न कहें।'

'दूसरी बात तो....आपने सुना ही होगा कि मैं पागल हूँ...लाड़-प्यार में पागल बना दी गयी हूँ....मैं भाव के पीछे पागल हूँ...भक्ति के पीछे पागल हूँ....यह बात मैं अच्छी तरह जानती हूँ....क्या करूँ ?...कभी-कभी मुझसे पागलपन हो जाता है—मैं गाने लगती हूँ, नाचने लगती हूँ, अनर्गल बातें भी करने लगती हूँ और कभी ऐसा भी हो जाता है कि अपना भान भूल जाती हूँ...'

'यह सब मैंने सुना है, कुछ देखा भी है। आप पागल न होतीं तो मेरे पास आकर इस प्रकार बातें न करतीं।'

'तब आप अभी भी सँभल जायँ और मेरे साथ विवाह करने से इन्कार कर दें।'

'यह तो असम्भव है।...मुझे पागलपन प्रिय लगता है...और, मीरांदेवी ! आप जानती हैं कि मैं भी पागल हूँ। हम दोनों पागलों का सम्बन्ध अच्छा रहेगा।' हँसकर धीमी आवाज़ में भोज ने कहा। इस बार मीरां को आश्चर्य हुआ।

'किस आधार पर आप कहते हैं कि आप पागल हैं ? मीरां ने भोज की ओर देखते हुए पूछा।

'आपके साथ विवाह करने को तैयार हो गया हूँ, इससे आपको नहीं लगता कि मैं पागल हूं ?'

मीरां हँस पड़ी, और हँसते-हँसते उसने कहा:

'यदि ऐसा है, तो मैं ही क्यों न आपको पागल बनने से रोक दूं ?'

'तब तो मैं और भी अधिक पागल बन जाऊँगा !'

'भोजकुमार ! भूलें नहीं कि हम दोनों अपने जीवन भर के गम्भीर संबंध का विचार कर रहे हैं....मैं आपकी पत्नी बनकर किसी भी प्रकार से आपको सुख न दे सकूंगी।' मीरां ने गम्भीर होकर कहा।

'सुख की आकांक्षा से मैं विवाह करना चाहता नहीं....हाँ, एक ही कारण से मैं आपको ना कह सकता हूँ।'

'कौन-सा कारण ?'

'यदि आप ही को विवाह न करना हो....और वह मेरे साथ ! आपकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं करना है...लग्न भी नहीं...परन्तु उसके बाद मैं जीवन भर कुँवारा ही रहूँगा ।'

'चित्तौड़ के युवराज ! विचार कर लें ! आपकी और मेरी बात में बड़ा अन्तर है ।...मैं तो विवाह करने की कभी स्वीकृति देती नहीं, यदि दादाजी ने मेरी बात मान ली होती तो !'

'दादाजी क्या कहते हैं ?'

'उनका कथन है कि मीरां की देह अलग्न न रहनी चाहिए...और दादाजी को जिस बात से दुःख होता हो, वह मैं कर नहीं सकती । इसी कारण मैंने लग्न करने से इन्कार नहीं किया...और आपके पास आयी हूँ—इस प्रार्थना के साथ कि आप ना कह दें ।'

'परन्तु...अब आप ही बताएँ कि मैं ना कैसे कहूँ ?...बताएँ, आपके पास देह है न ? देह क्या कहती है ?' भोज की धृष्टता बढ़ी ।

'देह ?...हाँ, वह अभी है...कभी-कभी दुःख भी देती है; परन्तु...आप जानते हैं कुमार ! कि वह तो अर्पण हो चुकी है ?'

'इसका मुझे पता नहीं । यह जानने के बाद कि वह किसको अर्पण हो चुकी है, मैं ना कह दूँगा ।' आश्चर्यान्वित होकर भोज ने कहा ।

'मेरे गिरिधरलाल को ! मेरे प्रभु को !' मीरां ने दृढ़ता से कहा ।

भोज के मन की व्यग्रता कुछ कम हो गयी । उसको हँसने की इच्छा हुई । सभी भक्त अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पण कर देते हैं, और देह के भोग देह को भोगने देते हैं ! कितने ही विवाहित दम्पति को भोज भक्त के रूप में जानता था...प्रभु को अर्पण करना अर्थात् शून्य को अर्पण करना ! अथवा अर्पण करके प्रसाद रूप में पुनः प्राप्त करना !...और यदि ध्यान से विचार किया जाय, तो सब कुछ प्रभु ही का है ! भोज हँस पड़ा ।

'अच्छा हुआ आपने कह दिया ! जो बात मुझे मालूम नहीं थी, वह आज मालूम हो गयी...आपने अपना मन भी प्रभु को ही अर्पण कर दिया है !'

'कुमार ! मुझे बड़ा दुःख होता है...बात यही है...बिना मन की, बिना तन की मुझे लेकर आप क्या करेंगे ?...और मैं आपको लेकर क्या करूँगी ?'

'एक नया अनुभव होगा, असाधारण भावनाओं से भरा हुआ !'

'तब क्या नाम का ही विवाह करना है ?'

'उसमें हर्ज ही क्या ? मीरां जैसे नाम के साथ भी मुझे क्रीड़ा करने को मिले, तो मुझे संतोष होगा...जिस प्रकार पिताजी दिल्ली के नाम के साथ खेल खेल रहे हैं...उसी प्रकार ! हो सकता है किसी दिन नाम धारण करनेवाली वस्तु मिल ही जाय ! नाम और वस्तु दोनों !'

ज्यों-ज्यों मीरां भोज को समझाने का प्रयत्न करती, त्यों-त्यों भोज का मीरां के प्रति आकर्षण बढ़ता जाता। मीरां स्वयं तो अविवाहित ही रहना चाहती थी। उसी में उसे सुख मिलता। परन्तु वह लाचार थी दूदाजी के आग्रह से, जिसने उसको पाल-पोसकर बड़ा किया, संस्कार की प्रेरणा दी, और प्रभु-मिलन के मार्ग पर अग्रसर होने की सब सुविधाएँ प्रदान कीं, उसकी इच्छा मीरां को अविवाहित देखने की न थी। ऐसे स्नेहमूर्ति दादाजी को मीरां जैसी पौत्री बिलकुल नाराज़ करना नहीं चाहती थी। मीरां के हृदय में प्रभु के बाद का स्थान दूदाजी का ही था। दादाजी को प्रसन्न करने के लिए मीरां ने विवाह करना स्वीकार कर लिया; परन्तु अपने साथ विवाह करनेवाले युवक को इस विवाह की कठिनाइयाँ बता देना वह अपना कर्तव्य समझती थी। विवाह के विषय में सब बातें इतनी जल्दी निश्चित होंगी, इसका उसे स्वप्न में भी ख़याल न आया था। परन्तु इधर दो ही दिनों में उसकी चाची और सखियों ने ऐसी परिस्थिति खड़ी कर दी कि लग्न उसके सामने आकर नाचने लगी। और लग्न के लिये उद्यत बना हुआ युवक भी पास ही था। फिर वह युवक भी कैसा ? एक महानराज्य का उत्तराधिकारी, प्रतिष्ठासम्पन्न युवराज और शील-संस्कार का भंडार; जिसके साथ विवाह करने के लिए अनेक राजकुमारियाँ आतुर हों ! ऐसे प्रदेश का राजकुमार एक योगिनी को, साध्वी को, भक्तिनी को अपनी जीवन-संगिनी बनावे, उसके पहिले उसे समझ लेना चाहिये कि वह क्या

करने जा रहा है? कदाचित् समझकर वह उसके साथ विवाह करने से इन्कार कर दे! तब तो मीरां के मन का विषाद अपने आप चला जाय। इसी उद्देश्य से साहस धारण करके मीरां उससे मिलने आयी। परन्तु बातचीत के बाद उसे ज्ञात हुआ कि अपने प्रयास में वह विफल रही। उसके समझाने से भोज पर और ही असर हुआ। अशक्य लगनेवाले साहसिक कार्य वीर पुरुषों को और साहसी बनाते हैं। भोज ने हठ पकड़ा। उसकी नसों में बहनेवाले सिसोदिया वंश के रक्त ने उस हठ को और उग्र बनाया और इस हठ में उसे आनन्द मिला। क्षत्रिय संस्कार के अनुसार मीरां की देह के लिए लग्न करना आवश्यक था। अतः मन न होते हुए भी मीरां को लग्न करना ही पड़ेगा। और यदि भोज उसका सब पागलपन समझ ले, तथा उसकी सभी विचित्रता सहन करने के लिए तैयार हो जाय, तब मीरां को उसके साथ विवाह करने के सिवाय और मार्ग ही क्या रहेगा?

इतना होने पर भी मीरां यह भलीभाँति जानती थी कि विवाह उसके जीवन को भी दुःखी बनावेगा, और उससे विवाह करने वाले के जीवन को भी! मीरां को यह जानकर बड़ा ही दुःख हुआ कि एक उदीयमान युवक के जीवन को वह इच्छा न होते हुए भी बर्बाद करने जा रही है। उसके मुख से एक निश्वास निकल गया।

'मीरांदेवी! यह निश्वास क्यों?' भोज ने पूछा।

'मेरा मन व्यथित हो रहा है यह देख कर कि आप मेरे कहने के मर्म को समझ न सके......विवाह करके...अपने जीवन को तो ठीक...मैं आपके जीवन को धूम्रमय बनाने जा रही हूँ...आपके साथ मैं बड़ा अन्याय करूँगी, इसका मुझे भयंकर दुःख हो रहा है। मीरां ने निश्वास का कारण बताया।

'मीरां देवी! मेरे गुरु ने एक पाठ सिखाया है: जहाँ जहाँ धूम्र तहाँ तहाँ वह्नि!'

'कुमार! आपका सारा पौरुष भूखा रहेगा।'

'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः, आपके इष्टदेव कृष्ण के बालब्रह्मचर्य को अधिक समझने का मुझे अवसर मिलेगा। हँसकर भोज ने कहा।

'मैं महलों की निवासिनी नहीं हूँ...कुमार!...मैं तो मन्दिर-वासिनी हूँ।'

'आपके पग पग पर मैं मन्दिर की रचना करूंगा।'

'मेरा पागलपन आपको बर्बाद कर देगा।'

'मीरां देवी ! यह जीवन एक प्रकार की द्यूत-क्रीड़ा है; जीत में आप हैं। इस द्यूत में आप न भी मिलेंगी तो कोई हर्ज नहीं; मुझे आनन्द होगा कि आपके लिए मैं इतना बड़ा दांव खेल गया...क्या बर्बादी होगी, यह समझ में आये, तब भी कोई फिक्र नहीं !'

तब एक सत्य समझ लें...मीरां के साथ विवाह करने का अर्थ होगा एक हवाई पुतली के साथ विवाह करना !'

'मुझे वह भी प्रिय लगेगी, मीरां देवी ! एक हवाई पुतली के साथ, दिव्य-पुतली के साथ, अग्निमयी पुतली के साथ जीवन का खेल खेलने में भी अद्भुत आनन्द मिलेगा। इस प्रकार का साहस भी मुझे करने दें। रण-साहस के साथ-साथ थोड़ा संसार-साहस भी होता चले !'

'तब जाऊँ मैं ?' कहकर दयार्द्र दृष्टि से मीरां ने एक बार पुनः भोज को देखा।

'जैसी इच्छा !...जायँ...पुनः आने के लिए।...'

'आकर एक सुन्दर जीवन को नष्ट करने के लिए।'

'अपने जीवन के लिए यदि आपको लगता हो तो......आप न आएँ... मेरा जीवन तो आपकी राह देखा ही करेगा।' मीरां की ओर एक वेधक दृष्टि डालते हुए भोज ने कहा।

मीरां के नयनों में अनुकम्पा का सागर भर आया। विवाह भी यदि जन्म सरीखा ही अनिवार्य हो, तो ऐसे आत्मत्यागी युवक का पाणिग्रहण क्यों न करना ? परन्तु विवाह के बाद यह युवक पति के अधिकारों का आग्रह करे तो ?

'कुमार ! मेरी एक शर्त मानेंगे ?' जाते जाते मीरां ने पूछा।

'शर्त ?...उसे कहने की आवश्यकता नहीं...समझ लीजिये कि वह मान ली गयी।'

'समझ तो लें, भोले भोजकुमार ! विवाह करने के बाद भी यह देह आपको न मिले तो ?'

'मुझे कुछ समझना नहीं है...चाहे आप मेरे साथ विवाह करें, या न करें...आपकी जो इच्छा होगी वही मेरी भी इच्छा रहेगी...,अब कुछ अधिक कहना है ?'

'नाहक साहस कर रहे हैं...कुमार ! मैं तो इसी शर्त के साथ आपसे विवाह करूँगी...आगे आप जानें।' कहकर मीरां एक अनुकम्पा भरी दृष्टि भोज की ओर डालती हुई चली गयी।

मध्य रात्रि बीत चुकी थी, तिस पर भी वह मन्दिर की ओर गयी। भगवान शयन कर रहे थे। मीरां ने दीपक जलाया और सोयी हुई मूर्ति की ओर ध्यान से देखा...दृष्टि वहीं स्थिर हो गयी...भगवान की ओर वह देखती रही...कितनी देर तक वह देखती रही, इसका उसे ज़रा भी भान न हुआ...दूदाजी आकर उसे देख गये...चाची भी आयीं...दो-तीन सखियाँ भी आयीं और उसे देख कर लौट गयीं....किसी ने भी उसका ध्यान भंग किया नहीं। न जाने कितनी देर तक वह ध्यान लगाकर वहाँ बैठी रही।

प्रभात होते ही मीरां ने चाची के पास जाकर कहा :

'चाची ! दादाजी की इच्छा ही मेरी इच्छा है।'

'तात्पर्य ?'

'यही कि जहाँ दादाजी कहेंगे, वहाँ मैं विवाह कर लूँगी।'

'क्या कहा ?...विवाह करोगी ?...मेरी अच्छी बेटी !...,दादाजी तुम्हारा विवाह ऐसे वर के साथ करेंगे जिसको पाने के लिए देव-कन्याएँ भी नीचे उतर आएँ !' चाची ने मीरां को अपने भुजपाश में लेकर स्नेह के साथ कहा।

चाची का मुख प्रसन्नता से चमक उठा। इसी प्रकार की चमक थोड़ी ही देर में मेड़तिया राठोड़ के कुटुम्ब भर में फैल गयी। थोड़े ही समय बाद चित्तौड़ के महाराणा संग्रामसिंह के युवराज भोजराज के साथ मीरां का लग्न भी धूमधाम से हुआ। इस प्रसंग पर अनेक उत्सवों और समारंभों का आयोजन हुआ, जिनकी ख्याति सारे राजस्थान में फैल गयी।

मीरां को जितना दुःख मेड़ता छोड़ने का हुआ, उससे कहीं अधिक

दुःख उसे अपने स्नेहमूर्ति दादाजी को छोड़ने का हुआ। और दादा के दुःख का तो पूछना ही क्या ? सिसोदिया राणा के युवराज से अधिक सुयोग्य वर मीरां को कहाँ मिलता, इस विचार से दूदाजी को एक ओर तो प्रसन्नता हो रही थी, और दूसरी ओर मीरां का विछोह उन्हें व्यथित कर रहा था। दूदाजी को लगा कि उनका वृद्धत्व यकायक बढ़ गया। लाड़ली...आँख की पुतली समान प्यारी पौत्री को दूसरे के घर भेज देना होगा ! हर्ष और शोक के बीच में मनुष्य कैसे जीवित रह सकता है, यह देखना हो, तो विवाह के बाद ससुराल बिदाई के समय हिन्दू पुत्री के माता-पिता को देखना चाहिये !

मीरां की विदाई के समय दूदाजी की आँखों से अश्रु की वर्षा हो रही थी। उनके पैरों पर झुकने वाली मीरां को वे इतना ही कह सके :

'बेटी ! अब दादाजी को भूल जाना।'

रोते-रोते मीरां ने उत्तर दिया :

'यह कभी हो सकता है, दादाजी ? मेरे सारे जीवन को बनाने वाले आप...!'

आगे वह बोल न सकी, गला भर आया।

विवाह करके मीरां चित्तौड़ गयी। इस विवाह के प्रसंग पर मीरां की विचित्रता के दो उदाहरण राजस्थान को चर्चा के लिए मिल गये:

एक तो यह कि लग्न के समय वेदी में मीरां ने अपने गिरिधरलाल की मूर्ति को बराबर अपने सामने रखा...और उस मूर्ति को वह चित्तौड़ भी ले गयी।

दूसरी बात यह कि चित्तौड़ पहुँचने पर जब उसे मेवाड़ की कुलदेवी को नमन करने को कहा गया, तब वैसा करने से उसने इन्कार कर दिया।

'मेरा मस्तक गिरिधरलाल के अतिरिक्त और किसी के सामने झुकता नहीं।' अपनी सास को कहे हुए मीरां के ये शब्द सारे राजस्थान ने सुने।

दूदाजी की चिन्ता और बढ़ गयी। मीरा विचित्र स्वाभाव की थी, कुछ, ज़िद्दी भी थी; परन्तु ऐसी मूर्ख न थी कि एक सामान्य धार्मिक विधि का विरोध करे !

जीवन की आंधी

~ १ ~

मीरां को चित्तौड़ में एक नयी दुनिया के दर्शन हुए। सब लोगों की आँखें उसी पर थीं...मानो उसकी परीक्षा लेती हों! पिता के घर, दादाजी की छत्रच्छाया में और चाची के वात्सल्य में उसे कभी भी यह न लगा कि उसके प्रत्येक कार्य पर कड़ी नज़र रखी जाती है। उसकी बातचीत तथा उसके आने-जाने पर किसी न किसी का निरीक्षण सर्वदा रहता है। पक्षी आकाश में जहाँ चाहें तहाँ स्वतन्त्रता से उड़ सकते हैं; मछलियों को पानी में तैरने के लिए कहीं रुकावट नहीं; शब्द और दृष्टि किसी का भी उन्हें बन्धन नहीं। अपनी देखभाल आठों पहर करनी पड़े, परन्तु उसके लिए किसी का नियंत्रण नहीं। माता-पिता के घर के जीवन में मीरां को ज़रा भी बन्धन न था; परन्तु ज्योंही अपनी ससुराल चित्तौड़ में उसने पाँव रखा, त्योंही सर्वत्र उसे बन्धन ही बन्धन नज़र आये और ससुराल का अधिकांश स्त्री-वर्ग तो मानों उसके लिए सजीव बन्धन ही था। स्थल का बन्धन तो था ही, मीरां को ऐसा लगा कि सबकी वाणी, और वाणी से भी बढ़कर सबकी आँखें उसके चारों ओर किसी अपार्थिव बन्धन का सर्जन करती जाती थीं। पितृगृह की भांति वह ससुराल में घूम-फिर नहीं सकती थी......वहाँ का वातावरण ही कुछ ऐसा था। तिसमें चित्तौड़ की शान-शौकत! चारों पहर शहनाइयां बजतीं; सैनिकों की कवायद होती; हाथी-घोड़ों पर बैठ कर सैनिकों के दल के दल गश्त लगाते; डंके और रण-दुंदुभियाँ बजतीं; बन्दीजन गाते और कवि कविताएँ रचते; राजनीतिक लिखा-पढ़ी के निष्णात कान में लेखनी खोसकर घूमते हुए नजर आते; जनता की अपार भीड़ उमड़ी पड़ती; रह रहकर महाराणा संग के जयघोष होते और राज-कुटुम्बियों का सर्वत्र समुचित सम्मान होता।

भोजराज तथा नववधू मीरां के लिए राजमहल में एक विशाल भाग

अलग कर दिया गया था, और उसकी पूरी सजावट कर दी गयी थी। मीरां को एक वस्तु की कमी खटकने लगी। उस भाग में कोई मन्दिर न था। उसने साहस करके एक स्थान पर मन्दिर जैसी सजावट की, और वहाँ अपने इष्टदेव गिरिधरलाल की स्थापना करके मेड़ता की भाँति सेवा-पूजा शुरू कर दी। दासियों की आँखों में पहिले जिज्ञासा जन्मी...और फिर परिहास। इन दासियों ने मीरां के पूजा-पाठ की बात सारे रनिवास में पहुंचाई और जब मीरां ने मूर्ति के सामने कीर्तन करना आरंभ किया, तब तो राजमहल के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। चित्तौड़ के राजमहल में संगीत-नृत्य हुआ करते थे, परन्तु यह कार्य राज्यद्वारा नियुक्त संगीतकार तथा नर्तकियों के सुपुर्द था। किसी प्रसंग विशेष पर सुन्दर गानेवाली सखी-सहेलियों और चेरियों को भी अनुमति मिलती। परन्तु रानियों और राजकुमारियों को नाचने-गाने की बिलकुल स्वतंत्रता न थी। ये कार्य उनके उच्चपद के लिए अयोग्य समझे जाते थे। इसलिए जब मीरां ने मूर्ति के सामने नाचना-गाना शुरू किया, तब सारा राज-परिवार स्तब्ध हो गया। मीरां! भावी महा-रानी! युवराज्ञी! उसका यह कार्य! मीरां का यह कार्य सबको विचित्र लगा। परन्तु कुछ समय बाद वह परिहास का साधन बन गया। भोज के भाई-बहिन अपनी भौजाई की विचित्रता पर हँसने लगे। एक न हँसता था—भोज! सुहागरात में जो उसे अनुभव हुआ था, उस अनुभव ने मीरां के प्रति हास्य, तिरस्कार, क्रूरता आदि सभी भावनाओं का ह्रास कर दिया था। भोज और मीरां की भी एक सुहागरात थी। कैसी?—

सुहागरात सभी प्रेमियों को प्रमुदित और उल्लसित करती है। पति और पत्नी से अपूर्व प्रथम-मिलन की यह रात! हृदय के अनेक चिरस्मरणीय कंप की साक्षिणी! कल्पना में रमनेवाली मूर्ति के सम्पूर्ण स्पर्श की यह रात। देह-स्पर्श और आत्म-स्पर्श! वह स्पर्श-सुख जो न इस रात के पहले कभी मिला हो, और न भविष्य में कभी मिलनेवाला हो! सुहागरात ही देखती है सर्जन के लिए संपूर्ण रीति से परिपक्व मानव—युगल—युवक और युवती का निर्बन्ध प्रथम आश्लेष! सुहागरात का समय अर्थात् भूतकाल की सभी समृ-द्धियों का प्रदर्शन करनेवाला अद्यतन वर्तमान—जो पुनः कभी मिलता नहीं!

यह अद्यतन वर्तमान इन्हीं समृद्धियों के ऊपर जीवन भर के भविष्य की रचना करता है।महाकाल का यह लास्य और ताण्डव; भूतकाल की मानव-समृद्धि में क्या क्या न होगा ? मानव आधा देव और आधा दानव; आधा मनुष्य और आधा पशु; उसके हृदय में पशुत्व से देवत्व तक पहुँचने के सोपान बने रहते हैं। इसी सोपानश्रेणी के आरोहण और अवरोहण का नाम सुहागरात है।

कभी कभी ईषत् कंप का अनुभव करनेवाली मीरां अपने सुसज्जित शयनगृह में कभी बैठती, कभी खड़ी रहती, कभी इधर-उधर घूमती...कभी गिरिधरलाल के चित्र को देखती, और कभी भोजराज के चित्र पर भी दृष्टि डालती...कभी धीमे स्वर में गाने लगती, और कभी यकायक गीत बन्द कर देती। सन्ध्या बीत चुकी थी, और रात्रि का आगमन कभी का हो चुका था। दीपकों की ज्योति बढ़ गयी थी। मीरां के इस खण्ड में किसी मन्दिर में से, या बुर्ज पर से, अथवा किसी गायक के अभ्यास कक्ष में से अग्राह्य वाद्य या गीत के कुछ अंश अदृश्य रूप में आ रहे थे। चन्दन की सुगन्ध सरीखी सुवास चारों ओर फैल रही थी। शयनागार की सुन्दर सजावट का तो पूछना ही क्या था ? साक्षात् सौन्दर्य का भण्डार ? इस शयनखण्ड की सौन्दर्य-लक्ष्मी समान मीरां कभी-कभी खण्ड के बाहर क्यों देखती थी ? क्या किसी प्रकार की न्यूनता का अनुभव करती थी ? सारे प्रदेश को परिवेष्टित करनेवाली दुर्गमाला मीरां को ऐसी लग रही थी मानो कोई मेखला किसी वनदेवी की समग्र देह को अलंकृत कर रही हो ! मस्तक पर सुन्दर मुकुट और पैरों में सुशोभित नूपुर !

चित्तौड़ का यह दुर्ग अभेद्य माना जाता था। परन्तु...कभी कभी उसका भेदन भी हुआ था।

चित्तौड़ की सौभाग्यमाला सरीखा यह दुर्ग !...यह माला भी कई बार टूट चुकी थी !

मीरां ने पुष्पहार धारण किये थे। खण्ड में सर्वत्र नाना प्रकार के फूल बिखरे हुए पड़े थे। कहीं कहीं सुमनों की सजावट भी की गयी थी। बाहर आकाश को तारक मण्डल ने अपने गुच्छ और मालाओं से सजाया था।

भगवान की सृष्टि में भी क्या पृथक् पृथक् खण्ड रखने की आवश्यकता पड़ती होगी ? उसमें पूजन-खण्ड कौन ? भोजन-खण्ड कौन ? विलास-खण्ड कौन ?... मानव ने तो अपने लिए विलास-खण्ड और शयन-खण्ड एक ही रखा है; परन्तु विश्व के आधार को—विश्वम्भर को इसकी जरूरत क्यों नहीं ? उसने अपने लिए पृथक् पृथक् खण्डों की व्यवस्था ही नहीं की ? वह अखण्ड क्यों ? क्या विलास के लिए उसे स्थान न चाहिये ? भोजन वह कहाँ करे ? वार्तालाप का स्थान कौन ? चिन्तन के लिये कौन सी जगह ? पर उसे अपने भिन्न-भिन्न कार्य के लिए पृथक्-पृथक् स्थानों की आवश्यकता नहीं। उसके पास तो सृष्टिरूपी एक ही खण्ड...और...उसकी सारी क्रियाओं का वही एक विन्यास-स्थान है ! ...उसे एक क्षण भी निद्रा नहीं ! निद्रा बिना विलास कैसा ?

सुहागरात में पहिली बार पति-पत्नी साधिकार एकान्त में मिलते हैं। घर के बड़ों की आँखें और सखी-सहेलियों के स्मित को शयनखण्ड के अन्दर प्रवेश करने की अनुमति नहीं। उनका स्थान द्वार के बाहर। लाज किसी की नहीं...परस्पर की लाज को छोड़कर !...और उसे भी दूर करना ! विश्व का पुरुषत्व और विश्व का स्त्रीत्व एक दूसरे को पहचानने के लिए एकान्त पाकर अपनी देह और मन के अणु-अणु में विकसित हो जाते हैं। पढ़ने से, सुनने से, जो अनुभव प्राप्त हुआ हो, वह यकायक प्रत्यक्ष होकर खड़ा हो जाता है। क्या यही वह पुरुष है, जिसके रूप, बल और औदार्य की स्त्री कल्पना करती थी ?...स्त्री के मन की सर्वोत्कृष्ट आदर्श मूर्ति यही है ? और यही वह स्त्री...उसकी आदर्श चिर-संगिनी ? पुरुष ने अपने कल्पना-प्रदेश में जिसको सौन्दर्यमयी देवी और अप्सरा के रूप में चित्रित किया था, जिसको वह मार्दव का सार समझता था, और जिसके व्यक्तित्व में उसने शक्ति के दर्शन किये थे...वही यह स्त्री ? वे एकान्त में क्यों मिलते हैं ? दोनों को इस प्रकार एकान्त में मिलने की आवश्यकता क्यों हुई ? दोनों की भिन्न-भिन्न देह परस्पर के आश्लेष के लिए इतनी आकर्षित क्यों होती थी ? और देह-वाद्य में नवों रसों का यह गुंजन कैसा ? जीवन मानव-युगल को किस रस की ओर खींच ले जायगा ! शृंगार के गगन-भेदी उड्डयन में कौन सा रस हाथ लगेगा...

बीभत्स, विस्मय, रौद्र ? भयानक, हास्य, वीर, अश्रुसिंचित करुण, अथवा शान्त-जीवन की सफलता-सा ? नवों रस का इन्द्रधनुष शयन-खण्ड को सजाने लगता है। स्त्री-पुरुष के भूतकालीन संस्कार इस रात्रि में—सुहागरात में किस रस की यवनिका को स्थायी रूप से खोलेंगे ?

और यदि इस प्रकार स्त्री-पुरुष का मिलन न हो, तो क्या जीवन निरर्थक और निष्फल माना जाय ? क्यों ? जैसे पुरुष की कल्पना की थी, वैसा पुरुष न हो तो ? अथवा स्त्री में जैसे लावण्य की कल्पना की थी, वैसा लावण्य न मिले तो ? बड़े-बड़े वीर पुरुष और साहसी वीरांगनाओं के भी हृदय इस विचार से कंपित हो जाते हैं...भयभीत हो जाते हैं। इतना भय उनको रण के मैदान में, शत्रुओं के व्यूह में, अथवा श्मशान की नीरवता में दिखाई पड़ता होगा ? इतना होने पर भी इस भयंकरता के आसपास सौन्दर्य की झलक दिखाई पड़ती है...मानो सिंहनी ने वस्त्र धारण किये हों !...व्याघ्र के सुन्दर देह-पट्टों के नीचे स्नेह छिपा हुआ हो ! विष में अमृत का स्वाद हो ! अमृत में विष मिल सकता हो !

अमृत विषमय हो, अथवा विष अमृतमय हो, उसका पान करना ही पड़ता है ! कदाचित् जीवन की यही सबसे क़ीमती भेंट हो !

अन्यथा कृष्ण राधा की खोज में क्यों निकलते ? और राधा कृष्ण के पीछे क्यों पागल होती ? अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला महाविराट् पुरुष मानव कृष्ण बनकर पृथ्वी पर आया; और अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के अणु-अणु में व्याप्त विश्वव्यापिनी लीला ने राधा का रूप ग्रहण किया; और दोनों को वांछित-ऐक्य मिला ऐसी मानव-देह में ! ऐसी कौन सी वह सिद्धि थी, जो प्रकृति और पुरुष को उनके विराट् स्वरूप में मिली नहीं, और जिसके लिए उन्हें मानव-शरीर धारण करना पड़ा ?

'गिरिधर लाल ! मेरे प्रभु ! कुछ कहो तो सही कि मेरी इस देह में क्या हो रहा है ?

'शरीर ही नहीं...शरीर से अधिक व्यथा मन में व्याप्त है नाथ ! तुम्हारी योजना में यह व्यथा कैसी ? और इससे उद्धार कैसे हो ?'

गिरिधारीलाल का चित्र देखते हुए मीरां ने अपनी वेदना प्रभु के आगे प्रदर्शित की।

गिरिधारी के छबि-दर्शन में लीन बनी हुई मीरां एक मानव के साथ लग्न कर चुकी थी। मानव का अर्थ है अपूर्ण ईश्वर! अपूर्ण को मीरां अपनी देह कैसे अर्पण करे?...परन्तु लग्न तो हो ही गया था...उसका मूल्य तो चुकाना ही पड़ेगा। इस दायित्व से मुक्ति कैसे मिले और किसके पास से?

भोज का भी चित्र उस खण्ड में था। गुजरात के एक महान चित्रकार की यह सुन्दर कलाकृति थी। मीरां ने गिरिधारीलाल के चित्र पर से अपनी दृष्टि हटाकर भोज के चित्र पर डाली। यह पुरुष भोज, रूढ़ि और न्याय ने—अथवा कहा जाय तो धर्म ने भी—जो भाग लग्न में उसके लिए निश्चित किया है, यदि वह माँगे तब?

सहसा मीरां चौंक पड़ी।

पीछे से आकर उसके कंधे पर भोजराज ने एक हाथ रखा।

'क्यों चौंक उठीं, मीरां देवी!'

'यह तो स्त्रियों का धर्म ही है।' कहती हुई मीरां कुछ हट कर खड़ी हो गयी। उसके मुख पर स्मित और गांभीर्य दोनों दीख पड़े।

भोज मीरां को देख रहा था। मीरां की देह में उसे अनुपम सौन्दर्य दृष्टिगोचर हुआ। प्रत्येक प्रियतम को उसकी प्रियतमा जीवन में एकाध बार सौन्दर्य के अपूर्व भंडार समान लगती ही है! यह सौन्दर्य क्या वस्तु होगी? प्रियतमा के देह की तेजराशि, अथवा प्रियतम के हृदय की कल्पना? सौन्दर्य नित्य तत्व है, या अनित्य? भोज तो उसे नित्य ही समझता था। आज की रात मीरां के देह-सौन्दर्य को अनित्य मानना अशक्य था। कोई भी मानव सुहागरात में अपनी प्रियतमा के देह-सौन्दर्य को अनित्य मान नहीं सकता....यदि माने, तो वह मानव नहीं। मीरां ने भी देखा कि भोज की दृष्टि उसके शरीर पर लगी हुई है। मीरां ने आज अपने शरीर को सुभग शृंगार से सजाया था। शृंगार कितने प्रकार के—सोलह या चौसठ? गिरिधरलाल के अंग-प्रत्यंग को अलंकृत करने वाली शृंगार-शैली से परिचित

मीरां ने अपनी मानव-देह को भी पूर्ण रीति से अलंकृत किया था। परिधान परिच्छन्न देह में इतना सौन्दर्य ! तब अनावरित रूप कितना अधिक सुन्दर होगा ? शृंगार किया हुआ रूप भी कम आकर्षक नहीं होता। चम-चम चमकने वाले आभूषणों में मीरां देव-कन्या जैसी तेजस्विनी लग रही थी।

'मुझे देख रहे हैं, कुमार !' मीरां ने मौन भंग किया।

'हाँ ! तुम्हें देखूं....या न देखूं ?'

'लग्न ने यह अधिकार आपको अवश्य दिया है।'

'मीरां के विषय में अधिकार जैसी कोई वस्तु नहीं। मीरां की इच्छा वही मेरी इच्छा !....तुम्हारी इच्छा मेरा अधिकार। मुझे भ्रम न हुआ हो तो मुझे ऐसा लगा कि तुम्हारी दृष्टि मेरे चित्र पर कुछ देर के लिए रुकी थी...मेरी यह इच्छा अवश्य है कि वह दृष्टि मेरे ऊपर स्थिर हो...बिना माँगे ही।'

'हाँ'कहकर मीरां ने पुनः गिरिधारीलाल की ओर दृष्टि घुमाई।

'क्या इनसे मैं कम सुन्दर हूँ ?' भोज ने हँसकर पूछा।

'अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका कि कौन अधिक सुन्दर ? किसे देखती रहूँ ?...जो मेरे हृदय में है, उसे ?...अथवा जो मेरी आँखों के सम्मुख है, उसे ?'

'कौन तुमको अधिक प्रिय है ?"

'मुझे प्रिय लगते हैं मेरे गिरिधरलाल...कुमार ! आप ही गिरिधारी होते तो कितना अच्छा होता ?'

'मान लो कि मैं ही गिरिधारी हूँ ! आर्य स्त्रियों की यही मान्यता रही है।'

'इसी बात का प्रयत्न कर रही हूँ...आप कहाँ कहाँ और कितने अंश में गिरिधारी हैं, यही मैं सोच रही हूँ।'

'मिला कोई साम्य ?'

'हाँ, एक विषय में साम्य अवश्य मिला है...जिसके आधार पर मैंने विवाह करना स्वीकार किया।'

'वह कौन साम्य है ?'

'गिरिधारी बंसी बजाते हैं और आप भी...ठीक है न ? मेड़ता में भी आपकी वेणु का नाद सुन चुकी हूँ ।'

'और तुम बंसीधर को अपने देश बुलाती थीं...वह तो तुम्हारे देश में पहुँच ही गया था ।'

'अभी तक मेरी इच्छानुसार...जिस प्रकार मैं चाहती हूँ, उस प्रकार वह बंसीधर आया नहीं । मैं आप में उसका आगमन खोज रही हूँ ।'

'मुझमें वह कब मिलेंगे देवि ?'

'ज्योंही मिलेंगे, त्योंही आपको बता दूँगी...और मिलने के साथ, आप विश्वास रखें; मेरी सारी देह उनमें लीन हो जायगी....'

'और तब तक ?'

'मुझे उन्हें खोजने दें ।'

'और मैं क्या करूँ ?' भोज ने हँसकर पूछा ।

'आप...आप भी इस खोज में मेरा साथ दें !'

भोजकुमार ने मीरां को वेधक दृष्टि से देखा । क्षण क्षण पर उसे प्रबल इच्छा हो रही थी कि वह सुन्दर रूप-लतिका समान मीरां को अपने भुजपाश में ले ले...परन्तु न जाने क्यों हाथ बढ़ते न थे । एकान्त में पति-पत्नी का संयोग अनिवार्य हो जाता है । एक बार भोजकुमार ने मीरां के स्कंध का स्पर्श भी किया ...मीरां की अज्ञानता में ; परन्तु उसके बाद संपूर्ण एकान्त मिलने पर भी भोज की हिम्मत मीरां को अपने आश्लेष में ले लेने की पड़ी नहीं । उसके हाथ और पैरों ने मानो अपना चापल्य खो दिया हो । नहीं तो सुहागरात, में प्रथम मिलन में, मानव का पौरुष वाणी में ही मर्यादित रह जाय, यह सर्वथा असम्भव है ।

परन्तु मानव-पौरुष के सामने संप्रति एक अपूर्व स्त्रीत्व खड़ा था । यह स्त्रीत्व अति आकर्षक था, लेकिन उसे छूने का किसी को साहस न होता था । वह खोज रहा था किसी पूर्ण पुरुष को; और जब तक ऐसा पुरुष उसे प्राप्त न हो, तब तक उसे कोई छू न सके—उसे स्पर्श करके अपवित्र न कर सके—इस उद्देश्य से उसने अपने चारों ओर एक अभेद्य कवच की

रचना की थी। इस कवच को तोड़ना कैसे ? वह कुछ स्त्री-सहज लज्जा का आवरण तो था नहीं, कि आवरण को उठाते ही पौरुष की कामना करता हुआ स्त्री-सौन्दर्य सर्वांग प्रकट हो जाय। और न था वह विरोध के तोरण के नीचे टँगा हुआ स्वागत का पर्दा, जिसको हटाते ही पौरुष की कामना करनेवाले स्त्रीत्व का समग्र सौन्दर्य भेंट में मिल जाय। वह तो वज्रभित्ति थी पूर्णत्व को प्राप्त होनेवाली स्त्री की, जिसका पूर्णपुरुष बिना अन्य कोई व्यक्ति दृष्टि से भी स्पर्श नहीं पा सकता था। भोज विचार में पड़ गया.... अपनी अपूर्णता स्वीकार कर लेना....या पुरुष-सुलभ आक्रमण करना ? कभी-कभी स्त्रियाँ ऐसे आक्रमण की कामना करती हैं; और उसमें उन्हें आनन्द मिलता है।

'मीरां ! चलो, तुम्हारी खोज में मैं मदद करूँ....हम दोनों थोड़ी देर साथ बैठें और खोजने की योजना बनाएँ....' कहते हुए भोज ने मीरां का हाथ पकड़ा और कुशल कलाकारों द्वारा बनाये हुए एक सुन्दर आसन पर ले जाकर बैठाया। वह स्वयं भी उसके पास बैठ गया। मीरां का हस्त-स्पर्श होते ही भोज के सारे शरीर में रोमांच हो गया; परन्तु मीरां ने ऐसे किसी भाव का अनुभव नहीं किया। उसे इतना अवश्य लगा कि पूर्ण पुरुष की शोध में कोई पुरुष-व्यक्ति मित्र-भाव से उसकी सहायता करने के लिए तैयार है। भोज के स्पर्श में उसे किसी प्रकार का मानव-विकार न हुआ। पूर्णता का तो लेशमात्र भी अनुभव न हुआ। और जब तक पूर्णता उसे मिले नहीं, तबतक कोई भी व्यक्ति उसके हृदय का स्पर्श करने में असमर्थ ही रहता। और हृदय के स्पर्श बिना विकार की उत्पत्ति हो नहीं सकती।

मीरां का हाथ भोज ने छोड़ा नहीं और वह सटकर ही बैठा रहा। बैठे-बैठे उसने मीरां को उसकी शोध में सहायता देने का कार्य शुरू किया।

'देखो, मीरां ! तुम जिसको खोजती हो, उसका एक लक्षण तो मुझमें मिल ही गया है...अब दूसरे लक्षणों का विचार करें...उसका साम्य देखें।' भोज प्रेमी था, चतुर था, कार्य-दक्ष था। जिस प्रेममय आक्रमण का स्वागत न हो, वह आक्रमण निष्फल होता है, यह बात वह भली प्रकार जानता था।

'मैंने जबसे आपके साथ विवाह किया है, तबसे इसी बात का प्रयत्न कर रही हूँ।'

'तब...तुमको नहीं लगता कि मैं सुन्दर हूँ ?...क्षत्रिय राजकुमारियाँ ही नहीं, मुसलमान शाहज़ादियाँ भी मेरे पास अपने प्रेम-पत्र भेज चुकी है....मीरां ! तुम्हें मैं सुन्दर लगता हूँ या नहीं ?'

'आप सुन्दर अवश्य हैं....मैं जितनी बार आपको देखती हूँ...उतनी बार मेरा विश्वास दृढ़ होता जाता है कि मेरी दृष्टि के सामने आये हुए पुरुष-सौंदर्य में आपका सौंदर्य सर्वश्रेष्ठ है...किन्तु...'

'किन्तु क्या ?'

'यही कि आप सुन्दर अवश्य हैं...परन्तु श्यामसुन्दर नहीं....जिसे मैं खोज रही हूँ....।'

'इसका क्या अर्थ ?...मेरा गौरवर्ण तुमको प्रिय नहीं लगता ? ....और तुम कहाँ कम गोरी हो ? मीरां ! गौरवर्ण तो सौन्दर्य का प्रधान लक्षण है, यह क्यों भूल जाती हो ?'

'भोजराज ! मैं भूलती नहीं हूँ...क्या करूं ? मेरी गौर देह तो श्याम रंग की कामना करती है...जो अनन्त सौंदर्यराशि श्याम रंग में से निखर आती है, वह गौर वर्ण में से आती नहीं....गोरा रंग सौंदर्य को बिखेर देता है...परन्तु परम भव्य श्याम रंग में से तो....प्रभु का... पूर्ण पुरुषोत्तम का...कोटि कामदेव का सौन्दर्य फूट निकलता है... और श्यामलता का सौन्दर्य-सार श्यामसुन्दर !...देखिये...वह देखिये....' कहते-कहते मीरां की दृष्टि गवाक्ष के बाहर फैले हुए अन्धकार की ओर गयी, और वहाँ कुछ क्षणों तक रुक गयी...मानो रात्रि के अन्धकार में उसे श्यामसुन्दर के दर्शन होते हों।

'क्या देखूँ ?' भोज ने पूछा।

'जाने दें !...कुछ नहीं...भोजराज ! आप श्यामवर्ण के होते तो... मैं आपसे इतनी दूर न रही होती....'

'तुम भले ही मुझसे दूर रहो, मैं तुम्हें अपने से दूर न रहने दूँगा। मीरां ! मेरी मीरां !....' कहकर अपनी आतुरता का अन्त लाने के लिए

भोज ने मीरां के गले में अपना भुज-पाश डाला और उसे अपनी ओर खींच लिया।

'परन्तु......यह क्या ?'

मीरां के नेत्रों में हर्ष की चमक न दिखाई पड़ी। उसके स्थान पर मृत्यु की-सी यह छाया कैसी ? ऐसी तेजविहीन आँखोंवाली मीरां का चुम्बन कैसे लिया जाय ?...भोज रुक गया।

और...मीरां के देह में यह कंप कैसा ? उसका सारा शरीर काँप रहा था। रोमांच हुआ होता, तो यह स्वाभाविक था। परन्तु यह तो देह का कंप था। मानो असह्य शीत से बचने के लिए देह प्रयत्नशील हो। मीरां का कवच भोज के स्पर्श का निवारण करने का महाप्रयास कर रहा था। यह क्या ?...क्या मीरां वास्तव में भोज से दूर हट जाना चाहती थी ?

'मीरां ! क्या बात है इतनी काँप क्यों रही हो ?' भोज ने चिन्ता व्यक्त करते हुए पूछा।

'कुछ नहीं, कुमार !' मीरां ने उत्तर दिया। उसकी निस्तेज आँखें ज्यों की त्यों थीं।

'लो, मैं तुम्हें शाल ओढ़ा दूँ....कितनी ठण्ड लग रही है।' कहकर भोज उठा और पलंग पर पड़ी हुई शाल लाकर उसने मीरां को ओढ़ा दिया। कुछ क्षण वह मीरां को देखता रहा। उसके बाद आसन के नीचे मीरां का स्पर्श किये बिना चुपचाप बैठ गया।

धीरे-धीरे मीरां की आँखों का मृत्यु-सूचक ठण्डापन अदृश्य होने लगा और उसके स्थान पर पूर्व की चमक आती हुई दीख पड़ी। परन्तु चमक के साथ-साथ ये अश्रु कैसे ?...एक के बाद एक अश्रु-बिन्दु मीरां की आँखों में से गिरने लगे।

'मीरां ! क्यों रो रही हो ?...बहुत दुःख हो रहा है ? कहो तो मैं यहाँ से चला जाऊँ ?' भोज ने पूछा।

मीरां ने आँखें पोंछ डालीं, और हँसने का प्रयत्न किया। परन्तु उसके मुख पर का विषाद गया नहीं।

'कुमार ! भोज ! नाहक तुमने मेरे साथ विवाह किया...मुझ प्रेतिनी-

जैमी के साथ !...कितना समझाया...कितनी विनती की ?....' मीरां ने उत्तर दिया।

'प्रेत तुम्हारे-जैसा हो, तो मैं सारी प्रेत-सृष्टि को अपना लूँ...और पूछती हो कि मैंने तुम्हारे साथ विवाह क्यों किया ?...देवकन्या के साथ विवाह करने के लिए तो सभी तैयार रहते हैं...परन्तु प्रेत से पाणिग्रहण करने का साहस करनेवाला भी तो कोई चाहिये ?'

'परन्तु ऐसे विवाह से तुमको मिला क्या ?'

'अपूर्व सुहागरात !....ऐसी सुहागरात, जो आजतक किसी भी मानव ने न मनायी होगी !'

मीरां के मुख पर पुनः उदासी छा गयी। जी कड़ा करके मीरां ने भोज की ओर देखा और कहा :

'भोज !...बुरा मान गये ?'

'नहीं ... विचित्र अवश्य लगा .... मेरी धारणा थी कि तुम मुझे चाहने लगोगी।'

'मैं तुमको चाहती हूँ, भोज !....तुम्हारे जैसा पति जन्मजन्मान्तर में भी मिलने का नहीं...परन्तु ऐसा लगता है कि मेरी यह देह किसी अनन्य शोध के लिए सर्जित हुई है,...यदि तुमसे विवाह न किया होता, तो तुमको दूर हटा देती...परन्तु अब ?...'

'अब क्या ?'

'अब पति के रूप में तुमको मेरे इस शरीर पर संपूर्ण अधिकार है... और यह भी मैं देख रही हूँ कि तुमको यह देह बड़ी प्रिय है....मान लो, भोज ! यह देह तुम्हारी ही है....तुमको दुखी बनाकर मैं पाप में पड़ रही हूँ...'

'मीरां ! जिस देह के पीछे तुम्हारी आत्मा न हो, उस देह को लेकर मैं क्या करूँ ?...मैं शव के साथ खेलना नहीं चाहता...जिस दिन देह का साथ हृदय देने को तैयार हो, उस दिन मुझे कहना !' भोज ने निश्चल भाव से उत्तर दिया।

'तुम दूसरा विवाह क्यों नहीं कर लेते।'

'तुम्हारी सलाह के लिए आभार !...इस समय तो एक ही पत्नी काफ़ी है !' हँसकर भोज ने कहा ।

इतना कहकर भोज उठा और उस खण्ड में टहलने लगा । टहलते-टहलते वह एक झरोखे के पास पहुँचा और वहाँ खड़ा हो गया । झरोखे के बाहर नज़र डालते ही चित्तौड़-गढ़ के अन्धकार से ढँके हुए बुर्ज दीख पड़े । इन बुर्जों को उसने गिना । सामने आकाश के एक कोने में से चन्द्र सुहागरात मनानेवाले प्रेमी को देख रहा था । चन्द्र की समझ में न आता था कि इस प्रेमी की सुहागरात को सफल मानना या निष्फल ! चन्द्र को देखकर भोज ने भी उससे यही प्रश्न पूछा । इन दोनों को उत्तर कौन दे ?

नक्षत्रगण हँस रहे थे । प्रकाशमय हास्य तो उनकी सदा की प्रवृत्ति ही है । वे किस बात पर हँसते होंगे ? किसे देखकर हँसते होंगे ?...उनके पीछे था गहन, गहरे रंग का आकाश !...सबका आधार !...भोज नक्षत्रों के पीछे स्थित व्यापक आकाश को देखने लगा । आकाश का रंग कैसा ?.... यकायक भोज की समझ में आया कि मीरां को श्याम रंग क्यों पसन्द है । सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की सारी सृष्टि को उत्पन्न करनेवाली और पुनः समाहित करनेवाली आकाश की गहरी श्यामलता—यही मीरां का अभीष्ट रंग ! रेशम जैसा कोमल ! चमक बिखेरती तेजस्वी उज्ज्वलता से अधिक गहन ! यह विस्तृत और गहन आकाश अपनी कोई मूर्ति बनाए तो ?... कदाचित् वह मीरां के गिरिधरलाल का स्वरूप धारण करे !...और सारे भूतकालीन भारतीय इतिहास के सारस्वरूप कृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम हों तो ?

कृष्ण की मानवदेह तो अदृश्य हो गयी !...परन्तु...वे ही पूर्णपुरुष हों, पुरुषोत्तम हों, नियन्ता हों तो...

तदात्मानं सृजाम्यहम् ।

...सच्ची तल्लीनता को संतोष प्रदान करने के लिए वे अपनी पूर्व की देह धारण करें, तो इसमें अशक्य ही क्या है ?

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

ऐसे कृष्ण की कामना करनेवाली मीरां को भोज में अभी कृष्ण का

पूर्ण आकार दीख न पड़ता था। कैसे मिले? भोज के शरीर का रंग श्याम न था...कृष्ण के रंग जैसा...अद्‌भुत....गूढ़...जिस गुह्यतत्व में से कृष्ण ने अपना आकार उत्पन्न किया था! भोज यह जानता था...केवल रंग ही नहीं, कृष्ण का रूप भी उसमें न था...उसका रूप कदाचित् मानव युवतियों को पसन्द भी आवे, परन्तु कृष्ण की शक्ति वह कहाँ से लावे?....और कृष्ण के समान आत्मज्ञान?...वह भी उसमें नहीं! भोज में अभी यह कहने की शक्ति न थी कि:

भ्रामयन् सर्वभूतानि

अभी तो वह स्वयं अपनी पत्नी के रूप का आस्वाद लेने के लिए उसके चारों ओर कठपुतली की तरह नाच रहा था...उसको न पाकर क्षण भर के लिए विषाद का स्वाद चख चुका था।

अब भोज के चौंकने की बारी आयी। उसके स्कंध ने किसी के कोमल स्पर्श का अनुभव किया। घूमकर उसने देखा तो अपने कंधे पर हाथ रखे हुए मीरां को खड़ी हुई पाया।

'क्या देख रहे हो, भोज!...इतनी देर से यहाँ खड़े खड़े?' मीरां ने पूछा।

'मैं यह देख रहा हूँ कि तुम जिसकी कामना करती हो, वह मैं नहीं हूँ।'

'इसका शोक न करो...तुम जिसकी कामना करते हो, वह मैं बन कर रहूँगी...इसी बात का मैं कब से प्रयत्न कर रही हूँ...'

'यह प्रयत्न मत करो, मीरां! मैं तुम्हारा, तुम्हारी देह का, तुम्हारे हृदय का, तुम्हारी आत्मा का उच्छेद करने के लिए तुम्हारा पति नहीं बना....मेरे लिए उचित है कि यदि पति बनकर तुमको मार्गदर्शन न करा सकूँ, तो कम से कम तुम्हारे मार्ग का अवरोध तो न करूं...मैंने तुम्हारी शर्त पर तुमसे विवाह किया है...अपनी शर्त पर नहीं।'

'वह शर्त भी तुमने उस रात सुनी नहीं...'

'इस समय सुन ली...समझ ली....अब उसे कहने की आवश्यकता नहीं।'

'भोज! मुझे तुमपर बड़ी दया आती है...मैं इस बात का प्रयत्न कर रही हूँ कि तुम्हारी सभी मनोकामना मेरे द्वारा पूरी हो।'

'नहीं, मीरां ! मेरे प्रति दया ज़रा भी मन में न लाओ...तुम जो कर रही हो, उससे मैं ज़रा भी दुखी नहीं....और मैं भी जो कर रहा हूँ, वह भी मुझे प्रिय है...'

'भोज ! तुम इतने महान होगे, इसकी मुझे कभी कल्पना भी न थी...' कहते-कहते मीरां की आँखें अश्रुपूरित हो गयीं।

'मीरां ! विलासी राजपूत को तुम एक नयी शिक्षा दे रही हो। रण में मरनेवाला भले ही वीर कहलाये,...रनिवास में इस प्रकार जो मन को मारे, वह उससे भी कहीं बड़ा वीर !....तुम्हारा साहचर्य मुझे इस महान वीरत्व को प्रदान करेगा...' भोज ने मीरां का स्पर्श किये विना उत्तर दिया।

'अरे, अरे....ओ पुरुष ! तुम्हारे पौरुष को उपवासी रखने का मैं पाप कर रही हूँ....पत्नीत्व स्वीकार कर भी...'

'मीरां ! पुरुष सर्वदा से यह मानता आया है कि विवाह का अर्थ है अविरत पारणा का महोत्सव मनाना ! पारणा का अर्थ उपभोग करना नहीं, किन्तु उपवास का अंत मात्र !....तुमने तो यह बात पहले ही कह दी थी...अनेक रानियों के रूप में अपने को बर्बाद करने के बजाय भले ही एकाध क्षत्रियपुत्र उपवास का मर्म सीखता !'

मीरां भोज को सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखती रही। स्त्री को—अपनी परिणीता पत्नी को सतत उपभोग की चिन्ता में से मुक्त करनेवाला पुरुष-पति पूजनीय बन जाता है।

'तुम दूसरा विवाह क्यों नहीं कर लेते....मैं नहीं चाहती कि तुम विवाहित जीवन के सुख से वंचित रहो....' मीरां ने कहा।

'मीरां ! मेरी चिन्ता न करो। जिस कठिन कार्य को उठाया है, उसे पूरा करो।'

'इसका क्या अर्थ ?'

'यही कि जिसकी शोध तुमने आरंभ की है, उसको प्राप्त करो....गिरिधर जब तुमको मिलेंगे, तब केवल तुम्हीं नहीं, मैं भी गिरिधरमय बन गया होऊँगा...इस प्रकार...गिरिधर में हम और तुम दोनो मिलेंगे...एकरूपता

प्राप्त करेंगे । आजतक के मानवस्वीकृत ढंग से भले ही हम न मिलें...हमारा मिलन अवश्य होगा....एक नये ढंग से ! मीरां ! तुम्हारे इस आध्यात्मिक प्रयास में मैं बाधारूप होना नहीं चाहता...' कहता हुआ भोज झरोखे में से भीतर आया, और शयन-खण्ड के बाहर जाने लगा ।

'कहाँ जाते हो भोज ?'

'मैं ? तुम्हें कदाचित् पता न होगा....राणाजी ने मुझे मेवाड़ की सीमाओं का रक्षण करने की आज्ञा दी है । मध्यरात्रि के बाद मैंने अपने गुप्तचरों को मंत्रणा के लिए बुलाया है...उनसे मिलने जा रहा हूँ...अब तुम सो जाओ...मेरी चिन्ता करना मत...और अपनी भी...'

इतना कहकर भोज शयन-खण्ड के बाहर चला गया । कुछ दास-दासियों ने उसको जाते हुए देखा । जब वह लौटकर आया, तब मीरां गिरिधरलाल के चित्र के सामने ध्यानस्थ बैठी हुई उसे दृष्टिगोचर हुई । भोज के वहाँ आने की मीरां को ज़रा भी ख़बर न हुई । भोज को नींद आ रही थी । उसकी दृष्टि शयनागार के विशाल छत्र-संयुक्त पलंग पर पड़ी । पलंग वहाँ एक ही था, परन्तु उस पर दो जोड़ तकिये रखे हुए थे...दो शयनार्थियों के लिए ! भोज एक जोड़ तकियों को उठाकर पास ही में निर्मित दूसरे आसन पर जाकर सोगया ।

बहुत देर के बाद ध्यान भंग होने पर मीरां ने आसपास देखा । अभी दो घड़ी रात शेष थी । नीचे आसन पर भोज अकेला सो रहा था । उसके पास कोई अन्य सो सके, इतना स्थान उस आसन पर था नहीं । एक कोने में मेवों से भरी हुई—दूध के कटोरों से भरी हुई सुवर्ण की थाली ज्योंकी त्यों पड़ी थी । पलंग की ओर भी मीरां की दृष्टि गयी । दो उन्मत्त और मांसल मानव-देह की प्रेम-केलियाँ देखने को उत्सुक बना हुआ वह पर्यंक खाली पड़ा था । ऐसी सुहागरात दुनिया में क्वचित् ही किसी शयन-खण्ड ने अथवा पर्यंक ने देखी हो ! मीरां भी रात भर जागी थी....परन्तु उसे नींद आयी नहीं । रनिवास तो यह सोचता हुआ सो गया था कि देर से सोये हुए प्रेमी-युगल को जगाने के लिए प्रातःकाल किसी ननद, सखी या दासी को भेजना पड़ेगा । इसके विपरीत उसने मीरां के शयन-खण्ड में से आनेवाले मधुर गीत की स्वर-लहरी सुनी ।

सबेरे स्नान करके प्रभु-पूजनार्थ तैयार होनेवाली मीरां सुहागरात के लिए धारण किये हुए अलंकारों को अपने शरीर पर से एक-एक करके उतारती जाती थी और साथ-साथ गाती जाती थी :

मुझ अबलाने मोटी नीरांत[1] थई सामलो घरेणुं[2]
म्हारे साचूं रे !
वाली[3] घडावुं विट्ठलवर केरी, हार हरिन्ते म्हारे हैये रे;
चित्माळा चतुर्भुज चूडलो,[4] शिद सोनी घेर जैये रे !...मुझ॰
झांझरियाँ जगजीवन केरां, कृष्णजी कल्लां[5] ने कंठी रे;
बिछुआ घुघरा रामनारायण, अणवट अन्तरजामी रे !...मुझ॰
पेटी घडावुं पुरुषोत्तम केरी, त्रिकम नामनुं तालूं रे;
कूंची करावुं करुणानन्द केरी, मांही घरेणुं घालूं रे !....मुझ
सासरवासो[6] सजिने बेठी, कांई हवे नव काचूं रे;
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, हरिना चरणों याचूं रे !...मुझ॰

गहने उतार, स्नान कर, पवित्र श्वेत-वस्त्र धारण किये हुए सूर्योदय के पहले निर्दिष्ट समय पर अपने मन्दिर में प्रभु-सेवा के कार्य में लगी हुई मीरां को जिसने देखा...और सुना, उन सबके हृदय में एक विचित्र प्रकार का खटका हुआ। सुहागरात का स्वाभाविक नशा मीरां की आँखों में दीख न पड़ा। रनिवास को चिन्ता हुई।

और संपूर्ण देह सुख से उद्‌भूत तंद्रा के कारण पर्यंक पर पड़े न रहकर बहुत सवेरे ही भोज घोड़े पर बैठकर कहाँ चला गया ?

रनिवास को पति-पत्नी पर दया आयी ? अथवा उनकी अज्ञानता पर ग्लानि ? कौन जाने ?....कदाचित् दोनों !

---

१ जागीर; सम्पत्ति
२ गहना; आभूषण
३ वाली; नथिया
४ चूड़ी
५ कड़े
६ ससुराल लेजाने का सामान

२

कुटुम्ब में यदि किसी की सुहागरात होने वाली हो, तो उसमें केवल नवपरिणीत दम्पती को ही नहीं, सभी कुटुम्बीजनों को रस रहता है। सवेरे सारे रनिवास में दुख और क्षोभ का वातावरण फैला हुआ था। दासियाँ मुँह चढ़ाकर घूम रही थीं; सखियों के मुख पर उदासीन स्मित था; मीरां की ननद के मुख पर चिन्ता की छाया दीख पड़ती थी, और उसकी सास कर्मदेवी की आँखों से तिरस्कार की वर्षा हो रही थी। सुहागरात की प्रत्यूषवेला में प्रभुकीर्तन ? सो भी इतने सवेरे ? सब को विश्वास हो गया कि मीरां पागल थी; सम्बन्धियों के लाड़-प्यार से नहीं, किन्तु उसके मानस में ही कोई ऐसी विचित्रता भरी हुई थी, जो उसे पत्नी बनने के लिए सर्वथा अयोग्य बनाती थी। मीरां के विषय में बहुत-सी बातें जो सुनने में आयी थीं, वे अब प्रत्यक्षरूप से सम्मुख आने लगीं। कर्मदेवी ने इस विवाह का कितना विरोध किया था ? मीरां के साथ विवाह न करने के लिए उसने माँ-विहीन अपने सौतेले पुत्र भोज को बहुत समझाया था। परन्तु भोज ने कुछ सुना नहीं। सिसोदियों का हठ अटल होता था। विवाह हुआ; वधू चित्तौड़ आयी; सौतेले पुत्र को बुरा न लगे, इस विचार से सास स्वयं दम्पती के साथ कुलदेवी के दर्शनार्थ गयीं। देवी के मन्दिर में इस राठौड़ कन्या ने कैसा विचित्र व्यवहार किया था ? मीरां देवी की मूर्ति की ओर दृष्टि किये हुए देर तक खड़ी ही रही; उसने नमन न किया। कुछ देर तक सास उसका यह व्यवहार देखती रही। अन्त में उससे रहा न गया। वह बोल उठी:

'बहू ! शक्ति को प्रणाम करो। ये सौभाग्यदायिनी शक्ति हैं...इनके पाँव पड़ो।'

'जी !' मीरां ने उत्तर दिया, और मूर्ति की ओर देखने का क्रम जारी रखा। पाँव पड़ने की सास की आज्ञा मानो उसे माननी ही न हो।

'जी तो कहा, परन्तु देख क्या रही हो ?' सास से अपनी आज्ञा की अवहेलना सहन न हुई।

'मैं यह देख रही हूँ कि.... इस शक्ति में...कहीं मेरे गिरिधरलाल दीख पड़ते हैं ? उनके दर्शन हो जायँ तो तुरन्त मैं प्रणाम करूँ...शक्ति में मैं अपने सांवले को खोज रही हूँ।' मीरां ने उत्तर दिया। उसका इस प्रकार का व्यवहार और कथन किसी की समझ में आया नहीं। ऐसे उद्धत व्यवहार पर सास को क्रोध आना स्वाभाविक ही था।

'इसका क्या अर्थ ?...देवी को नमन नहीं करना है, बहू ?...बड़ा अपशकुन...' सास ने ऊँची आवाज़ में कहा।

'इतने ही में मीरां वहाँ घुटनों के बल बैठ गयी और बोल उठी :

'हाँ....हाँ....इस शक्ति में मेरे प्रभु दीख पड़े...जय प्रभु ! गिरिराजधारी कृष्ण !' कहती हुई मीरां ने मूर्ति को प्रणाम किया, और कुछ देर के लिए वह ध्यानस्थ बन गयी। माता की मूर्ति में कृष्ण के दर्शन करनेवाला या तो विक्षिप्त मस्तिष्क का हो, या असत्य बोलने वाला ! और...अन्त में मीरां ने माता को नमन तो नहीं ही किया ! शक्ति की मूर्ति में जब उसे कृष्ण दिखाई पड़े, तभी उसका मस्तक मूर्ति के सामने नत हुआ। सास की आज्ञा का तो उसने उल्लंघन ही किया ! ऐसा व्यवहार करनेवाली बहू सास को अप्रिय लगे, इसमें अस्वाभाविक क्या ? दिल्ली, मालवा, और गुजरात के विजय-व्यूह रचने में व्यस्त रहने वाले संग्रामसिंह से कर्मदेवी ने पुत्र-वधू के उद्धत व्यवहार की सब बातें कहीं; परन्तु राणा को इस बात में कोई गंभीरता न दिखाई दी।

'मीरां अभी छोटी है...पिता के घर से पहली ही बार यहाँ आयी है...घबरा गयी होगी...रहेगी त्यों-त्यों ठीक हो जायगी...चिन्ता का कोई कारण नहीं।' संग्राम ने अपनी पत्नी को समझा दिया।

भूल करने पर शिक्षा मिलना आवश्यक है। महारानी ने मीरां की भूल का पति के सामने इसलिये निवेदन किया कि ये शिक्षा का आदेश देकर मीरां को सुधारें; परन्तु राणा ने इस निवेदन के महत्व को समझा नहीं। उन्होंने शिक्षा के स्थान पर वधू को क्षमा कर दिया। कर्मदेवी का रुधिर खौल उठा। उनके जैसी स्वाभिमानी क्षत्राणी को भक्ति की पामरता पसन्द न आयी। जहाँ-तहाँ गाने लग जाना, वक़्त-बेवक़्त भान भूल

जाना, संसार के व्यवहार में दक्षता न दिखाना, राजवैभव से विरक्त रहना, जहाँ मौज-शौक़ में सम्मिलित होना आवश्यक हो, वहाँ भी उनसे दूर रहना: इस प्रकार का व्यवहार मीरां जैसी भावी महारागी के लिए अशोभनीय था! सुहागरात के अनुभव ने सभी को चिन्तातुर बना दिया था। सब लोग चाहते थे कि भोज और मीरां सुखी हों। परन्तु दोनों के व्यवहार ऐसे थे, जिनसे उनके सुखी होने की कोई आशा न होती थी। जिसने देह धारण की हो, उसे देह-सुख भी आवश्यक है। सौन्दर्य की मूर्ति समान पत्नी सदा मन्दिर में ही बैठी रहे! और पति सदा घोड़े पर या राजसभा के सिंहासन पर ही आसीन रहे! एक दूसरे से वे एकान्त में मिलें नहीं! यदि कभी मिलें, तो स्पर्श भी न करें! यह कैसा दाम्पत्य जीवन?

'भाभी! यह क्या उत्पात मचा रखा है?' एक दिन मीरां को भगवान के शृंगार-कार्य में व्यस्त देखकर उत्तेजित मन से उसकी ननद ने पूछा।

'कैसा उत्पात बहिन?' मीरां ने कहा। यों तो सबके साथ मीरां का व्यवहार बड़ा ही प्रेमपूर्ण होता था।

'पति को रिझा नहीं सकतीं?'

'क्या कुमार ने आपसे कुछ कहा?'

'यही तो दुख की बात है...कभी हँसने का, मज़ाक करने का किसी को भी मौक़ा नहीं देतीं, इसका क्या अर्थ?...इसमें प्रेम कहाँ? प्रसन्नता कहाँ? यह सब तुम क्या करती हो?'

'बहिन! आपके कहने का तात्पर्य मैं समझी नहीं...'

'इसमें न समझने की कौन-सी बात है? ...भाभी! तुम भी कैसी हो?'

'मैं कैसी हूँ?...आपको अच्छी नहीं लगती?'

'अच्छी तो बहुत लगती हो....इसी कारण से तो दुख अधिक लगता है।'

'किस बात का?'

'कहती हो किस बात का!...न कभी अच्छे वस्त्र पहनती हो! न होली पर पिचकारी लेती हो और न दिवाली पर शृंगार सजती हो! ...ऐसा ही था, तो विवाह क्यों किया?'

'मुझसे विवाह करने को मैंने कुमार को मना किया था।'

'अब तो ब्याह हो चुका न ? अब क्या है ?'

'आपके भाई मेरे शरीर को अपवित्र करना नहीं चाहते।'

'शरीर की अपवित्रता कैसी ?...आज तक यह सुनने में नहीं आया कि किसी किशोरी या युवती ने अपने पति के स्पर्श को दूषित, अपवित्र माना हो...एक ओर ससुराल में राणाजी का कुल लज्जित हो रहा है, और नैहर में राठोड़वंश ! लोग क्या कहते हैं, यह जानती हो ? साधु, और कीर्तनकारों को इकट्ठा करती हो...यह कैसी बात है ?'

'मैं क्या कहूँ ?....भोजराज स्वयं आग्रह करते हैं कि प्रभु को समर्पित यह मेरी देह प्रभु के लिए ही सुरक्षित रहे....मैं कभी-कभी उनको याद भी दिलाती हूँ कि पति होने के नाते मेरे शरीर पर उनका अधिकार है...तब भी...और बहिन ! मैं तो आपसे भी कहूँगी कि आप ससुराल न जायँ और व्यर्थ में अपने शरीर को अपवित्र न करें....एक बार मनमोहन से मन लगा कर देखें.......'

'बस बस ! मुझे नहीं सुनना है तुम्हारा उपदेश !...हे भगवान ! मेरे भाग्य में यह भौजाई कहाँ से लिखी थी ?' कहकर तिरस्कार प्रदर्शित करती हुई ननद उठकर वहाँ से चली गयी।

देह का अपवित्र होना ? पति के स्पर्श से देह अपवित्र बन जाय ? सारा सिसोदिया राजमहल चौंक उठा। चित्तौड़ की स्त्रियाँ यदि मीरां का यह पाठ ग्रहण करें, तो मेवाड़ उजड़ जाय ! चित्तौड़ को तो चाहिये शूरवीर, राज-नीति-कुशल और श्रमजीवी सन्तान ! करताल कूटने वाले, मंजीरा पीटने वाले और नाच-गाकर समय बिताने वाले भगतों से चित्तौड़ की शान कैसे रहे ? राणा संग्रामसिंह तो दिल्ली-विजय की तैयारी कर रहे थे। ऐसे समय युवराज्ञी भजन गाती बैठी रहे, तो चित्तौड़ का उत्कर्ष कैसे हो ?....कदाचित् मीरां के प्रभाव में आकर भोजकुमार भजन अलापने वाला भगत न बन जाय ? कोई राजा राज्यासन पर बैठे रहकर भक्त बना है ? भक्त बनना हो, तो राज्य छोड़ना पड़े ! और भोज के बाद...राजगद्दी का अधिकार... तो कर्मदेवी के पुत्र विक्रम का ही है !

कर्मदेवी के मन में क्षणभर के लिए यह विचार-धारा दौड़ गयी। ये

विचार स्वार्थपूर्ण थे। कर्मदेवी ने उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। अपनी माता की मृत्यु के बाद भोज महारानी कर्मदेवी को ही सगी मां के समान मानता था और उनका आदर करता था। कर्मदेवी ने भी उसके साथ सर्वदा सगे पुत्र का-सा व्यवहार किया था। संग्रामसिंह की यह वीर पत्नी अपने पति के शौर्य को सराहती और प्रोत्साहन देती थी। महाराणा की भाँति कर्मदेवी भी महत्वाकांक्षिणी बन गयी थी। उसे भी पति की तरह गुजरात, मालवा और दिल्ली के सिंहासन पर विराजने के स्वप्न आया करते थे। संग्राम को इस तेजस्विनी क्षत्राणी के लिए दिन-प्रति-दिन आकर्षण बढ़ता जाता था। धार्मिक अकर्मण्यता को वह प्रोत्साहन न देती। देवी-देवताओं में उसे श्रद्धा थी; परन्तु सुख छोड़कर, कीर्ति छोड़कर धर्म में प्रवेश करने की उसकी इच्छा न होती थी। उसे युद्ध ईप्सित था; कुशलतापूर्वक युद्ध कर सके, ऐसा पति ईप्सित था; और पति से सवाया पराक्रम करे, ऐसा पुत्र ईप्सित था......चित्तौड़ की इस वीरांगना ने देखा कि जिस युवराज पर सिसोदियों की आशाएँ केन्द्रित थीं, वह एक रसहीन भक्तानी के पाले पड़ गया है!

एक दिन महारानी ने भोज को बुलाकर पूछा :

'तुम्हारे आवास में यह सब क्या चल रहा है?'

'क्या, माँ?'

'तुमको कुछ समझ नहीं पड़ता?...राजमहल में जहाँ वीर सैनिक, राजनीतिज्ञ और गुप्तचरों का आना-जाना अभीष्ट है, वहाँ आजकल साधु-सन्त और फकीरों की ही उपस्थिति दिखाई देती है...झांझ-मंजीरों के स्वर नौबत और डंकों की आवाज़ को दबा देते हैं। महाराणा का जय-घोष कम हो गया है...और 'राधेकृष्ण', 'राधेकृष्ण' के उद्‌गार अधिक सुनायी देते हैं...तुमको लगता है कि यह सब ठीक है?'

'क्या करूँ माँ! एक विचित्र स्त्री से विवाह हो गया है...'

'उसके साथ यदि तुम भी विचित्र बन गये तब? तुम तो चित्तौड़ की गद्दी के उत्तराधिकारी हो...अभी तुमको दिल्ली जीतना है...'

'मैं तो उस काम के लिए सर्वदा तैयार ही हूँ। महाराणा की आज्ञा-

नुसार हाल ही में सरहद के मोर्चों का निरीक्षण करके लौटा हूँ...और मालवा पर आक्रमण करनेवाली सेनाओं का नेतृत्व मेरे ही हाथ में रहेगा।'

'यदि मीरां ना कहे तो ? भक्तों को युद्ध प्रिय नहीं लगते।'

'मीरां तो कहती ही है प्रभु का मन्दिर रण-भूमि से कहीं अधिक वीरत्व माँगता है।'

'मुझे यही डर लगा करता है....कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे हाथ में तलवार की जगह करताल आजाय, और रण-भूमि के बदले तुम मन्दिर में जाकर बैठ जाओ ?'

'माँ ! आप मीरां को क्यों नहीं समझातीं ?...आप माँ हैं।'

'मैंने तो तुम्हारी बहिन को मीरां के पास भेजा था....समझाने के लिए। उससे जाकर पूछो मीरां ने क्या उत्तर दिया ! जिसमें राजकुल की रीति-मर्यादा समझने की बुद्धि नहीं, उसको क्या कहना ?...और क्या समझाना ?'

'बहिन ने वह सब बात मुझसे कही थी।'

'तब सुनकर तुम चुपचाप बैठ रहे ?'

'और करता ही क्या ?'

'दूसरा विवाह करलो...चित्तौड़ के युवराज को राजकुमारियों की कमी नहीं...वह चाहे तो !'

'यह सच कहा, माँ !....यदि वह चाहे तो !' हँसकर उसने मार्मिक उत्तर दिया। भोज को एक पत्नी से अधिक की आवश्यकता नहीं है, यह बात उसके उत्तर से झलक उठती थी।

'तुम्हें पत्नी तो चाहिये न ? मीरां को तुम पत्नी मानते हो ?...या बाष्प की पुतली ? तुम्हारी जगह दूसरा कोई राजस्थानी होता, तो कब का मीरां जैसी पत्नी को दूर कर चुका होता !'

'यही विचार मैं भी कर रहा हूँ, माँ !'

'अच्छा ?...मीरां के विषय में क्या सोच रहे हो ?'

'मीरां को अलग रखूंगा...इस महल से उसे हटा दूँगा....एक छोटा-सा नया महल बन रहा है न ?...वहीं वह रहेगी।'

'किन्तु वह तो तुम्हारे लिए बन रहा है।'

'यों देखो मां! सब मेरा ही है न?...मीरां का मन्दिर अब पूरा होने आया है...पूर्ण होते ही मीरां वहाँ जाकर रहेगी।'

'और तुम? साथ ही जाकर रहोगे न?'

'वह महल मेरे ही लिए बना है न, मां!...यहाँ से कुछ दूर तो है नहीं...और फिर यहाँ आना-जाना और रहना बन्द थोड़े होगा।'

'तुम मीरां को यहाँ से हटा रहे हो...या स्वयं हट रहे हो?'

'मैं किस से हटकर जाऊँ?' हँस कर भोज ने कहा।

'मैं जानती हूँ कि इस भक्तानी ने तेरे ऊपर जादू किया है!...इसी से तुम बहू को अलग रखना चाहते हो?...एक ही महल में दोनों साथ रहकर?'

'पहिले इतना तो करके देखूँ!...सारा राजमहल मुझसे नाखुश है। इस नाखुशी को दूर करने का यह पहला प्रयास...आगे और देख लिया जायगा।'

मां के समझाने का विचित्र परिणाम आया। एक पृथक् महल निर्मित हुआ युवराज के लिए, परन्तु वह बन गया मीरां का मन्दिर! भोज और मीरां के निवास के लिए निर्मित राजप्रासाद भक्त और भजन गाने वालों की धर्मशाला बनने लगा। इधर कुछ समय से भोज के मन में मीरां के व्यवहार के प्रति उदासीनता आ गयी थी—मीरां के प्रति नहीं। मीरां के किसी भी काम में वह दखल न देता। एक दिन ऐसा आया, जब भोज को मीरां से अलग होना पड़ा।

'मीरां! कुछ महीने मुझे चित्तौड़ से बाहर रहना पड़ेगा।' भोज ने कहा।

'क्यों?'...तुम चले जाओगे, तो चित्तौड़ मेरे लिए सूना हो जायगा।' प्रभुमूर्ति के लिए कुसुम-शृंगार की व्यवस्था करने में लगी हुई मीरां ने आश्चर्य का अनुभव करते हुए उत्तर दिया।

'तुम्हारे हृदय में–तुम्हारे जीवन में ये गिरिधरलाल तो बसे ही हैं। लोगों की धारणा है कि तुमको मेरी और चित्तौड़ की...किसी की आवश्यकता नहीं।'

'कुमार ! इन गिरिधरलाल की शपथ लेकर कहती हूँ कि तुम्हारी मुझे बड़ी ही आवश्यकता है...कदाचित् चित्तौड़ की न भी हो तो ।'

'मेरी तुम्हें क्या आवश्यकता है ?...लोग यह प्रश्न मुझसे भी पूछते हैं ।'

'तुम्हारे जैसा आदर्श पति—पत्नी को सच्चा मार्गदर्शन करानेवाला पति मुझे न मिला होता तो...गिरिधारी को प्राप्त करने के लिए मुझे न जाने कितने जन्म लेने पड़ते !'

'तुम्हें तो विश्वास है न कि तुम्हारे गिरिधरलाल तुमको इसी जन्म में मिलेंगे ?' हँसकर भोज ने पूछा ।

'हाँ । उनको मिले बिना मरना नहीं है, कुमार !...तुम्हारे जैसा पति मिला है, यही इस बात का प्रमाण है...बाल्यावस्था में दादा मिले; यौवन में तुम....मेरा यह परमभाग्य मुझे प्रभु के पास अवश्य ले जा रहा है ।'

'तुम्हारे विषय में क्या क्या कहा जा रहा है, यह तुम जानती हो ?.... और प्रभु मिलते-मिलते तो और न जाने क्या-क्या कहा जायगा ?'

'और तुम्हारे विषय में क्या-कहा जाता है, यह जानते हो ? यह तुम्हें समझने की बात है...मैं तो जो कुछ भी मेरे या तुम्हारे विषय में कहा जाता है, उसे प्रभु के ध्यान में भूल जाती हूँ...परन्तु तुम्हारा कौन-सा आधार है ?' मीरां बोली, उसके मुख पर शोक की छाया आ गयी थी ।

'मेरा आधार तुम, मीरां ! प्रभु मिलें तब......मेरे लिए भी कुछ माँग लेना ।'

'तुम्हें पता नहीं कुमार ! कि मैं भगवान से तुम्हारे लिए क्या माँगतीहूँ ?'

'बताओ, क्या माँगती हो ?'

'मीरां से अधिक रूपवती और अधिक संतोष देनेवाली पत्नी तुमको प्राप्त हो !'

'तुम भी सबके षड्यंत्र में शामिल हो ?'

'षड्यंत्र का तो मुझे पता नहीं । परन्तु...एक पत्नी के रूप में अपात्र बनी हुई मैं तुम्हारे स्त्री-सुख की तो आकांक्षिणी अवश्य हूँ !'

'स्त्री-सुख की बात करती हो ?...मीरां ! आज तो मैं तुमसे भी विदा लेने आया हूँ।'

'मुझसे ?...मुझे छोड़कर जाने का संदेशा कहने आये हो ?....कुमार! मुझे कुछ न चाहिये....चाहिये केवल एक गिरिधारी की मूर्ति, और....उस मूर्ति में लीन होने की सुविधा प्रदान करने वाला कुमार भोज...मुझे कभी छोड़ना मत !'

'मैं मालवा पर आक्रमण करने जा रहा हूँ...इसी समय...भरे दरबार में मैंने वहाँ के सुल्तान को क़ैदी बनाकर यहाँ पकड़ लाने का बीड़ा उठाया है...एक ही प्रश्न मुझे चिन्तित बनाता है...तुम अकेली का यहाँ क्या होगा ?' भोज ने अपनी चिन्ता व्यक्त की।

मीरां के मानस को समझकर उसका रक्षण करनेवाला सारे राजमहल में भोज अकेला ही था, और मीरां इस बात को अच्छी तरह समझती थी। भोज की सहानुभूति उसे प्राप्त न होती, तो उसका जीवन बड़ा ही कष्टमय हो जाता। कदाचित् उसकी जीवन-लीला ही समाप्त कर दी गयी होती ! और यदि वह जीवित छोड़ भी दी जाती, तो उसे चित्तौड़ से भाग जाना पड़ता। यदि भोज न होता तो आठों पहर गिरिधारी की अविच्छिन्न भक्ति में लीन रह कर प्रत्येक क्षण उनका सान्निध्य प्राप्त करनेवाली मीरां को भक्ति का ऐसा शान्तिमय समय न मिला होता।

परन्तु...यह शान्तिमय भक्ति...भोज का आश्रय पाकर कहीं ठंडी न हो जाय ! कदाचित् प्रभु ही भोज को युद्ध में भेज कर मीरां की भक्ति को कसौटी पर कसते हों !....किसने जाना ?

'तब, कुमार ! मेरी चिन्ता छोड़ दो, और अपना प्रण पूरा करके मुझे यह कहने का अवसर दो कि मीरां की भक्ति ने भोज के वीरत्व को कम नहीं किया. अच्छा, खुशी से जाओ....इन गिरिधारी ने मुझे बांध न लिया होता तो मैं भी तुम्हारे साथ आती।' मीरां ने कहा।

'राठोड़ सब मेरे साथ में हैं।'

'कौन कौन ?'

'दूदाजी आ रहे हैं...तुम्हारे पिता और चाचा भी....साथ में तुम्हारा भाई जयमल भी रहेगा।'

'अच्छा।'

'दूदाजी और जयमल तो कब के आगे कूच बोल चुके हैं....वे सीधे मालवा की सरहद पर पहुँच गये होंगे।'

'दादाजी भी जा रहे हैं ?....वे तो बहुत वृद्ध हो गये हैं।'

'वृद्ध ? युद्ध के रणांगण में सभी जवान हैं !....विशेष करके क्षत्रियों में, और ये मेड़तिया राठोड़ तो हमारे भीष्म पितामह हैं....अभी भी तलवार के नाम से उनके मुख पर लालिमा दौड़ जाती है। मीरां ! मैं क्या बताऊँ ?.... तलवार के सामने दूदाजी ऐसे दीख पड़ते हैं, जैसी तुम भगवान गिरिधरलाल की आरती करते समय देदीप्यमान दिखाई देती हो।'

मीरां हँसने लगी। मौत का आलिंगन करना और उसे भुलाना मौत है। मुक्ति का मार्ग तो न होगा ? परमभक्त दूदाजी, जो चींटी को भी कष्ट में देख कर कराह उठते हैं तथा जिनके नेत्रों में से करुणा का अखूट स्रोत सर्वदा बहा करता है, वे तलवार देखकर इतने प्रसन्न हो जाते हैं ? मृत्यु कौन-सी स्थिति होगी ?—यह जानने की इच्छा कई बार मीरां के मन में उठा करती थी। उसके गिरिधरलाल तो जीवन-दायक बनकर रहते थे। तब मौत कैसी होगी ? उसको देनेवाला कौन ? किस अर्थ ? मृत्यु की आवश्यकता ही क्या ? युद्ध का अर्थ ही मृत्यु का मन्दिर ! परन्तु साथ ही साथ यश और अपयश का भी वही धाम है !

मीरां किस बात पर हँसी ? युद्ध...भक्ति....मृत्यु....अथवा किस पर !

'मीरां ! तुमको हँसती हुई मैं फिर कब देखूँगा ?' जाते-जाते मीरां की ओर देखकर भोज ने पूछा।

'कुमार ! तुम जब लौटोगे, तब मुझे इसी प्रकार हँसते हुए पाओगे।'

'इसका विश्वास कैसे हो ?'

'मैं अपने प्रभु से मृत्यु को पहिचानने की प्रार्थना करती हूँ...तुमने युद्ध में मृत्यु को जीता होगा; मैं अपने हृदय में उस पर विजय प्राप्त करूँगी

....लौटकर आओ और हँसती हुई मुझे देखो, तो समझ लेना कि मृत्यु को मैंने जीत लिया !'

'मीरां ! तुमने क्या-क्या जीतने के लिए जन्म लिया है ?'

'यह जीवन मिला है....अकस्मात् मिला हो, अथवा किसी की इच्छित योजना के अन्तर्गत !...इस जीवन को जीतना है...मुझे....और तुमको भी, भोज !'

'जीवन में क्या-क्या जीता ?'

'तुमको जीत लिया, यह मेरी सब से बड़ी जीत !....मैंने लग्न को जीता; अब मौत को जीतूँगी। बस, इतना हो जाय, तो समझ लेना कि मैं सारा जीवन जीत गयी।'

'तब तुम्हारे गिरिवरलाल का स्थान कहाँ रहेगा ?'

'देखो, भोज ! तुम्हारे जैसा व्यक्ति ऐसा प्रश्न करे ?....अरे, वे तो सर्वत्र विद्यमान ही रहेंगे....वे जहाँ न हों, वहाँ मृत्यु का भी अस्तित्व न रहे।'

क्षण भर मीरां और भोज एक दूसरे की ओर देखते रहे। ऐसा लगता था, मानो परस्पर की मनोव्यथा को समझने का प्रयत्न करते हों ! इसके बाद भोज वहाँ से चला गया....हृदय में एक महती चिन्ता को साथ लेकर ! ....मीरां को अकेली छोड़ने का अर्थ था उसे अग्निज्वाला में फेंकना ! इस विचित्र युवती से विवाह करना भोज को रोमांचक लगा था। परन्तु विवाह के बाद मीरां की प्रवृत्ति उसे और भी रोमांचक लगी, और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उसको विश्वास होता गया कि इस प्रवृत्ति के विषय में पूर्ण सावधान रहना पड़ेगा। मीरां के नैहर में सभी उसकी विचित्रता का पोषण करनेवाले थे; परन्तु चित्तौड़ में उसका पोषण करनेवाला अकेला भोज ही था। उसने अच्छी तरह समझकर मीरां से लग्न किया था। इस लग्न ने मीरां में संपूर्ण स्त्री-सौन्दर्य का दर्शन कराया था, परन्तु उस सौन्दर्य का आस्वादन उसे कराया नहीं। इतना अवश्य था कि सामान्य परिणीत पतियों को स्त्री-हृदय के जिस अलौकिक स्वैर-विहार को देखने का अवसर नहीं मिलता, वह भोज को सतत मिला करता था। संयोग-संभोग

में जो रोमांच उसे मिलता, उससे कहीं अधिक रोमांच उसे प्राप्त होता, मीरां के इस स्वैर-विहार को देखकर !

परन्तु इस रोमांच में भी वह इस बात को कभी न भूल जाता कि पतिरूप में वह मीरां का शिरच्छत्र है। मीरां को अकेली छोड़कर जाते समय उसके ऊपर का छत्र बंद हो रहा था। एक आधार बिना की युवती के पागलपन को सहन करने का जो संतोष उसे मिलता था, वह उसे मिलेगा नहीं। इस बात का उसे दुःख हो रहा था। मीरां के कारण वह चित्तौड़ से बाहर बहुत कम जाता था, और अपने पिता की दिग्विजय-योजनाओं में वह आवश्यकता से अधिक भाग न लेता था। परन्तु आज तो भरे-दरबार में पान-बीड़ा घूमा, मालवा के सुल्तान को जीवित पकड़ लाने के लिए ! महाराणा संग्राम का युवराज ही यदि बीड़ा न उठाए, तो औरों से साहस की आशा कैसे की जाय ?

और मीरा से विवाह करने के बाद भोज के शौर्य और साहस धीरे-धीरे कम हो रहे थे, यह बात भी हुआ करती थी। यह सम्भव न था कि इस प्रकार की चर्चा भोज के कान तक न आयी हो। मालवा के सुल्तान को पकड़ने का बीड़ा अन्य कोई वीर उठा ले, इसके पहिले ही भोज ने उसे उठा लिया। बीड़ा उठाते ही सारा दरबार इस साहसिक युवक की ओर आश्चर्य से देखने लगा। राजकवि ने शीघ्र ही प्रशस्ति का पाठ किया। कवि की वाणी ने राजकुमार के ओजस को और भी बढ़ाया, और भोज मेवाड़ के पुराने शत्रु को पकड़ कर बन्दी बनाकर मेवाड़ के सिंहासन के सामने ले आने के लिए कटिबद्ध हुआ।

चिन्ता मात्र उसे एक ही थी: मीरां एकाकिनी हो जायगी कोई उसकी विचित्रता को समझेगा नहीं, और उसको दारुण दुख होगा।

मीरां ने भोज के मानसिक बोझ को हल्का किया। हँसते मुख से पुनर्मिलन का अश्वासन दिया। यद्यपि भोज को पूर्ण संतोष तो न हुआ तथापि मीरां की अनुमति पाकर वह रणक्षेत्र की ओर चल पड़ा। राणा संग्रामसिंह की धाक सर्वत्र फैल रही थी; वीररस से ओत-प्रोत बना हुआ मेवाड़ी सेनानी युद्ध के लिए उतावला हो रहा था। चारों ओर से मेवाड़

घेर लिया जाय, तब भी मेवाड़ की सेना में इतनी शक्ति थी कि वह घेरा तोड़ कर अपना मार्ग बना ले। विजय की कल्पना मानसिक ऊर्मियों को तेज बनाती है। मेवाड़ी सेना में इस समय विश्व-विजय करने का मानसिक बल आ गया था। मेवाड़ के रणवाद्य बजते ही गुजरात, मालवा और दिल्ली तीनों कांपने लगते! इन तीनों मुस्लिम राज्यों के बीच में स्थित होने पर भी चित्तौड़ अपनी शक्ति से उन सबके लिए भयप्रद हो रहा था। उस समय केवल दिल्ली ही एक समृद्धिशाली नगर नहीं था; मालवा का मांडवगढ़ और गुजरात का अहमदाबाद भी समृद्धि और शोभा में दिल्ली की समानता करते थे। दिल्ली के सुल्तानों की कीर्ति कम हो रही थी। इब्राहीम लोदी का संग्रामसिंह से दो बार मुकाबला हुआ और दोनों में वह हार गया। एक युद्ध में तो दिल्ली का शाहज़ादा संग्राम द्वारा पकड़ कर क़ैदी बनाया गया था। इस प्रकार बार-बार दिल्ली को नीचा दिखानेवाला संग्राम चाहे तो अन्त में उसे अपने आधीन बनाले, इस बात की पूरी संभावना थी। परन्तु संग्राम को इस विषय में कोई जल्दी न थी। इस समय तो मेवाड़ और गुजरात के बीच ईडर की राजगद्दी के विषय में विवाद चल रहा था। इतने में समाचार मिला कि राणा के मित्र और सरदार मेदिनीराय को मालवा की सेना ने घेर लिया है। इस घेरे को तोड़ कर मालवा के सुल्तान महम्मद को जीवित पकड़ ले आने का कार्य भोज ने अपने ऊपर लिया। परिस्थिति ऐसी थी कि भोज एक क्षण का भी विलंब कर नहीं सकता था। उसके लिए सेना को साथ लेकर तुरन्त बढ़ना आवश्यक था। मालवा के युद्ध के लिए भोज का श्वसुर पक्ष पहिले से ही तैयार था; भक्तराज दूदाजी तो संग्रामसिंह के सभी युद्धों में आगे रहा करते थे। दिल्ली के सुल्तान को जब संग्राम ने हराया, उस समय भी दूदाजी राणा के साथ ही थे। उस वृद्ध महानवीर ने चित्तौड़पति को सूचित कर दिया था कि जब कभी राणा या सिसोदिया राजकुमार रणभूमि के लिए प्रस्थान करें, तब दूदाजी का स्थान अपने साथ ही रखें।

भोज ने शीघ्र ही अपनी सेना के साथ मालवा की ओर प्रस्थान किया। मेवाड़ की वाहिनी जब चित्तौड़ से चली, तब मकान और महलों के झरोखे

वीर क्षत्राणियों से भर गये। भोज सेना के आगे था। उसका नाचता हुआ अश्व जब मीरां के महल के पास से जाने लगा, तब भोज ने देखा कि झरोखे में से मीरां की दृष्टि उसी पर लगी हुई थी। एक क्षण के लिए दोनों की दृष्टि भी मिली। मीरां ने अपनी अंजलि में लिये हुए पुष्पों की भोज पर वर्षा की, और वेगवान अश्व तेज़ी से आगे बढ़ गया। इस विचित्र प्रेम-प्रदर्शन को देखकर सैनिकों को आश्चर्य हुआ। भक्ति में सदा लीन रहने वाली मीरां पत्नी के रूप में भोज को संतुष्ट नहीं कर सकी थी, यह बात अब चित्तौड़ में काफ़ी फ़ैल गयी थी; यद्यपि भोज ने कभी इस दुःख की चर्चा किसी के आगे की हो, यह जानने में नहीं आया था; परन्तु इस संसार में न जाने कितने पति-पत्नी के जोड़े इस प्रकार का असामान्य जीवन व्यतीत करते होंगे? नयी जीवन-साधना में लगे हुए पति-पत्नी को कभी-कभी समाज के निश्चित किये हुए व्यवहारों का तिरस्कार करके नये जीवन-प्रयोग करने पड़ते हैं।

युद्ध में जाने वाले के लिए केवल एक ही प्रयोग रहता है—युद्ध-विजय का! बाकी प्रयोग उसे भूलने पड़ते हैं। रण-वाद्य के उन्मादक घोष में रण-भूमि की ओर जाने वाला चित्तौड़ का युवराज आगे बढ़ा। उसे एक ही वस्तु की धुन थी—शत्रु से भयंकर युद्ध करना और उसे पराजित करना! अन्य इच्छाओं को पूरी करने का इस समय अवकाश न था। थोड़ा सो लेना तथा भूख-प्यास को किसी अंश में शान्त करना, इतना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त और किसी काम को करने का अवकाश ही न मिलता। पिता ने तो दिल्ली के सुल्तान को रणभूमि से केवल भगा दिया था; भोज को तो मालवा के शासक को केवल भगाना ही न था; उसे जीवित पकड़कर चित्तौड़ ले आना था! इसलिए भोज को अधिक सतर्कता से काम लेना था, और अधिक कड़ा युद्ध-व्यूह रचना था। मेवाड़ी सैन्य की कूच के समाचार मालवा के सुल्तान के कान तक न पहुँचें, यह असम्भव था। मालवा में भी युद्ध की पूरी तैयारी हो चुकी थी। भोज को यह भी समाचार मिल चुके थे कि इस युद्ध में गुजरात मालवा को पूरी मदद देगा, और इस सद्भावना के प्रतीक रूप भारी सैनिक कुमक मालवा में पहुँच भी

गयी थी। उसके गुप्तचरों ने यह भी खबर दी थी कि मेदिनीराय को मालवा की सेना के घेरे में से मुक्त करने के लिए निकली हुई मेवाड़ी सेना को गुजरात और मालवा की सेनाएँ बीच ही में रोक लें, ऐसी योजना भी बन चुकी थी। मालवा और गुजरात की सरहद जहाँ मेवाड़ से मिलती थी, ऐसे एक स्थान पर सैन्य सहित भोज ने पड़ाव डाला। रात्रि के समय मेवाड़ी सेना के अग्रणी वीर एक छोटे से तंबू में मंत्रणा के लिए एकत्र हुए।

'भक्तराज ! आपका पहिनाया हुआ सोने का जंतर अभी तक मेरे गले में है।' हँसकर भोज ने अपने बालपन में दूदाजी द्वारा भेंटरूप दिये गये सुवर्णहार का उनको स्मरण कराया।

'तब तो विजय आपकी ही समझिए।' दूदाजी ने कहा।

पहाड़ियों के पीछे सैन्यदल पड़ाव डालकर पड़ा था। दुश्मनों की ओर से कहीं यकायक हमला न हो जाय, इस बात की सतर्कता रखने के लिए रक्षकगण और गुप्तचर अपने-अपने काम पर नियुक्त कर दिये गये थे। चारों ओर कड़ा पहरा था। तंबू के बाहर रक्षक नंगी तलवार लिए हुए घूम रहे थे। साधारणतः अनावश्यक लगनेवाली यह रक्षा-व्यवस्था सतर्कता की दृष्टि से अनिवार्य थी। रात्रि का अन्धकार इस वातावरण को और भी भयंकर बना रहा था। दूर-दूर सैनिकों के लिए जलाये गये अलाव ऐसे लग रहे थे, मानों भूतों द्वारा प्रकटायी हुई अग्निशिखाएँ हों ! यह भी समाचार मिला कि शत्रु का सैन्य पास ही में पड़ा है, अतः कदाचित् वह रात में ही छापा मारें, इस बात की भी संभावना थी।

'परन्तु...हमें तो सुल्तान को जीवित पकड़ना है !' रत्नसिंह—मीरां के पिता ने कहा।

'हम सबको नहीं, केवल मुझे !' भोज ने कहा।

'युद्ध में सैनिक सेनापतिमय बन जाते हैं, कुमार !' वीरमदेव ने कहा।

'मैं सुल्तान महम्मद को अच्छी तरह से पहचानता हूँ...शाही निशान भी उसके साथ होंगे ही....तिस पर भी कुमार ध्यान में रखें कि जिस ओर मैं धँस जाऊँ, उसी ओर सुल्तान होगा, यह विश्वास करके आप भी उसी

और बढ़ते आएँ....अन्य पार्श्ववाले अपना-अपना काम संभाल लेंगे ।' दूदाजी ने भोज को समझाया ।

'इस वृद्धावस्था में आपको शाही टुकड़ी के सामने भेजकर संकट में डालना, हमारे लिए लज्जा की बात होगी ।' भोज ने कहा ।

'वय और संकट में संबंध ही क्या ?...सम्बन्ध हो भी, तब भी एक बात तो निश्चित है—ज्यों-ज्यों आदमी का वय बढ़ता है, त्यों-त्यों वह मृत्यु के अधिक निकट पहुँचता है......प्रकृति का यही क्रम है । प्रकृति के क्रमानुसार अपने व्यूह की आप रचना करें ।' दूदाजी बोले ।

'आप तो शिविर में ही विराजें !..,और आवश्यकतानुसार सूचनाएँ देते रहें ।....'

'ये मेरे युवा साथी तेजल और विजल मुझे ध्यान-धारणा में बैठे देख-देख कर दुःखी हो गये हैं....मुझे उनको बता देना है कि युद्ध में भी मैं ध्यान-भंग नहीं करता !' दूदाजी ने कहा ।

'रावजी ! इस बात का तो हमें पूर्ण विश्वास है ।' तेजल बोल उठा ।

'अच्छा, तब मैं, तेजल और विजल तीनों आदमी किसी व्यूह विशेष में सम्मिलित नहीं होंगे...आवश्यकतानुसार समाचार पहुँचाएँगे, अथवा युद्ध में शामिल हो जायेंगे ।'' दूदाजी ने अपने लिए स्वतंत्र कार्य करने की सम्मति माग ली ।

मालवा और गुजरात की सेना, जितना सोचा था उससे कहीं अधिक सज्जित और निकट थी । भोज ने परिस्थिति को समझ लिया, और तुरन्त आक्रमण करने का निश्चय किया । 'हर हर महादेव' और 'जय एकलिंग' की गर्जना के साथ मेवाड़ी सेना मालवा की सेना पर टूट पड़ी । सुल्तान महम्मद भी युद्ध के लिए तैयार था । दोनों सेनाएँ मृत्यु के भुजपाश में लिपट गयीं; उनमें से एक भी पीछे हटने को तैयार न थी । मनुष्य ने किस किस के लिए युद्ध नहीं किये ? भोजन, स्त्री, भूमि, धन, प्रतिष्ठा, धर्म, स्वार्थ, परमार्थ, इन सबके नाम पर भयंकर कत्लेआम किये गये, और अभिमानी मानव अपने ही बान्धवों का हनन करके हर्ष से घूमता रहा है । युद्ध का खेल प्रारंभ करके उसे अधूरा नहीं छोड़ा जा सकता । भोज अपने सैन्य के

सभी भागों का निरीक्षण करता हुआ आगे ही रहा। उसकी उपस्थिति के कारण राजपूत सैनिक अपने जीवन की बाजी लगाकर लड़ रहे थे। सूर्य तपने लगा....तप तप कर वह थक गया, परन्तु न थके घमासान युद्ध करने वाले वीर सैनिक! सूर्य पश्चिम की ओर ढलने लगा। युद्ध अधिक उग्र बनता गया। यह लग रहा था कि दोनों सैन्य इस बात के लिए अधीर थे कि रात्रि का अन्धकार युद्ध-भूमि पर फैले, इसके पहले ही युद्ध का निर्णय हो जाना चाहिये।

भोज का शौर्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। उसके आस-पास मृत्यु का भयंकर ताण्डव हो रहा था। दूर से घोड़े को दौड़ाते हुए वहाँ पहुँच कर विजल ने पूछा :

'कुमार! थक गये हो?'

'मैं?...थकूँ? जब तक सुल्तान को पकड़ न लूँ, तब तक मेरा शरीर थक नहीं सकता!' भोज ने उत्तर दिया। युद्ध-क्षेत्र में वीरों को बोलने का भी अवकाश नहीं मिलता। उनकी वाणी का आवागमन ढाल-तलवार और तीर-भालों के बीच से होता है....और कभी-कभी तो वह अर्ध-उच्चारित ही रह जाती है।

'तब, कुमार! लो यह मज़बूत रस्सी दूदाजी ने भेजी है। वे सुल्तान को दूसरी ओर से ढकेलते हुए आपकी ओर ले आ रहे हैं वह! देखा आपने सुल्तान का हाथी? रस्सी फेंक कर सुल्तान को नीचे गिरा दीजिए; तुरन्त ही हमारी विजय दुंदुभी बज उठेगी।' विजल ने कहा।

'ऐसी बात?...तब लाओ रस्सी...हाँ हाँ....दीख पड़ा सुल्तान का हाथी...अब तो विजय भरा क़दम ही आगे बढ़ेगा...दूसरी ओर क्या हो रहा है?' भोज ने लड़ते लड़ते रज्जु को हाथ में ले लिया, और घोड़े को आगे बढ़ाते हुए कहा।

'सब जगह इसी प्रकार हो रहा है...मालवीयों ने भयंकर युद्ध किया... सुल्तान को नीचे गिरा दें तो बस!...' इतना कहता हुआ विजल सैनिकों की भीड़ में खो गया। भोज के एक ओर बीरमदेव और दूसरी ओर रत्नसिंह के अश्व कूद रहे थे। वे छाया की भांति भोज के साथ थे। भोज का अश्व

एक क़दम आगे बढ़े, उसके साथ ही वीरभदेव और रत्नसिंह के अश्व भी एक क़दम आगे बढ़ जाते। चुनिन्दे वीरों की टुकड़ी भोज को घेरकर युद्ध कर रही थी। सारी मेवाड़ी सेना का एक ही ध्येय था—युवराज की प्रतिज्ञा का पालन कराना! सभी सेनानी एक ही लक्ष्य से युद्ध का संचालन कर रहे थे—वह यह कि विजय मिलने में भले ही कुछ देर हो, किन्तु मालवा का सुल्तान अवश्य जीवित पकड़ा जाना चाहिए। सुल्तान का हाथी धँसा आ रहा था। राजपूत सैन्य के बढ़ाव को रोकने के लिए मानो कोई आकाशव्यापी लहर उठकर आ रही हो! एक क्षण के लिए राजपूत सैन्य की वज्रभित्ति में दरार पड़ी और हाथी को आगे बढ़ने का मार्ग मिला।

इतने ही में पार्श्ववर्ती एक घोड़े पर से विद्युत्वेग से एक रेशमी रज्जु उड़ी, और उसने खुले हौदे में बैठे हुए सुल्तान की कवचसज्ज देह को वज्र-लेप की भाँति बाँध लिया। सुल्तान चौंक उठा—इस अकल्पित शस्त्र के उपयोग से! उसका यदि हाथी पर से अपने स्थान से पतन हो, तो मालवी सेना हतोत्साह हो जाय और सारी बाज़ी पलट जाय, यह विचार सुल्तान के मस्तिष्क में दौड़ गया। वह कुछ अधिक सोच सके, इसके पहले ही रस्सी ने उसको खींचा, और देखते ही देखते हाथी के शरीर पर से लुढ़कता हुआ सुल्तान नीचे ज़मीन पर आ गिरा। उसके अंगरक्षक भौंचक्के रह गये। महावत ने सतर्कता से काम लेकर हाथी की गति धीमी कर दी और उसे भोज के अश्व की ओर मोड़ा। हाथी अश्व पर टूट पड़ा। इस आक्रमण से घोड़ा चौंका और दो पैर से खड़े होकर उसने मुक़ाबला करने का प्रयत्न किया। परन्तु हाथी के वेग और बल के सामने वह टिक न सका। अन्त में घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। भोज भी घोड़े के साथ धराशायी हुआ, परन्तु हाथ में की रज्जु उसने छोड़ी नहीं। गिरने के साथ ही वह उठ खड़ा हुआ, और मज़बूती से पकड़ी हुई रज्जु को उसने ज़ोर से खींचा। सुल्तान के हाथी और भोज के अश्व के चारों ओर भयंकर युद्ध चल रहा था। यका-यक राजपूत सैन्य में विजय-दुन्दुभी बजी और 'जय एकलिंग' की गर्जना होने लगी। यवन सेना में भगदड़ मच गई। सायंकाल की छाया पृथ्वी पर फैलने लग गई थी, यद्यपि अभी गाढ़ अन्धकार न हुआ था। रज्जुपाश में

बाँधकर खींचा जानेवाला सुल्तान महम्मद गिरता-पड़ता भोज के सामने आया। भोज ने उसको उठने का अवकाश दिया और कहा:

'सुल्तान ! अब आप मेरे क़ैदी हैं।" कहते हुए भोज ने बन्धन को कुछ ढीला किया।

'अभी देर है तेरे हाथ क़ैदी बनने की, छोकरे!' कहकर सुल्तान ने बन्धन ढीले होने का लाभ लिया, और अपनी कमर पर लटकती हुई दुधारी तलवार खींचकर बिजली की त्वरा से उसका एक भयंकर प्रहार भोज के ऊपर किया। सारी राजपूत सेना के श्वास रुक गये। सबको लगा कि बन्दी बने हुए सुल्तान का यह प्रहार भोज के दो टुकड़े कर डालेगा।

परन्तु परम आश्चर्य के बीच लोगों ने देखा कि भोज की जगह, प्रहार दूदाजी के शरीर पर पड़ा, और उस वृद्ध महावीर की देह भूमि पर गिरती हुई नज़र आयी। तेजल और विजल ने दौड़कर दूदाजी को पकड़ लिया और उन्हें ज़मीन पर लिटा दिया। लेटते ही दूदाजी के मुख से शब्दोच्चार हुआ:

'राधेकृष्ण !'

तेजल और विजल की आँखों से खून बरसने लगा। यह विजय कैसी, जिसमें दूदाजी जैसे महावीर की देह गिरे ? भोज तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। उसकी समझ में न आया कि उसे मारने के लिए उठी हुई बिजली की-सी तलवार के नीचे बिजली की त्वरा से भी अधिक वेग के साथ दूदाजी ने अपने शरीर को कैसे डाल दिया ? जब भोज को ही यह बात समझ में न आई, तब अन्य सैनिकों के लिए तो उसे समझना अशक्य था। भोज को यकायक मीरां का ख़याल आया। दूदाजी को—मीरां के परम प्रिय दादाजी को इस प्रकार मृत्यु के मुख में छोड़कर वह मीरां को कैसे अपना मुँह दिखाएगा ? वीरम और रत्नसिंह विजयिनी मेवाड़ी सेना को साथ में लेकर सुल्तान के सैन्य को बिखेर रहे थे। उनको दूदाजी के घायल होने के समाचार पहुँचाये गये। सुल्तान के उन्मत्त बने हुए हाथी के पैरों में लौह-शृंखलाएँ डालने के साहसिक कार्य में संलग्न जयमल को भी खबर लगी कि उसके प्रिय दादाजी मृत्यु-शैया पर पड़े हैं। सबको लगा कि सुल्तान का यह

आघात केवल दूदाजी पर ही न पड़ा, बल्कि सारे राजपूत सैन्य पर पड़ा था। रस्सी में बँधे हुए सुल्तान को भी आश्चर्य हुआ। उसने कुछ निराशा का अनुभव किया। परन्तु यह जान कर उसे संतोष हुआ कि यद्यपि संग्राम का पुत्र बच गया, तथापि उसकी शमशीर ने संग्राम के एक वयोवृद्ध मित्र और राजस्थान के एक महान् वीर को अपना भोग बनाया...और इस प्रकार उसका प्रहार विफल नहीं हुआ।

युद्ध बंद हो चुका था। केवल कुछ टुकड़ियाँ मालवी सेना को बिखेरकर भगा देने का काम कर रही थीं। सुल्तान के विश्वासघात ने राजपूत सेनापतियों को क्रूर बना दिया था। उन्होंने एकत्र होकर यह निर्णय किया कि विश्वासघाती सुल्तान का शिरच्छेद इसी रणभूमि पर किया जाय। मशालें जलने लगीं, और सारा सैन्यदल दूदाजी के चारों ओर एकत्र हो गया। मशालों के प्रकाश पड़ने से दूदाजी ने आँखें खोलीं और पूछा:

'क्या हुआ तेजल ?'

'आपको गहरा घाव लगा है....'

'हाँ हाँ, याद आया...भोजकुमार तो बच गये न ?'

'जी हाँ।'

'बस....तो अब जय के वाद्य बजने दो...और सुल्तान को बन्दी बनाकर राणाजी के सामने उपस्थित करो।' दूदाजी ने कहा और बैठने का एक निष्फल प्रयास किया।

'सुल्तान को तो...तो...' पास ही में खड़े हुए वीरमदेव अपना वाक्य पूरा न कर सके।

'सुल्तान को क्या किया ?' बीच ही में चौंक कर दूदाजी ने पूछा। उनको याद आ गया कि सुल्तान के किये हुए आघात से वे घायल हुए थे।

'सुल्तान को तो अपना मस्तक यहीं उतार कर देना होगा...आपके समक्ष...यही सबका मत है...' विजल ने उत्तर दिया।

'अरे, अरे ! यह कैसे हो सकता है ? भोजकुमार को बुलाओ....और सुल्तान को भी ले आओ।' दूदाजी ने कहा।

भोज दौड़कर दूदाजी के पास पहुँच गया। सुल्तान भी उनके सामने खड़ा किया गया। दूदाजी अनुभव कर रहे थे कि क्षण-क्षण में मृत्यु उनके अधिक निकट आ रही थी। और लोगों को भी यही अनुभव हो रहा था। दूदाजी की इस परिस्थिति को देखकर भोज के हृदय में अकथ्य वेदना हो रही थी—मानो उसी ने दूदाजी का वध किया हो।

'कुमार !' दूदाजी ने भोज को अपने पास बैठाकर कहा।

'जी।'

'सुल्तान का वध न हो।'

'आपको तो उसी ने ज़ख्मी किया....'

'मुझे तो जो कुछ होना था, हो गया...परन्तु सुल्तान की तो राजदेह है...अवध्य है...एक कारण...और दूसरा यह कि युद्ध में पकड़े गये छोटे-बड़े किसी सैनिक का वध नहीं होता....वह तो हमारे रक्षण का अधिकारी है....'

'परन्तु आपके इस भयंकर ज़ख्म का बदला...'

'बदला ?...युद्ध करनेवाले वीर के लिए एक ही बदला ...विजय अथवा आघात ! ...'

मैं मीरां को क्या उत्तर दूँगा ?'

'मीरां ?....हाँ...वह मेरी बेटी है...कभी माँगेगी नहीं। कुमार !... और यदि उत्तर माँगे तो कह देना कि मैं उसके सौभाग्य की रक्षा करके जा रहा हूँ...'

'मैं कौन सा मुख लेकर उसके सामने जाऊँगा ? दादाजी का नाम तो अहर्निश उसकी जिह्वा पर रहता है....'

'क्या बात करते हो, कुमार ? मीरां को भी मृत्यु को पहचानना पड़ेगा। वीर को और भक्त को मृत्यु का भय क्या ?....यह देखो...प्रभु मुझे मृत्यु का रूप धारण करके भेटने आये हैं....जितनी देर होगी उतना ही प्रभु का वियोग...'

तेजल और विजल की आँखें आँसू से भर गयीं। वीरम और रत्नसिंह

ने भी मुख फेर लिये। भोज भी रो पड़ा। दूदाजी की अन्तिम घड़ी का विचार आते ही एकत्र सारा समुदाय शोकमग्न हो गया।

'अरे, तेजल! विजल! राजपूत के बालक हो...आँखों में ये आँसू क्यों? ...आयुधानामहं वज्रः...सुल्तान के हाथ में मेरे पुत्र वज्र बनकर आये...भूतानामन्त एव च....अन्त भी प्रभु का रूप है, यह क्यों भूल जाते हो?....विजय दुंदुभी के बीच मृत्यु आ रही है...पुनर्जन्म होगा, तो फिर से यही काम करूँगा...नहीं होगा तो....प्रभु के पंचभूतों में...जिसका जो अंश होगा. वह ले लेगा...'

तदेव मे दर्शय देव रूपम्
प्रसीद देवेश जगन्निवास।

गीता के श्लोक बोलते बोलते इस वृद्ध महावीर ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। थोड़ी देर पहिले जहाँ वीरों की गर्जनाएँ हो रही थीं, वहाँ अब श्मशान की नीरवता फैल रही थी। लोगों ने देखा कि दूदाजी की आत्मा उनके शरीर को धीरे धीरे छोड़ रही है; परन्तु प्राणघातक आघात और रुधिर-प्रवाह की कोई वेदना दूदाजी के मुखपर दीख न पड़ी। दूदाजी का हृदय प्रभु में लीन बन गया था। यकायक दूदाजी के नेत्र खुले और उनके मुख पर स्मित देख पड़ा।

'रावजी! कुछ कहना है?' विजल ने पूछा।

'हाँ....प्रभुने मीरां को मेरी आँख के सामने लाकर बैठा दिया है...' कुछ हँसकर दूदाजी बोले।

अन्तिम समय में उनको मीरां का ध्यान हो, इसमें आश्चर्य ही क्या?

'मीरां को बुलाना है?'

'नहीं नहीं...उसके आने तक....देह नहीं टिकेगी...प्रभु की जैसी मर्जी....'

'उसे कुछ कहलाना है?'

'क्या कहलाऊँ?...उस बालाजोगन को...बाल बैरागन को?... प्रभु सदा उसके सामने विराजते हैं....माँ बिना की....पाल-पोसकर बड़ी होने वाली...मेरी बेटी को...जरा भी दुःख न होने पावे...मेरी एक आँख में

प्रभु हैं....दूसरी में मीरां। उसे...मीरां को...जय श्रीकृष्ण....!' वाक्य पूरा भी न होने पाया था कि कृष्ण का नामोच्चार करते-करते दूदाजी की देह प्राण विहीन बन गयी।

सबकी आँखों में रुके हुए अश्रु निर्बाध बहने लगे। मरते मरते भी उसको जीवन-दान देनेवाले भक्तराज महावीर दूदाजी को मरे हुए देखकर सुल्तान का हृदय भी रोने लगा। यदि सुल्तान ने वह अन्तिम आघात न किया होता, तो आज उसे एक सुप्रसिद्ध वीर और सन्त की मैत्री प्राप्त करने का सुअवसर मिला होता! सुल्तान महम्मद ने एक सन्त की हत्या की...तिस पर भी वह बन्दी बनने से अपने को बचा न सका...क़ैद में से छूटने के अनेक उपाय....परन्तु राजपूतों ने उसे यहीं क़त्ल कर दिया होता तो? बन्दी बनकर सुल्तान ने शमशीर से वार किया था! राजपूत चाहते तो उसके शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालते....बिना किसी संकोच के... परन्तु उसका जीवन बचाया इस वीर सन्त ने ...जिस वीर सन्त पर उसने प्राणघातक प्रहार किया!...'अनल हक़' का उद्‌गार निकालनेवाले सूफ़ी मन्सूर का बलिदान उसे याद आया। सुल्तान ने देखा कि काफ़िरों में भी सन्त और वीर पुरुष हुआ करते हैं।

कौन बड़ा? तख़्तनशीन सुल्तान, या राख रमाने वाला दरवेश?

दूदाजी की देह रणभूमि में ही राख बन गयी।

भोज के शरीर में यकायक अकथ्य वेदना होने लगी। छोटे-छोटे व्रण तो उसके शरीर पर अनेक थे...युद्ध करने वाले वीरों को ऐसे व्रणों की परवाह नहीं रहती। व्रण-चिन्ह तो वीरों के चन्द्रक माने जाते हैं! एकाध क्षण तो भोज को ऐसा लगा मानों उसे मृत्यु का दारुण दुख हो रहा है! उसने मन को कड़ा करके स्थिर किया। युद्ध-विजेता को विजय के समय अपनी देह के दुःख की चर्चा करना उचित नहीं। वीर दुःख को भी अपने वश में कर लेते हैं। भोज ने अपने देह कष्ट पर भी तात्कालिक विजय प्राप्त की। सुल्तान के हाथी के साथ जूझ कर गिरने वाले भोज के अश्व ने भोज को कितना चूर कर दिया था, यह बात उस समय जान पड़ी नहीं, परन्तु

ज्यों ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उसके शरीर की पीड़ा बढ़ती गयी। इस पीड़ा को तो भोज ने अपने वश में कर लिया परन्तु उसके हृदय के अन्दर उठने वाली भयंकर व्यथा उसके मन को उद्वेलित करने लगी।

क्या युद्ध, संहार और रुधिर प्रवाह के बिना मानव अपनी जीवन-व्यवस्था नहीं रच सकता ?

मीरां का प्रभाव !

क्या मीरां भोज को भी भक्त बना देगी ?

क्या एक वीर क्षत्रिय मृत्यु-भीरु भक्त बन सकता है ?

किसने कहा कि भक्त भीरु होता है ? हहर-हहर जलने वाली दूदाजी की चिता की प्रत्येक चिनगारी पुकार कर कह रही थी कि भीरु कभी भक्त बन नहीं सकता। वीरों को भी वीरत्व का पाठ पढ़ाने वाले का नाम भक्त !

नहीं तो भोज का उच्छेद करने के लिए तलवार को वृद्ध दूदाजी अपनी देह पर कैसे ले लेते ? युवा जयमल को दूदाजी के बलिदान में एक राठोड़-परम्परा के दर्शन हुए !

~ ३ ~

मानवों की राजनीति का अन्त युद्ध क्षेत्र में लड़कर उसकी जय-पराजय में होता है, न ?

उस हार-जीत के बाद भी उसका अन्त कहाँ आता है ? हारनेवाले के मन में रहनेवाली कसक उसको पुनः युद्ध के लिए उद्यत करती है... और कभी कभी वह जीत भी जाता है !...जीतनेवाले की विजयलिप्सा बढ़ती ही जाती है, और वह अधिक विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है...और अधिक विजय की तृष्णा कभी कभी उसे पराजय के द्वार पर ले जाती है !......इस प्रकार न विजय का ही अन्त आता है, और न हार का ही !

हिन्द की भूमि तो हिन्दुओं की ! गांधारवासी, शक, पह्लव, पारसी

ये सब एक समय के हिन्दू, भले ही वे बुद्ध की पूजा करें, शंकर की पूजा करें, अग्नि, सूर्य, नन्दी या गाय की पूजा करें ! उनको इस्लाम ने मुसलमान बनाया, और ये ही प्राचीनकाल के हिन्दू पठान, अफगान, बलूच अथवा ईरानी बनकर हिन्द को इस्लाम के छत्र के नीचे ले आने का प्रयत्न करते हैं...और रणक्षेत्र में उनको विजय भी मिलती है...हिन्द हिन्दुओं का देश न रहकर मुसलमानों का देश बन जाता है !

चौहानों की दिल्ली आज सुल्तान लोदी की दिल्ली कही जाती है ! सोलंकी वंश के हिन्दू वघेलों का गुजरात आज जाट मुसलमानों का कहा जाता है ! विक्रम भोज का मालव देश आज सुल्तान महम्मद के झंडे की वंदना करता है ! सिंध के सुमरा क्षत्रिय खुले आम मुसलमान बन गये। अपना हिन्दुत्व बचाने के लिए हिन्दुओं को कांगड़ा, गढ़वाल, कुमायूं और नेपाल में भागकर हिमालय की शरण लेनी पड़ी, और वहीं वे हिन्दू रह सके। सारे पंजाब में इस्लाम का विजय-डंका बजा, और प्रजा ने इस विजय को स्वीकार कर लिया। एक ब्राह्मण के आशीर्वाद से हसन गंगू ने दक्षिण में एक राज्य की स्थापना की—एक मुसलमानी राज्य ! यही परिस्थिति गौड़ बंगाल में खड़ी हुई !

हाँ ! इस प्रवाह को रोकने के लिए कहीं कहीं हिन्दू भी प्रयत्न कर रहे थे। दक्षिण में विजयनगर राज्य हिन्दुत्व की रक्षा के प्रयत्न में लगा था ! उत्तर में राजस्थान मुसलमानी घेरे को तोड़ रहा था...संग्रामसिंह हिन्दू-साम्राज्य के स्वप्न देख रहा था...दिल्ली का सुल्तान हारा और रण-भूमि छोड़कर भाग गया, मालवा का सुल्तान बन्दी बना। ऐसा ही एक प्रहार गुजरात पर हो, तो हिमालय से विन्ध्य तक का प्रदेश चित्तौड़ के शिवध्वज के नीचे आ जाय....फिर रहा दक्षिण का प्रश्न !...परन्तु कहीं ऐसा न हो कि विजयी विजयनगर और विजयी मेवाड़ एक दूसरे के सामने आकर आँख गुरेरते खड़े हो जायं ?

हिन्दू हिन्दुओं के विरुद्ध लड़ते आये हैं...किस युग में ऐसा नहीं हुआ ?....हिन्दुओं का परस्पर का वैमनस्य पुनः मुसलमानों को बल प्रदान

करे !...और मुसलमानों की सहायता के लिए तो हिन्द के बाहर महान इस्लामी ताक़त खड़ी हुई थी।

परन्तु इस्लाम ने भी तो इस्लाम का मुक़ाबला किया है! यदि ऐसा न होता, तो हिन्द में ही इतने पृथक् पृथक् मुसलमानी राज्यों की स्थापना कैसे होती ?

कैसी आश्चर्यजनक समस्या थी ? वास्तविक परिस्थिति समझ में नहीं आती। क्या वास्तव में एक धर्म दूसरे धर्म के विरुद्ध लड़ता है ? या एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध ? अथवा मानव ही मानव का दुश्मन बनता है ?

सच्चा युद्ध कहाँ रचा जाता है ? युद्ध की भूमि पर, या मानव की हृदय-स्थली पर ? यदि हृदय के रणक्षेत्र में विजय मिले, तभी मानवों के युद्धक्षेत्र-कुरुक्षेत्र सच्चे धर्मक्षेत्र बन सकते हैं, मानव-संहार माँगनेवाले क़त्ल-खानों में सच्चे मन्दिर-मस्जिद की स्थापना हो सकती है, अथवा मन्दिर की बनावटी मूर्ति के स्थान पर और मस्जिद के खाली स्थान में, दोनों स्थानों में सच्चे प्रभु के दर्शन हो सकते हैं।

'बाबा ! यदि मैं मुसलमान बन जाऊँ तो ?' साधु कृष्णाचरण ने सांईं से पूछा।

दूर सुदूर क्षितिज पर चित्तौड़ का किला आकाश से बातें करता हुआ नज़र आ रहा था। एक विशाल वृक्ष की सघन छाया में वृद्ध मुसलमान सांईं सादुल्ला और सुन्दर युवा साधु कृष्णाचरण बैठे थे। बीच-बीच में वे आपस में बातें भी करते जाते थे। इसी सांईं के साथ कृष्णाचरण मेड़ता से चला गया था। इस सांईं ने सारी दुनिया की यात्रा की थी, और अन्त में लौटकर वह राजस्थान आया था। यहाँ रोहिदास के स्थान के पास एक तकिये की स्थापना करके वहीं रहता था।

'तुम मुसलमान बन जाओ, इससे इस्लाम को क्या लाभ ?' सांईं ने पूछा।

'इस्लाम को कोई लाभ न हो......मुझे तो होगा न ?'

'यह धुन तुम्हारे मन में कहाँ से आयी ?'

'शास्त्र, ज्ञान, जप, तप, योग...सब में खोजा...शान्ति कहीं मिलती नहीं।'

'तब तुम्हारा यह खयाल है कि जो वस्तु तुम्हारे धर्म ने नहीं दी, वह दूसरा धर्म देगा ?'

'कदाचित् !....प्रयत्न करने में क्या हर्ज है ?...जहाँ से मिले वहीं से सत्य प्राप्त करूँ !'

'इस्लाम धर्म को तो तुमने समझ लिया है...'

'जी हाँ...आप ही ने तो समझाया है।'

'तुमको विश्वास हो गया होगा कि इस्लाम परियों और हूरों की मजलिस जमाकर ऐश-आराम देनेवाला धर्म नहीं। उसमें भी फ़ाकाकशी करनी पड़ती है....उपवास करने पड़ते हैं; ईद मनाई जाती है....उत्सव मनाये जाते हैं; स्नान करना पड़ता है...वज़ू करना पड़ता है; आसन है, ध्यान है; धारणा, समाधि है...भक्ति की मस्ती है...इश्के हक़ीक़ी है !'

'कभी-कभी ऐसा होता है कि नाम का आवरण हटा दें, तो सत्य जल्दी समझ में आ जाय...मुझे मुस्लिम धर्म, मुस्लिम जीवन और मुस्लिम ज़बान में रहने वाली तीव्रता के प्रति श्रद्धा होने लगी है....इस प्रकार की तीव्रता कदाचित् सत्य के दर्शन मुझे जल्दी करा दे।' कृष्णचरण ने कहा।

'तीव्रता में लक्ष्य को चूक जाने का भी भय रहता है, यह भूलना मत ! हम मुसलमान मूर्ति और मन्दिर तोड़ते ही जाते हैं, और तुम्हारा हिन्दू समाज मूर्ति और मन्दिर बराबर स्थापित करता जाता है...यों तो मूर्ति का खण्डन करते वक़्त मूर्ति कुछ बोलती नहीं....परन्तु तुम तो कहते हो कि मूर्ति मीरां के साथ बात भी करती है...तब सत्य क्या है ?'

'मैंने मूर्ति को भी मनाने का प्रयत्न किया, जप किये, योग की भी साधना की...परन्तु दृष्टि खाली की खाली ही रहती है...सत्य के दर्शन होते नहीं।'

'जिस तरह नमाज़ के वक़्त हमारी दृष्टि खाली रहती है उसी तरह !' हँसकर सांईं ने कहा।

'आपको इस्लाम के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यों हो रही है ?'

'अश्रद्धा नहीं हो रही है। सच्चे इस्लाम को ज्यों-ज्यों मैं समझता जाता हूँ, त्यों त्यों मुझे लगता है कि...मेरा मूलधर्म भी सच्चा ही था।

'मूल धर्म ?...कौन-सा ?...आप पहिले ख्रिस्ती थे ?...अथवा आतिश-परस्त ईरानी ?'

'मैं हिन्दू था....हिन्दू धर्म मेरा मूल धर्म था...यह कहूँ, तो तुम्हें आश्चर्य तो न होगा ?'

'अवश्य होगा....आपने तो धर्म परिवर्तन किया...तब मुझे क्यों अपना धर्म छोड़ने की मनाही करते हैं ?'

'कारण है...मुझे सत्य के दर्शन हुए, धर्मपरिवर्तन किया...तब मुझे सत्य जल्दी दिखाई नहीं पड़ता, और जहाँ तक मेरा खयाल है, वहाँ तक तो इस्लामी सत्य हिन्दुओं के सत्य से पृथक् नहीं ! मुझे तो कबीरजी की वाणी सच्ची लग रही है। सब धर्म डूबने वाले हैं। जीवित रहेगा मात्र धर्मज्ञ : वह किसी भी धर्म को मानने वाला क्यों न हो !' चित्तौड़ के चमकने वाले क़िले की ओर ध्यान से देखते हुए साईं ने कहा...मानो उस क़िले में से धीरे-धीरे सत्य का प्रकाश निकल रहा हो !

'यह सब आपको चित्तौड़ बता रहा है ?'

'हाँ...आज हिन्दुस्तान की हवा में सर्वत्र लिखे हुए इन अक्षरों को मैं पढ़ रहा हूँ।'

'मेरा तो यह विचार है कि आज सायंकाल मैं चित्तौड़ जाकर मीरां से मिलूँ, और उसके मिलने से बाद जब लौटकर आऊँ, तब आप जहाँ कहो अजमेर या दिल्ली जाकर इस्लाम धर्म की दीक्षा ले लूँ।...हिन्दुओं के कर्मकांड जटिल—जंजाल रूप बन गये हैं, उनका ज्ञान आकाश जैसा खाली है, और वाह रे इस्लाम !....एक प्रभु, एक पैगम्बर और एक धर्म का कैसा त्रिवेणी-प्रवाह !'

'शिया और सुन्नियों के भेद की तुमको खबर है न ?...अच्छा...मैं ज़रा आराम कर लूँ...तुम इच्छानुसार चित्तौड़ हो आओ....परन्तु क्या मीरां तुमसे मिलेगी ?...भाई ! यह न भूलना की वह तो चित्तौड़ की भावी महारानी है।'

'मैंने सुना है कि उसके महल में साधु-सन्त और सांई-फ़क़ीरों को जाने

की छूट है...और मुझे विश्वास है कि मुझसे मिलने की वह ना न कहेगी... सच पूछिये तो उसके मिलने तक ही मैं हिन्दू रहूँगा...'

'हो सकता है...परन्तु मेरी तो धारणा है कि उससे मिलने के बाद भी तुम हिन्दू ही रहोगे...खैर...तुम्हें जो ठीक लगे सो करना...कल रात तक मैं तुम्हारा आसरा देखूँगा...तुम लौट कर नहीं आओगे, तो मैं यहाँ से चला जाऊँगा...' कहते हुए सांई ने एक कम्बल बिछाया और उस पर लेट गये। कुछ क्षण बाद एक दूसरा कम्बल शरीर पर ओढ़कर वे सो गये।

कृष्णचरण बैठा ही रह गया। यही सांई उसे मीरां के पास से हटा ले गया था! वही आज मीरां से मिलने का आग्रह करके चित्तौड़गढ़ के कंगूरों का दर्शन करा रहा है! धूप में चित्तौड़गढ़ के कंगूरे तप रहे थे!.... अधिक तप्त कौन होगा? धूप में तपनेवाला चित्तौड़गढ़ अथवा वृक्षों की शीतल छाया में बैठा हुआ साधु कृष्णचरण? स्थान की शीतलता साधु के हृदय को ज़रा भी शीतल न बना सकी। कृष्णचरण का हृदय संपूर्ण रीति से तप्त था; हृदय के एक अणु में भी शीतलता का नाम न था।

रोहिदास ने उसे भक्तिमय वातावरण में पाल-पोस कर बड़ा किया; उसके हृदय में भक्ति को पुष्ट करने के लिए उसे विद्वान शास्त्रियों के पास भेजकर ज्ञान की शिक्षा भी दिलायी। संगीत ने उसके ज्ञान और भक्ति को मधुर बनाया, और मीरां का सान्निध्य पाकर सारा जगत उसे सुन्दर मालूम होने लगा...इस मधुर सौन्दर्य में जो एक प्रकार का अपनापन लगने लगा, और मीरां पर किसी दूसरे का सहज भी प्रभाव न हो, यह उसके लिए असह्य बनता जाता था!....आखिर मीरां किसकी?

यह प्रश्न ही क्यों? मीरां पर उसका अधिकार ही क्या? मीरां के साथ उसका क्या संबंध? वह तो एक आश्रितमात्र था मीरां के कुटुम्बी-जनों का। यह उनका सुसंस्कार था, विवेक था कि उन्होंने कभी उसे अपनी वास्तविक परिस्थिति का भान न कराया, न किसी और पर उस परिस्थिति को ज़ाहिर किया।....यह बात सत्य थी...परन्तु कृष्णचरण इस बात को कैसे भूल सकता था कि वह उनका देवपूजक—आश्रित-मात्र ही है।

मीरां उसकी आँखों को प्रिय लगती थी। उसका आकार, उसका हलन-चलन, उसके वस्त्राभूषण, वाणी, गीत और पूजन—इन सबमें कृष्ण-चरण को स्वर्ग के दर्शन होते थे। क्या वह वास्तव में साधु था, अथवा स्त्रियों की कामना करनेवाला एक विषयी संसारी? परंतु...क्या प्रभु स्त्रीरूप में दर्शन नहीं दे सकते? कृष्ण भगवान अवश्य। कृष्ण की मूर्ति ही भगवान की मूर्ति! परन्तु...क्या ऐसा तो नहीं था कि कृष्णमय बनने की इच्छा रखनेवाली मीरां अपने कृष्णार्पण द्वारा साधु कृष्णचरण को भी उन्हीं भगवान कृष्ण की ओर खींच ले जाती हो?

परन्तु कृष्णचरण ऐसा अज्ञानी नहीं था कि वह भक्ति और वासना के भेद को न परख सके। दिन प्रति दिन उसे ऐसा अनुभव होने लगा था कि उसकी दृष्टि मीरां की कृष्णमयता की ओर आकर्षित न होकर मीरां के देह-सौन्दर्य की ओर आकर्षित हो रही है। कृष्ण और मीरां एक न बनकर विभिन्न बनते जाते थे, और उन दोनों में मीरां के प्रति उसका अनुराग अधिक बढ़ता जाता था। प्रारम्भ में उसने सोचा कि कदाचित् मीरां के प्रति यह अनुराग धीरे-धीरे उसे मीरां की तरफ़ से हटाकर कृष्ण की ओर ले जाय; परंतु यह विचार भ्रमात्मक निकला। उसको यह स्पष्ट रूप से लगा कि समग्र मीरां से हटकर उसका ध्यान मीरां के अंग-प्रत्यंगों में सन्निहित होने लगा है।...और मीरां का सौन्दर्य दिन प्रति दिन अधिक विकसित होने लगा था। मीरां की आँखें, उसका मुख, कंठ, हलन-चलन, शरीर की भाव-भंगिमा कृष्णचरण की कल्पना में एक नयी सौन्दर्यसृष्टि की रचना करते। मीरां का सान्निध्य उसे प्रिय लगता। मीरां का नाम सुन कर उसके हृदय में कंप होने लगता। कृष्ण उससे दूर होते चले, और कृष्ण के स्थान पर मीरां का रूप उसके अधिक निकट आने लगा। बहुत बार ऐसा होता कि कृष्ण की मूर्ति को आभूषण पहिनाते हुए, उसकी आरती उतारते हुए और भजन गाते हुए, सारी कृष्णमूर्ति बदल जाती और उसके स्थान पर मीरां का रूप दीख पड़ता।

कृष्णचरण ने सोचा कि भले ही भगवान मीरां का स्वरूप धारण करके उसे दर्शन दें, इसमें हर्ज ही क्या? परन्तु उसका यह संतोष भ्रमा-

त्मक निकला। रात्रि के समय स्वप्न में मीरां की सुन्दर देहलतिका दीख पड़ती और उसके मन को क्षुब्ध बना देती। मीरां का बार-बार स्वप्न में आना यह भक्ति का प्रादुर्भाव या विकास नहीं था, किन्तु स्त्री की कामना को संतोष करने के लिए उठी हुई यौवन की भयंकर अग्नि-ज्वाला थी, यह उसको प्रतीत होने लगा। इस बात का विचार आते ही वह चौंक पड़ा! यौवन को, यौवन की वासनाओं को, यौवनजनित सर्व प्रकार के सुख को प्रभुसेवा में समर्पित कर देना, इसी का नाम भक्ति! स्त्री, संतान, सत्ता और वैभव, इन सब को प्रभुचरण पर निछावर कर देने की क्षमता प्राप्त करना, इसी का नाम भक्ति! परन्तु...कृष्णचरण की भक्ति में तो कृष्ण के स्थान पर बार-बार मीरां के दर्शन होते थे...वह भी मीरां की समग्र आकृति नहीं, मीरां के विविध अंग...और इन अंगों का सौन्दर्य मन को विह्वल बना देता....और....कभी-कभी तो ऐसी इच्छा होती कि वस्त्रों से आच्छादित यह अंग-सौन्दर्य अपना आवरण हटा दे, और प्रकृति के दिए हुए नैसर्गिक सौन्दर्य का दर्शन कराए! ऐक्य में आवरण न होना चाहिये; ऐक्यसाधन के मार्ग में वस्त्र का अवरोध भी न चाहिए। परन्तु...यह क्या? कौन-सी भावना में वह बहा जाता था?...प्रभु की ओर खींच ले जानेवाली कोई असाधारण आध्यात्मिक भावना? अथवा उसके हृदय में बसी हुई सामान्य मानवता को स्त्री की ओर, संतान की ओर, संसार की ओर खींचती हुई और महती आध्यात्मिकता से नीचे गिराती हुई कोई प्रबल पशुभावना?

यह पशुभाव क्यों? प्रभु के उत्पन्न किये हुए सर्ग, सर्जन, उत्पत्ति के शृंगार भाव को पशुभाव कहकर उसकी निन्दा क्यों करनी? यह कैसे कहा जाय कि इस मार्ग का—संसार के मार्ग का अवलम्बन करके मानव कभी प्रभु पद नहीं पा सकता? सारी सजीव सृष्टि के पीछे यही महान भाव छिपा रहता है। सजीव सृष्टि ही क्यों? जड़ दीख पड़ने वाली सृष्टि में भी यही भाव न भरा होगा, यह निश्चित रीति से कौन कह सकता है? प्रभुमय विश्व में जड़ और चेतन का भेद कभी हो नहीं सकता। मानव कदाचित् अपनी दृष्टिमर्यादा के कारण इस भेद को देखता हो, अथवा...यह भेद प्रभुमय द्रव्य के विकास क्रम का एक रूप हो! जड़ वस्तु में शृंगार नहीं

होता, यह कहने वाले की दृष्टि यथार्थ को देखती नहीं। पुरुष और प्रकृति के आद्य अगु सर्वव्यापक हैं। सांख्य क्या कहता है? वही आकर्षण! वही भक्ति! वही जीवन! वही मुक्ति!

परन्तु मानव क्या प्रकट करता है? जो सर्जन अपना विस्तार करते करते मानवी वार्धक्य को ले आये, मृत्यु को ले आये, उसको कैसे सच्चा सर्जन कहना? मनुष्य द्वारा अपनाया हुआ सर्जन क्रम क्या उत्पन्न करता है? अपनी पुनरावृत्ति—अपनी संख्या का अनियंत्रित वार्धक्य? और मृत्यु की आग को सतत प्रज्ज्वलित रखने वाली मानवी लकड़ियाँ?...अथवा इन दोनों को ताल ठोक कर ललकारने वाला कोई आध्यात्मिक मल्ल? कृष्णचरण ने ऐसे बहुत से मानव देखे थे—स्त्री और पुरुष—जिनका वार्धक्य स्वर्ग की धवलता को पृथ्वी पर ले आने वाली भस्माच्छादित शिवजटा नहीं, किन्तु भस्म बनने के लिए अग्रसर होने वाली देह को निगलने के लिए खुला हुआ कालमुख था! उनके मृत्यु प्रफुल्ल हृदय से मारी हुई मुक्ति की छलांग नहीं, अपितु अनिच्छित, अपरिहार्य, चिता के अन्दर बलात् सुलगनेवाली भयंकर खींच होती है।

परन्तु मीरां के सौन्दर्य को देखकर कौन कहेगा कि शृंगार निष्फल हुआ है?....फिर वही मीरां की याद?....क्या कृष्णचरण के मन पर उसी का—मीरां की याद का साम्राज्य था?...क्या मीरां कभी वृद्ध न होगी? कभी मृत्यु के कराल गाल में न जायगी?....अरे अरे!...ऐसे अपशकुन विचारने का कार्य तो किसी भस्म रमाने वाले साधु या अघोरी को सौंप देना चाहिये...कृष्णचरण तो भक्त था। प्रभु के रसरूप को आनन्दस्वरूप को—खोजने निकला हुआ आध्यात्मिक मार्ग का प्रवासी था।

भागवत ने कृष्ण-गोपी के रास का वर्णन किया....जयदेव की अष्टपदी ने राधाकृष्ण की एकता के सुरों को भारतव्यापी बनाया...और जयदेव पद्मावती की जोड़ी? पद्मा जैसी मीरां का सान्निध्य मिले तो क्या कृष्णचरण जयदेव की अष्टपदी से भी अधिक सुन्दर पदों की रचना न कर सकेगा?

मीरां को पृथक् ही रखना ठीक है।...परन्तु देवी बिना, देव की संपूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती, ऋषि-पत्नी बिना ऋषि भी अपूर्ण ही रहते हैं।

पुरुष प्रकृति के आकर्षण में, नर-नारी के सम्मिलन में विश्वशक्ति ने किसी मुक्तिमार्ग का निर्माण किया हो तो ?...भक्तिमार्ग स्त्री का तिरस्कार नहीं करता। भक्तिमार्ग के प्रभु तो अपनी लाड़िलीजी के बिना रह ही नहीं सकते। यह कैसे कहा जाय कि स्त्री की कामना में रत रहनेवाली कृष्णचरण की आत्मा सच्चे मार्ग पर नहीं जा रही है ?

और मीरां ही वह स्त्री हो तो ?....अन्य कोई नहीं !

भीख माँगने वाला कृष्णचरण ! उसे राठौड़ राजकुमारी मीरां चाहिये ! सब विचारों का अन्त मीरां में ! सब कल्पनाओं का केन्द्र मीरां में ! जो जो भाव उद्भवित हों, उन सब का पर्यवसान भी मीरां में ! मीरां में सर्व प्रकार से केन्द्रित होने वाला जीवन ही तो सच्चा भक्तिमार्ग न होगा ?.... अथवा उसके पतन के लिए कामदेव ने कोई जाल तो न फैलाया होगा ? कृष्णचरण की देह और मन सतत संतप्त रहने लगे। वह रात्रि में शान्ति से सो भी न सकता था। स्वप्न में आकर मीरां उसे जगा देती। इस यातना से छुटकारा पाने के लिए उसने देहकष्ट, तपश्चर्या, ध्यान और हठ योग के अनेक प्रयोगों का आश्रय लिया। वह उपवास करता; आसन, प्राणायाम और ध्यान में जी लगाता; मीरां की ओर दृष्टि न डालने का निश्चय करता; गीता और ब्रह्मसूत्र का पाठ करता; तथा इन्द्रियों पर कड़ा निग्रह रखता... इतना करने पर भी...अपने आस-पास इतनी क़िलेबन्दी करने पर भी... पुष्प के सुवास सरीखी मीरां की स्मृति इस अभेद्य रक्षापंक्ति को तोड़ कर उसके मन में घुस जाती।

असहायता का अनुभव करनेवाले कृष्णचरण ने अन्त में राठौड़ नरेश के राजमहल से विदा मांगी। मीरां, भक्ति में तल्लीन रहनेवाली मीरां, आख़िर मानव देहधारिणी थी, मानव भाव को परखने की शक्ति रखनेवाली थी...और उसकी देह ने भी न जाने कितनी उग्र तपस्या की हो ? दूर रहने की इच्छा प्रदर्शित करनेवाले कृष्णचरण को उसने दूर जाने की सम्मति दी : परन्तु वह मेड़ता के ही अन्दर...ग्राम की सीमा पर स्थित सरोवर के ऊपर बने हुए मन्दिर में, दूदाजी द्वारा निर्मित कराये हुए सुन्दर चतुर्भुज के देवालय में !

और न जाने कैसे मीरां से दूर जाकर अपनी साधना को सफल बनाने का

प्रयत्न करनेवाले साधक कृष्णाचरण ने उसी ग्राम में रहना स्वीकार भी कर लिया। एक ही आवास में मीरां के साथ रहने से उसके योग और भक्ति में विक्षेप पड़ रहा था। मीरां को छोड़ कर दूसरे आवास में जाने पर कदाचित् मन की यह स्थिति बदल जाय! परन्तु उसकी समझ में न आया कि आबू, गिरनार और हिमालय में न जाकर, वह मीरां के मेड़ता में ही क्यों बैठ रहा?

मेड़ता में ही रहा, इतना ही नहीं; मीरां के कीर्तनों में प्रतिदिन उपस्थित रहने का भी वचन दिया!...दूदाजी और मीरां, दोनों को उसका कण्ठ बहुत ही प्रिय लगता था; इसलिए जब उन्होंने कृष्णाचरण को मेड़ता में ही रहने का आग्रह किया, तब उस आग्रह को वह कैसे अस्वीकार करता?

उसे मीरां संबंधी किंवदन्तियों को सुनने में बड़ा ही रस आता था... मीरां के निवासस्थान से दूर रहने पर भी यदि कोई व्यक्ति मीरां के विषय में बातें करता, तो उन बातों से उसे बड़ा आनंद मिलता! परन्तु जब मीरां के लग्न की बात उसके कान तक पहुँची, तब उसका हृदय व्यग्र हो उठा। उसे ऐसा लगा, मानो उसके अधिकार की वस्तु कोई छीने लेता हो! मीरां संबंधी विचारों को मन में न आने देने का उसने प्रबल प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में जब उसे सफलता न मिली, तब उसने मेड़ता छोड़ देने का विचार किया। इस विचार को उसने मीरां के आगे प्रकट किया, और जब मीरां ने उसके इस कार्यक्रम का कोई भी विरोध न किया, तब उसका मन खट्टा हो गया। अन्त में एक दिन जब उसने देखा कि मीरां शिकार से लौटते समय चित्तौड़ के युवराज भोज के साथ हँस-हँस कर बात कर रही है, तब तो उसके क्रोध की सीमा न रही, और उसने मेड़ता छोड़ ही दिया।

कृष्णाचरण को मेड़ता से हटाने में मुस्लिम सांई और रोहिदास का भी हाथ था। भारत के प्रजाजीवन में एक ओर राजनीति और युद्धकला का विकास हो रहा था, तो दूसरी ओर इन दोनों को निरर्थक बनानेवाली धर्म-भावना प्रजाजीवन को उच्चतर स्तर में ले जा रही थी। इस धर्म-भावना की एक लहर प्रजा में रामनाम की धुन जगाती थी। दूसरी लहर

राधाकृष्ण की प्रेम-भावना का प्रसार करके एक नयी चेतना प्रकटा रही थी। तीसरा प्रवाह इस्लाम की कट्टर भावनाओं को कुछ मृदु बना कर प्रजा के मन में राम-रहीम की एकता स्थापित करने का प्रयत्न कर रही था। एक ओर हिन्दू धर्म के रक्षण के लिए हिन्दुओं की कठिन शास्त्रीयता जाति-पाँति तथा आचार-जड़ता के बंधन और भी मज़बूत बना रही थी। दूसरी ओर भक्ति का प्रबल प्रवाह इन बन्धनों को ढीला करके ऊर्मि की गहराई को महत्व प्रदान कर रहा था, और प्रजा को यह दिखाने का प्रयास करता था कि हिन्दू संस्कारों की उदारता ही उनके रक्षण का मुख्य साधन है। इस्लाम ने अपना धार्मिक जोश कम कर दिया था, और मुसलमान यह सोचने लगे थे कि हिन्दुओं के आचार-विचारों को कुछ-कुछ अपनाने से इस्लाम की उन्नति ही होगी। इस प्रकार उस युग की धर्म-भावना ने प्रजा में तीर्थाटन का शौक़ बढ़ाया, साधु-संतों के समागम से शान्ति और संतोष की वृत्ति को जागृत किया, और धर्माभिमान घटाकर इस्लामी औलिया-फ़क़ीरों के प्रति सद्भाव पैदा किया। इस्लाम ने भी अपनी पृथक् महत्ता को क़ायम न रखकर हिन्दू धर्म के कितने आचार-विचारों को अपनाया। इतना ही नहीं, उसने हिन्दुओं के एकेश्वरवाद का महत्व और उनके भक्ति-मार्ग की गहराई को सराहा, और दोनों की समान-भावनाओं को मृदुता से उपस्थित करके हिन्दुओं को अपनी ओर आकर्षित किया। इस प्रकार की भावना ने प्रजामत को उदार बनाया, जिसके परिणामस्वरूप कुछ हिन्दू मुसलमान बन गये, और कुछ मुसलमानों को शुद्ध कर पुनः हिन्दूधर्म में स्थान दिया गया। एक हिन्दू मन्दिर के पास यदि कोई मुसलमान फ़क़ीर तकिये की स्थापना करता, तो उसका विरोध न होता। एक ही जगह आग सुलगाकर साधु और साँईं बैठते, और अपने-अपने धर्म को समझाने का प्रयत्न करते। यात्रियों के संघ निकलते, भक्त और साधु का सर्वत्र सत्कार होता, एक ही प्राकृत भाषा के भजन ब्राह्मण और चर्मकार दोनों भाव के साथ गाते, श्रद्धालु हिन्दू-मुसलमान फ़क़ीरों के पास जाकर अपने संकट-निवारणार्थ आशीर्वाद माँगते, और कट्टर मुसलमान हिन्दू भक्तों की एक-निष्ठा के रहस्य को समझने का प्रयत्न करते।

कृष्णचरण को मेड़ता से अपने साथ लेकर सांईं ने उसे लम्बी यात्रा करायी। इस यात्रा में उसने कृष्णचरण को इस्लाम धर्म के मर्म को खूब समझाया। उस युवा साधु को इस्लामी धर्मशास्त्र में रस भी उत्पन्न हुआ। कभी-कभी उसे ऐसा अनुभव होता कि धर्मपरिवर्तन की इस उग्र मनोभावना में वह अपने हृदय की व्याकुलता कदाचित् भूल जाय! कृष्णचरण ने मुस्लिम तीर्थ स्थानों की भी यात्रा की और इस्लामी कर्मकाण्ड को समझने का सच्चा प्रयास किया। बहुत बार उसका संतप्त हृदय मस्जिद में से आने वाली अजाँ की आवाज़ सुन कर उसमें ईश्वरीय शान्ति की शोध करता।

'मुसलमान बनना हो, तो पहिले रोहिदास की अनुमति लो...और मीरां की भी।' सांईं कृष्णचरण को कहा करते।

रोहिदास कृष्णचरण को शायद ही ऐसे धर्मपरिवर्तन के लिए मना करे। एकनिष्ठ भक्ति में लीन रहने वाले भक्त को इस बात की भी परवाह नहीं रहती कि दूसरा व्यक्ति कौन से धर्म का पालन करता है। परन्तु मीरां की अनुमति क्यों?

'मीरां की अनुमति की क्या आवश्यकता?' कृष्णचरण ने पूछा।

'अपने दिल से पूछो।'

'वह तो अब मेवाड़ की महारानी बनने जा रही है...कदाचित् वह मुझे पहिचाने भी नहीं।'

'न पहिचाने तो अच्छा!'

'आप ऐसा क्यों कह रहे हैं?'

'तुम चाहे हिन्दू रहो, या मुसलमान बनो; जो तुम्हारी इच्छा में आये सो करो...परन्तु इतना याद रखना कि तुम मीरां को अपने हृदय में से जब तक हटाओगे नहीं, तब तक वहाँ प्रभु का आवास न होगा।'

'ओर मीरां ही मेरा प्रभु हो तो?'

'तुम सच्चे सूफी हो बच्चा!....मैं तुम्हें मक्के, मदीने और कर्बला ले जाऊँ, इसके पहिले एक बार अपने मुल्क को फिर से देख लो।'

भटकने वाले साधु-फकीरों को पर्यटन का दुःख नहीं। सांई और कृष्ण-चरण अनेक स्थानों में घूमते हुए चित्तौड़ के समीप पहुँचे। वहाँ आते ही

कृष्णचरण के मन में एक विचार बड़ी ही त्वरित गति से दौड़ गया। मीरां से मिलूं तो ?....तब उसके मुसलमान बनने के निश्चय का क्या ? वह तो तभी हो सकता है, जब वह मीरां को अपने हृदय में से हटा दे। मीरां से मिलकर तो यह कार्य सरल हो जायगा...वह उसे पहिचानेगी नहीं, और इस प्रकार वह भी उसे भूल सकेगा। सांईं की भी सम्मति उसे प्राप्त हो चुकी थी। सांईं के सो जाने के बाद चित्तौड़ की ओर देखनेवाले कृष्णचरण की आँखों के सामने एक चमत्कारिक चित्र आ खड़ा हुआ !

सामने चित्तौड़ का क़िला अवश्य दीख पड़ता था; परन्तु यह क्या ? सारी पहाड़ी को घेरनेवाला वह दुर्भेद्य दुर्ग हिल क्यों रहा था ? क्या धूप के कारण पहाड़ भी हिलते हुए दिखाई देते हैं ? वसन्तऋतु का आरंभ हो गया था। वृक्ष नये-नये रंग और रूप धारण कर रहे थे। यद्यपि हवा में थोड़ी शीतलता अवश्य थी; परन्तु दोपहर की धूप शीतकाल में भी कड़ी मालूम होती है, और हवा के साथ मिलकर वह ऐसा भ्रमात्मक दृश्य खड़ा करती है कि मानों पहाड़ और पहाड़ी दुर्ग दोनों हिल रहे हों !

जो हिलता नहीं, परन्तु हिलता हुआ दिखाई पड़ता है, उसी का नाम माया तो नहीं ?

इस्लाम में मायावाद का समावेश नहीं ! कृष्णचरण ने सोचा कि यदि वह इस्लाम को स्वीकार करे, तो मायावाद के निकट वह जा नहीं सकता। तब इस हिलनेवाली मरीचिका को कैसे समझना और समझाना ?

क्या चित्तौड़ का यह क़िला वास्तव में ही क़िला होगा ? अथवा किसी नर्तकी के फैले हुए लहँगे का घेर ? सप्रमाण ऊँचा नीचा होने पर भी विशाल अवकाश को घेरने वाला यह अद्भुत लहँगा ! उड़ते हुए दुपट्टे सरीखे उठे हुए बुर्ज ! और पांव से कमर तक की किनारी ! यह चित्तौड़ का दुर्ग ही है ? अथवा सूर्यनृत्य करनेवाली किसी पर्वत कन्या का चौड़ा किया हुआ लहँगा ?

और हाँ ! दूर पर क़िले के कटिप्रदेश में से ऊपर उठने वाला वह मीनार क्या वास्तव में कुंभा का कीर्तिस्तम्भ है ? अथवा किसी पर्वतीय सुन्दरी-पार्वती का मनोहारी मस्तक ? पार्वती यहाँ नहीं हो सकती...परन्तु मीरां का होना तो सम्भव है ! क्या मीरां ने ही सारे चित्तौड़गढ़ को घेर लेने

वाला महाकाय स्वरूप नहीं धारण किया है ?...अथवा मीरां के संसर्ग में आकर चित्तौड़गढ़ ने गोपीस्वरूप धारण करके नृत्य करना तो आरंभ नहीं किया है ?

यह चित्तौड़गढ़ हो नहीं सकता ! यह मीरां ही है !

कृष्णचरण के आश्चर्य का पार न रहा। उसकी आँखें विस्तृत हो गयीं। चित्तौड़गढ़ के दृश्य में उसे मीरां दीख पड़ने लगी ! स्थिर पहाड़ उसे हिलता हुआ दीख पड़ा ! तराई के विशाल सपाट प्रदेश से ऊपर उठकर कलामय बुर्जों को धारण करनेवाला जड़ दुर्ग उसे एक नृत्य करनेवाली रूपवती ललना के घेरदार लहँगे के रूप में दीख पड़ा। और उस लहँगे में से ऊपर उठने वाला सुन्दर पुष्प सरीखा कीर्तिस्तम्भ क़िले को स्त्री का मुख और स्त्री का शीर्ष प्रदान करता हुआ दिखायी दिया ! कृष्णचरण को तो हँसती-नाचती मीरां के दर्शन हो रहे थे।

उसका मन इस दृश्य की वास्तविकता को स्वीकार करने के लिए तैयार न होता था। वहाँ मीरां कैसी ? पहाड़ और क़िला मीरां नहीं बन सकते। परन्तु क्षणभर में मन की यह दृढ़ता चली जाती, और पुनः उसे पहाड़ की जगह लहँगे के घेर को नचाती हुई मीरां ही दीख पड़ती।...मीरां का वह बृहद्स्वरूप !

वह बृहद् भी न था। इतनी दूर से ध्यानपूर्वक देखने पर वह मानवाकार नर्तकी का ही स्वरूप मालूम होता था।

वह किसके सामने नाचती होगी ? उसके गिरिधारीलाल कहाँ होंगे ? वे आकाश में तो हँसते हुए विराजमान न होंगे ? अथवा उसके दूसरी ओर कहीं छिप कर बैठे होंगे ?

ऐसा तो नहीं है कि मीरां को खबर लग गयी हो....कृष्णचरण के आगमन की....और कृष्णचरण को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए वह आकाश के नीचे आकर नाच रही हो !

कृष्णचरण के हृदय में स्पन्दन होने लगा। मीरां उसे दीख पड़ी, यह बात सत्य; मीरां को उसने नाचते हुए देखा, यह भी सत्य....मीरां गाने

लग जाये तो ?...यदि किसी गीत के स्वर आये ? कहीं ऐसा न हो कि कृष्णाचरण का कण्ठ उस गीत-लहरी में बहने लगे ?

किसी वृक्ष की शाखा पर से एक कोकिला की कुहुक सुन पड़ी...यह तो मीराँ का कण्ठ !

यह चित्तौड़गढ़ नहीं ! यह तो स्वयं मीरां उसका स्वागत कर रही है ! कृष्णाचरण ने अपनी आँखें पोछीं । पुनः उसने चित्तौड़गढ़ की ओर दृष्टि डाली । एक बार क़िला अवश्य दीख पड़ा...परन्तु शीघ्र ही वह मीरां के रूप में बदल गया ! दुर्ग कभी मीरां हो सकता है ?

क्यों नहीं ? जब आकाश की तारक-व्यवस्था में सिंह, कन्या और मकर दीख पड़ते हैं, तब दुर्ग मीरां के रूप में क्यों न दीख पड़े ?

तब सत्य क्या ? क्या चित्तौड़ का सारा पर्वत नर्तन करनेवाली युवती का स्वरूप धारण किये हुए खड़ा था ?

'सांईं ! जाग रहे हैं ?...देखिए, देखिए ! यह चित्तौड़ का दुर्ग है, या नृत्य करती हुई मीरां ?' अपनी आँखों के सामने विराजनेवाले दृश्य की पुष्टि सांईं से कराने के लिए कृष्णाचरण बोल उठा । उसकी दृष्टि चित्तौड़गढ़ के दृश्य पर चिपकी रही । पास ही में सोये हुए सांईं का उत्तर न मिलने पर उसने बलात् अपनी दृष्टि को हटाया । सांईं वहाँ सोए हुए न दिखाई पड़े ।

'सांईं ! बाबा !' कृष्णाचरण ने पुकारा ।

कोई बोला नहीं । केवल गगन में प्रतिध्वनि हुई । न सांईं वहाँ दिखाई पड़े, और न उन्होंने कहीं से कृष्णाचरण की पुकार का उत्तर दिया । न जाने वह मस्त, अर्धपागल फक़ीर कब वहाँ से उठकर चुपचाप चला गया । उसकी राह देखना व्यर्थ था । कृष्णाचरण की देह उसके वश में थी नहीं । वह तो सर्वत्र मीरां को ही देख रहा था...जहाँ देखे, वहीं मीरां ! सारा चित्तौड़गढ़ मीरांमय बन गया था...वृक्षों में से मीरां की आँखें, मीरां के हाथ, मीरा के चरण दीख पड़ते...और कहीं कहीं तो समूची मीरां वृक्षों के बीच से निकल आती !

मेरे लिए तो एक ही मार्ग है ! मीरां से मिलने का ! उसे अपना

हृदय बताऊँ, और उससे वांछातृप्ति की भिक्षा मांगूं। मेरे लिए यही मुक्ति का मार्ग है कृष्णाचरण ने विचार किया।

अन्य कोई मार्ग ?

हाँ, दूसरा मार्ग है पागलपन का ! कृष्णचरण हिन्दू भी न रहेगा, और मुसलमान भी नहीं ! उसका अस्थिर चित्त उसको पागल बना देगा ! यह युवा साधु पागलपन के किनारे आकर खड़ा था। उसके लिए दो ही मार्ग थे : मीरां से मिलने का....और यह मार्ग न मिले तो पागलपन की अंधकारमय गुफा में प्रवेश करने का !

कृष्णचरण खड़ा हो गया, और कुछ क्षण विचार करके चित्तौड़गढ़ की ओर चल पड़ा। पैरों में शीघ्रता आयी, और सांयकाल होते-होते वह क़िले के अन्दर पहुँच गया। सैनिक और साधुओं का बड़ी संख्या में आवागमन हो रहा था। साधुओं को कोई रोकता नहीं, टोकता नहीं। सर्वत्र मालवा के युद्ध की बातें हो रही थीं। लोग इस युद्ध के प्रारंभ होने की और उसमें विजय प्राप्त करने के समाचारों की बाट जोह रहे थे। रास्ते और गलियाँ पार करके गढ़ के ऊपर चढ़ते समय रात्रि का अन्धकार सर्वत्र फैल गया। गढ़ से दीपक के प्रकाश दिखाई पड़ने लगे। गढ़ ज्यों-ज्यों पास आता गया, त्यों-त्यों उसमें दीख पड़नेवाली मनुष्याकृति अदृश्य होती गयी। परन्तु स्थान-स्थान पर दीख पड़ने वाले दीपक के प्रकाश ने रात्रि के अन्धकार से मिलकर पुनः मीरां की आकृति को प्रकट किया। कृष्णाचरण की उत्कण्ठा तीव्र बनती गयी। मीरां के महल को खोजने में उसे ज़रा भी देर न लगी। साधुओं की टोलियाँ जिस दिशा में जा रही थीं, उसी दिशा में मीरां का महल होना चाहिये। उस ओर एक प्रासाद में से झांझ, मृदंग, वीणा, और सुरतरंग आदि वाद्यों के स्वर आ रहे थे, और संगीत भी सुनाई दे रहा था। प्रासाद के प्रवेश द्वार पर एक सुन्दर मन्दिर भी स्थित था। कृष्णाचरण को विश्वास हो गया कि यही मीरां का मन्दिर होना चाहिये। मन्दिर के बाहर चौक में एक कुँवा था और पानी का पौसरा था। वहाँ पहुँच कर कृष्णाचरण ने अपने हाथ, पाँव और मुख को धोकर स्वच्छ किया, और इस प्रकार अपनी देह को देव-दर्शन अथवा मीरां-दर्शन के योग्य बनाया।

मन्दिर के निकट, मन्दिर के अन्दर जाने की सब को छूट थी ! कृष्ण निकट पहुँचा, तब उसने देखा कि मन्दिर के अन्दर मीरां नृत्य-गान कर रही है। विवाह के पहले जिस मीरां को देखा था, उससे यह विवाहित मीरां कहीं अधिक सुन्दर लग रही थी। उसके नृत्य और गान अद्भुत सौन्दर्य को बिखेर रहे थे।

राजकुटुम्ब की अन्य स्त्रियों और सखियों ने वसन्तऋतु के अनुकूल आमोद-प्रमोद में सम्मिलित होने का कई वार मीरां को निमंत्रण दिया, जिसे उसने बराबर अस्वीकार किया। ऐसे उत्सवों पर राजघराने की स्त्रियाँ कभी-कभी स्वादिष्ट द्राक्ष-मदिरा का पान भी कर लेती थीं। होली के अवसर पर इस उत्तेजक पान की मादकता का अनुभव करनेवाली राज-ललनाएँ कुंकुम-गुलाल और रंग की पिचकारियाँ लेकर मुक्तरूप से उत्सव मनातीं, और अपने इस आमोद-कार्य में सम्मिलित होने के लिए मीरां को भी खींच ले जाने का प्रयत्न करतीं। परन्तु मीरां का सहयोग उन्हें प्राप्त न होता। मीरां के माता-पिता का कुटुम्ब वैष्णव मतावलम्बी था। इस कारण से मद्यपान उनके लिए वर्ज्य था। और गिरिधरलाल के बिना फाग या वसंतोत्सव कैसा ? इस उत्सव के लिए तो उसके निकट उसके गिरिधारी-लाल सर्वदा विराजमान थे ही !...वह अन्यत्र क्यों जाय ? अपने गिरिधारी-लाल को छोड़कर वह राजकुल के किसी भी सामान्य उत्सव में सम्मिलित नहीं होती थी। सम्मिलित न होने का कारण वह इस समय अपने गीत-नृत्य से दे रही थी। कृष्णचरण ने ध्यान से मीरां का गीत सुना, और शीघ्र ही उसकी आँखें मीरां के मनोहर नृत्य को देखने लगीं। मन्दिर में प्रवेश करते ही मीरां का मधुर गीत साफ़-साफ़ सुन पड़ा:

हूँ तो साँवरिया संग राती !
पियु परदेस बसे ए सजनी,
लखी लखी प्रेरत पाती।...हूँ तो०
म्हारो पियु मुज हृदय बसे त्यां,
गूंज करूँ दिन-राती।...हूँ तो०

सखी-सहेली मद पी माती,
बिन मद हूँ मदमाती।
हरिरस नी मुज प्रेम कटोरी,
भरूँ भरूँ छलकाती।...हूँ तो०
नहीं नैहर मुज, नहीं सासरूँ,
सद्गुरु शब्द समाती।
नागर नट शूं प्रेम पियालो,
भर भर पीती पाती।...हूँ तो०

गीत पूरा हुआ। अत्यन्त प्रसन्न मुखमुद्रा के साथ मीरां ने कुछ क्षणों तक प्रभु-मूर्ति की ओर देखा। उसकी आँखों में मादकता थी, मानो हरिरस का नशा चढ़ा हो! मूर्ति की ओर से अपने नेत्र हटा लेने पर भी उसको सर्वत्र प्रभु के ही दर्शन हो रहे थे, ऐसा उसका व्यवहार दिखाई पड़ा। मंदिर में बैठी हुई साधु-मण्डली की ओर उसने ज़रा भी ध्यान न दिया...न किसी की ओर देखा, न किसी को पहिचाना। गीत सुनकर और मीरां के नृत्य को देखकर कृष्णचरण पागल बन गया। उसने यह सोचा कि मीरां जब घूमकर साधुजनों की ओर देखेगी, तब उसे तुरन्त पहिचान लेगी। मीरां की दृष्टि घूमी सब ओर, परन्तु उसने कृष्णचरण को पहिचाना नहीं। आवेश में भरे हुए कृष्णचरण ने यकायक मीरां के उस गीत के अन्तिम पद को गाना शुरू किया। वह अपने को रोक न सका। मीरां के साथ गाने की उसे पहले की आदत पड़ी हुई थी....उस आदत ने उसको लाचार बना दिया—

नहीं नैहर मुज, नहीं सासरूँ,
सद्गुरु शब्द समाती।
नागर नट शूं प्रेम पियालो,
भर भर पीती पाती।

हूँ तो साँवरिया संग राती!

एकत्र साधु-मण्डली इस युवा साधु को देखने लगी। चित्तौड़ में यह नया आया हुआ लगा। परन्तु उसके कण्ठ में असाधारण माधुर्य भरा हुआ

था। भजन के नशे में भान भूली हुई मीरां ने धीरे-धीरे उस कण्ठ को पहिचाना। आकाश में उड़नेवाले उसके मन ने पृथ्वी-स्पर्श का अनुभव किया; साथ ही उसकी आँखों ने बैठी हुई साधु-मण्डली को पहिचाना। सबके पीछे बैठे हुए कृष्णचरण को उन आँखों ने तुरन्त खोज निकाला। मीरां ने हँसते हुए पूछा:

'कृष्णचरण! तुम कब आये?...जय श्रीकृष्ण!'

'मैं अभी ही आया, मीरां!'

'अभी तो रहोगे न?'

'हाँ,...तुम्हीं को खोजता हुआ आया हूँ।'

'मुझे?...या प्रभु को?....अच्छा, आओ मेरे साथ! इस स्थान से अभी तुम अपरिचित हो।' कहकर मीरां ने सब को नमन किया, और कृष्णचरण को साथ लेकर वह मन्दिर में से अपने निवासखण्ड में चली गयी।

मीरां जैसी राजरानी को परिचित ढंग से संबोधित करनेवाला यह नवागन्तुक सुन्दर युवा साधु कौन था, यह जानने की अभिलाषा वहाँ एकत्र सब लोगों को हो रही थी। यह स्वाभाविक था। आज तक मीरां सभी साधु-संतों से मिलती थी, उनके साथ बैठकर भजन-कीर्तन करती थी, और कथा-वार्ता भी सुनती थी। परन्तु यह सब कार्य मन्दिर के खण्ड में ही हुआ करता था। साधुजनों का स्वागत भी यहीं होता था। मीरां के साथ कोई भी साधु आज तक उसके निज के आवास में नहीं गया था। कृष्णचरण को आमन्त्रण देकर अपने साथ ले जाने का यह पहला ही प्रसंग था। भक्त-मण्डली को आश्चर्य हुआ। उनसे अधिक आश्चर्य का अनुभव किया राजमहल के दास, दासियों ने! पति को मीरां कभी देह-सुख देती न थी, यह बात राजमहल ही में नहीं, अपितु सारे चित्तौड़ में सब को विदित हो गयी थी और सभ्य समाज को इसका बड़ा ही दुःख था। दुःख न था मात्र उस पति को! लग्न-ग्रन्थि से बँधा हुआ पति-पत्नी का यह जोड़ा विशेष दुःखी था, यह कहना भी कठिन था। दोनों हिलते-मिलते, बातें करते, हँसते, साथ में बैठकर भोजन करते, और शयन-गृह में जाकर सोते; इस प्रकार पति-पत्नी में कोई संघर्ष दीख न पड़ता था...संघर्ष था ही नहीं। पति ने पत्नी को

पूर्णरूप से समझ लिया था, और वह इस बात के लिए सतत प्रयत्नशील रहता था कि पत्नी के आध्यात्मिक प्रयोगों में उसकी ओर से कोई विघ्न उपस्थित न हो। पत्नी ने पति की इस अद्भुत उदारता का मूल्यांकन कर आभार भरी भावना के साथ एक आदर्श मैत्री संपादित की थी। इस मैत्री में कामदेव का कोई स्थान न था। पति-पत्नी का यह अलौकिक संबंध साधारण आदमियों की समझ में न आये, यह स्वाभाविक था। राजमहल और प्रजाजनों का एक बहुत बड़ा वर्ग इस विचित्र संबंध को समझ न सका। मीरां की पत्नीरूप की उदासीनता और कृष्णभक्ति का पागलपन उन्हें रुचा नहीं—लोक-संग्रह की दृष्टि से भी! मीरां स्वयं अपनी दास-दासियों और सखी-सहेलियों के वृन्द की प्रियपात्र बन गयी थी—मीरां सब को प्रिय लगती थी। परन्तु जलकमलवत् बना हुआ मीरां का पत्नीत्व किसी को भी पसन्द न आता....इतना ही नहीं, भोज की असाधारण उदारता को न समझनेवाले लोग तो उसके पौरुष पर हँसते और उसका मज़ाक़ उड़ाते थे।

पति को दूर रखकर जीवन व्यतीत करने वाली मीरां कृष्णाचरण को अपने साथ अपने निजी आवास-खण्ड में ले जाय, यह बात सबको विचित्र लगी। कुछ लोगों के मुख पर गंभीरता छा गयी, कुछ लोगों ने मुँह बनाया, और कुछ ने एक-दूसरे के हाथ पर हाथ मारा! मीरां के निजी खण्ड में जाने की पात्रता धारण करने वाले इस युवा साधु के समागम में आकर मीरां के जीवन में से कौन-सी नयी नयी विचित्रताएँ फूट निकलेंगी, इसको जानने की सभी लोगों को उत्सुकता होने लगी। भीत्ति का भेदन कर यदि कोई स्वर बाहर आये, तो उसको सुनने के लिए वहाँ आने-जाने वाले अनेक व्यक्ति प्रयत्नशील बन गये।

मीरां की सरलता में पाप और पापाचार को ज़रा भी स्थान न था। भक्ति की पारस-मणि मीरां के सांसारिक व्यवहार को और सारे मानव-संबन्ध को सुवर्ण-शुद्ध बना रही थी। प्रभु-समर्पित जीवन में पाप का स्पर्श हो नहीं सकता; उसका प्रत्येक व्यवहार पुण्यरूप बन जाता है। भक्ति की देह अपने आनन्द की साधन नहीं होती; वह साधन बन जाती है प्रभु को

आनन्द देने की ! पुष्प का अर्पण भक्त की नासिका या उसकी त्वचा को इसलिए अच्छा लगता है कि उन पुष्पों की सुवास में वह प्रभु को समर्पित होने की योग्यता पाता है। भक्त की देह और मन का तो प्रश्न ही नहीं उठता; वे तो पहले ही प्रभु को समर्पित हो चुके हैं। भक्ति की देह तो विश्व के साथ प्रभु का संबन्ध स्थापित करने वाला मार्ग-सेतु ! प्रभु जब विश्वमय बन जाय, अथवा विश्व प्रभुमय बन जाय, उस समय यह देह—यह मार्ग—यह सेतु निरर्थक बन कर टूट जाता है। जब तक देह का अस्तित्व रहे, तब तक भक्त को यही समझना चाहिये कि उसका विश्व अभी पूर्णरूप से प्रभुमय बना नहीं, और यह समझकर उस देह द्वारा विश्व और प्रभु को अधिक निकट ले आने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। मीरां की देह समष्टि में से प्रभु को मानवी विश्व में ले आने का प्रयत्न कर रही थी। इतना ही नहीं, वह इस विश्व के अणु-अणु को प्रभुस्पर्श कराने के लिए खींच रही थी। इस कार्य के अतिरिक्त अपनी देह का उपयोग वह अन्य किसी भी कार्य में करना नहीं चाहती थी। देह के अन्य सब उपयोग उसने बन्द कर दिये थे।

मीरां मन्दिर में से निकल कर अपने शयन खण्ड की ओर चली। उसके साथ सहज पीछे नवागन्तुक साधु कृष्णचरण चल रहा था। अनेक आँखें दृश्य और अदृश्य इस विचित्रता को देख रही थीं। मीरां का भावावेश अभी तक पूर्णरूप से उतरा न था। चलते-चलते वह भूल गयी कि कृष्णचरण उसके पीछे-पीछे आ रहा है। खण्डद्वार में घुसते ही उसे कृष्णचरण की परछाईं दीख पड़ी। उसने तुरन्त घूमकर देखा, और कृष्णचरण को पहचानकर कहा :

'अरे !...यह तो कृष्णचरण !...चले आओ अन्दर !'

कृष्णचरण दरवाज़े के पास ठिठक कर खड़ा था। मीरां का आमंत्रण मिलने पर उसने अपना विवेक प्रदर्शित किया :

'मैं इस खण्ड में आ सकता हूँ ?'

'आ सकता हूँ, इसका क्या अर्थ ? क्या यह खण्ड तुमको या किसी को अन्दर आने से रोकता है ?'

'यह तुम्हारा आवास है—निजी खण्ड है...सब लोगों का यहाँ पूछे बिना आना अनुचित होगा।'

'तुम्हारे कहने का तात्पर्य ?...मेरी अपनी, व्यक्तिगत कोई वस्तु नहीं। जो सबके लिये नहीं होता, प्रभु उसको स्वीकार नहीं करते....चलो, आओ अन्दर....बहुत दिन के बाद दिखाई पड़े।'

'तुम अब विवाहिता हुईं, युवराज्ञी हुईं!...कल महारानी बनोगी...'

'अरे हाँ, समझ गयी! मेरा विवाह करना कदाचित् तुमको पसन्द न आया हो...परन्तु चरण! मैं तो...वैसी की वैसी ही हूँ बालकुमारी!...बैठो इस आसन पर!' कहते हुए मीरां ने कृष्णचरण को एक आसन के ऊपर बैठाया। इसके बाद प्रभु के चित्र के पास जाकर मन्दिर में से लाये हुए एक पुष्पहार को उसने चित्र के ऊपर चढ़ाया, और प्रभु-चरणों का स्पर्श करके अँगुलियों को अपनी आँखों में लगाया।...दूसरा पुष्पहार उसने भोज के चित्र को पहिनाया, और अत्यन्त करुणामय भाव से उस चित्र को देखा। इसके बाद वह लौट कर आयी और कृष्णचरण के सामने जाकर बैठ गयी...लौटते हुए उसके मधुरकण्ठ से स्वर निकले :

कान्हुडा क्या जाने म्हारी पीर,
बाई हम तो बालकुँवारां रे।
कान्हुडा क्या जाने म्हारी पीर!

~ ४ ~

मीरां के सान्निध्य, लावण्यमय हलन-चलन और मधुर कण्ठ ने कृष्ण-चरण के शरीर में कम्प उत्पन्न कर दिया। सौन्दर्य में प्रबल झंझावात सरीखी शक्ति होती है क्या ? उसके अणु-अणु कांप रहे थे। किसी किसी संगीत का असर तो दीपक के प्रकाश जैसा शीतल होता है। सौन्दर्य झंझावात जैसा वेगवान हो......परन्तु उसमें यह अग्नि सरीखी दाह-कता क्यों ? मीरां वैसे तो एक शान्त, भक्तिरस में ओत-प्रोत रहने

वाली, सरल स्वभाव की युवती थी.......तब उसमें यह शक्ति कैसी ? यह दाहकता कैसी ? कृष्णचरण अनुभव कर रहा था कि उसके प्रत्येक अणु जलकर भस्म हो जायंगे...अथवा उसकी देह अग्नि की फुलझड़ी बन कर अंग-अंग से स्फुलिंग की वर्षा करेगी !

'कहो, चरण ! कहाँ से आये ?' सामने बैठकर मीरां ने पूछा।

'घूमता-फिरता चला आया।' कृष्णचरण ने उत्तर दिया।

यौवन से भरपूर युवक-युवती का यह जोड़ा यहाँ अकेला ही था। एकान्त यदि बल प्रदान करे, तो वह सारे विश्व को अपने भुजपाश में उठा लेने की क्षमता देता है; परन्तु यदि वह बल को खींच ले, तो चींटी का चलना भी भूकंप का-सा भय उत्पन्न करता है।

'तुम्हारे पर्यटन का मुझे पता है...यहाँ आने वाले भजनीक कहा करते थे कि नर्मदा तट पर...क्षिप्रातट पर तुम्हारे भजन बड़े ही लोकप्रिय बन गये हैं।'

'मेरे भजन नहीं...तुम्हारे।'

'मेरे भजन कैसे ?...मन में जो कुछ आया गाने लगती हूँ...जो कोई उसे पसन्द करके याद करले उसी का वह भजन !'

'तुम्हारी तरह भान भूल कर गाना सबके लिए शक्य नहीं...तुम अनायास गाने लगती हो, और उस गान में से कोमल कविता के पुष्प झरते हैं...सारी सृष्टि वीणा बन कर मधुर झंकार करने लगती है...'

'अच्छा ! मुझे तो इस बात की खबर ही नहीं... अब यह बताओ तुम यहाँ क्यों आये ?...मेरी प्रशंसा करने ?'

'मैं तुम्हारे पास न आऊँ ?'

'क्यों नहीं ?...परन्तु मेड़ता छोड़कर तुम इस प्रकार चले गये, मानो कभी आओगे ही नहीं....मुझे तो ऐसा ही प्रतीत हुआ था।'

'ऐसा क्यों प्रतीत हुआ ?'

'मैंने तुम्हारी सारी दशा विह्वलता से भरी हुई देखी...तुम कुछ प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे...तुम्हारा ध्यान, तुम्हारी तपश्चर्या तुम्हारी तीव्रता एक सच्चे भक्त जैसी थी।'

'तब तुमने मुझे जाने क्यों दिया ?'

'मुझे ऐसा आभास हुआ कि मैं तुम्हारे अध्यात्म मार्ग में कदाचित् बाधा-रूप न बन जाऊँ....इसलिये मैंने तुमको रोका नहीं....और मैं तुम्हारे मार्ग से हट गयी ।'

'मीरां ! सच कहूँ ?'

'कहो....सच हो या झूठ...जो भी कहोगे वह मुझे प्रिय लगेगा ।'

'कदाचित् प्रिय न लगे ।'

'मैं नहीं मानती कि तुम ऐसी कोई बात कहोगे, जो मुझे अप्रिय लगे....आज तक तुमने कोई भी अप्रिय बात मुझे कही नहीं ।'

'तो इस बार सुन लो ।'

'प्रिय और अप्रिय सभी बात मैं प्रभु के चरणों पर रख देती हूँ... इसलिये मेरे लिए कुछ भी अप्रिय होता नहीं । कहो, अवश्य कहो ।'

'अच्छा, मैंने तुमको सचेत कर दिया । अब एक सत्य का तुमको दर्शन कराऊँ ! ...तुमने कहा न...कि कदाचित् तुम मेरे मार्ग में बाधारूप हो...'

'हाँ, कहा ।'

'यह बात बिलकुल सच है....तुम्हीं मेरे लिए बाधारूप हो...मेरी साधना के बीच में आती हो ।'

'इसीलिये तो मैंने तुमको जाने दिया ! ...अब चिन्ता का विषय ही क्या रहा ? तुम्हारे मार्ग से मैं हट गयी हूँ....मैं अब बाधारूप कैसे कही जा सकती हूँ ?'

'मीरां ! तुम अभी भी मेरे मार्ग से हटी नहीं हो ।...मेरे लिए अभी भी तुम बाधारूप हो ।' जरा बलपूर्वक कृष्णाचरण ने कहा ।

'दूर रहते हुए भी ?' हँसकर मीरां ने पूछा ।

'हाँ, दूर रहकर और भी अधिक !'

मीरां ने कृष्णाचरण को ध्यान से देखा । उसके मुख पर स्पष्ट पागलपन तो नहीं दीख पड़ा...परन्तु पागलपन की छाया अवश्य दीख पड़ी ।

'इस बात को कहने के लिए यहाँ आना पड़ा ?'

'हाँ; और उसका उपचार करने के लिए भी ।'

'उपचार करना हो तो पहिले से भी अधिक दूर चले जाओ....मुझे छोड़कर,....मुझसे बहुत दूर ! इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा इलाज नहीं !' मीरां ने उत्तर दिया। कृष्णचरण की बातों के अर्थ को वह अभी तक पूरा समझी न थी।

'ऐसे ही उपचार का मैं विचार कर रहा हूँ....कदाचित् इतना दूर चला जाऊँ कि जीवन भर पुनः तुमसे भेंट न हो सके।'

'इतनी दूर कहाँ जाओगे ?'

'मक्का,...मदीना,...कर्बला...'

'मुसलमान बन जाने की इच्छा है ...या बन चुके हो ?'

'यदि तुम अवरोध न करो तो...मुझे मेरे धर्म में ही सच्चा मार्ग मिल जायगा। यदि अवरोध करोगी तो...दूसरे धर्म की शरण लेनी पड़ेगी।'

'कृष्णचरण ! तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आती...मैं हृदय से चाहती हूँ कि मैं उपयोगी सिद्ध होऊँ !...'

'मैं भी यही माँग रहा हूँ।'

'तुम्हारी इस धर्म-परिवर्तन की धमकी के पीछे मेरा स्थान कहाँ, यह स्पष्ट रीति से कहो, तो मुझे कुछ समझ में आवे।'

'मीरां ! मेरी यह धमकी नहीं, नम्र विनती है; कोई प्रलोभन भी नहीं, ...मैं एक साधु इनमें से कुछ भी नहीं कर सकता....मैं तो अपने साधुत्व को बचाने के लिए, अपने मुक्ति-मार्ग में आनेवाले सबसे बड़े अन्तराय को दूर करने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ।'

'क्या तुम यह सोचते हो कि मैं तुम्हारे साधुत्व की रक्षा करने में मुक्ति-मार्ग के अन्तराय को दूर करने में तुम्हारी सहायता न करूँगी ? घुमा-फिरा कर लम्बी बातें क्यों करते हो ? तथ्य पर क्यों नहीं आते ? मालूम होता है कि तुम्हारे शास्त्राभ्यास ने तुमको दीर्घसूत्री बना दिया है !'

कृष्णचरण कुछ बोला नहीं। केवल अर्चनाभरी लोलुप आँखों से मीरां को देखता रहा...मानो ईश्वर से दीनता के साथ कुछ माँग रहा हो। उसके नेत्रों में से दो-चार अश्रुबिन्दु भी गिरे।

'कृष्णचरण ! यह तुम्हें क्या हो गया है ? तुम्हारे जैसे साधु, शास्त्रज्ञ,

और संगीतकार को यह विह्वलता कैसी ? कह डालो, बिना किसी संकोच के अपने मन की व्यथा को ! तुम मेरे बाल-साथी हो, मैं तुम्हारी सहायता न करूँ, तो और कौन करेगा ?' उपालंभ के साथ-साथ मीरां ने हिम्मत भी बँधाई ।

'मीरां ! कहूँ अपनी व्यथा की वार्ता ?...मुझे मेरी यह देह सता रही है !'

'तपस्या करने के लिए तुम मेड़ता से भागे । तुमने हठयोग के भी प्रयोग किये, यह बात मेरे ध्यान के बाहर न थी ।...फेंक दो इस देह को !... अथवा देह को प्रभु का दिया हुआ प्रसाद मानकर, उसका शृंगार करो, उसकी शोभा बढ़ाओ, और अर्पण कर दो उसे प्रभु के चरणों में...मैं जिस प्रकार कर रही हूँ, उस प्रकार !'

'तुममें और मुझमें अन्तर है । देहार्पण के लिए तुम्हें तो पुरुष-प्रभु मिल गया है ।'

'तात्पर्य ?'

'यही कि अपनी पुरुष-देह को अर्पण करने के लिए मैं स्त्री-प्रभु खोज रहा हूँ !'

'समझ गयी । सूफ़ी बनने के लिए इस्लाम धर्म स्वीकारना चाहते हो । ध्येय-सिद्धि होती हो, तो वैसा करो !...परन्तु यदि हिन्दू बने रहना हो, तो शक्ति-मार्ग में तुमको शान्ति मिल सकती है ।'

'मैं प्रभु की आराधना माता के स्वरूप में करना नहीं चाहता...मुझे स्त्रीरूप में प्रभु का प्रेमस्वरूप चाहिये ।'

'तब तो किसी वाममार्गी गुरु से दीक्षा ले लो !...अथवा यह सब जंजाल छोड़कर विवाह कर लो...प्रभु अधिकांशतः यही चाहते हैं कि...स्त्री पुरुष में, और पुरुष स्त्री में प्रभु को देखने लग जाएँ...इसीलिये विवाह होता है ।' मीरां ने कहा । कदाचित् कृष्णचरण उससे अपने विवाह की सम्मति लेने आया है, यह सोच कर मीरां ने कृष्णचरण को विवाह कर लेने की सलाह दी । एक देह अपनी पूर्णता के लिए अन्य देह की कामना करे,

इसमें आपत्ति की कोई बात नहीं...किसी की आपत्ति मान्य भी नहीं हो सकती...फिर भले ही वह देह साधु कृष्णाचरण की क्यों न हो !

'वाममार्ग तो किसी एक स्त्री को प्रदान कर अलग हो जाता है; मुझे यह पसन्द नहीं।'

'तब विवाह कर लो किसी सुन्दर युवती के साथ... सरलता से मिल जायगी...साधुत्व के साथ मिल जायगी...साधुत्व का दंभ धारण करके कब तक विवाह टाल सकोगे ?'

'मैं जिस स्त्री के साथ विवाह करना चाहता हूँ, वह मुझे मिल नहीं सकती।'

'ऐसा क्यों ?'

'क्योंकि उसका विवाह हो चुका है...और....मीरां ! मैं बिना किसी संकोच के कह देना चाहता हूँ कि मेरे शरीर का अणु-अणु उस पर-स्त्री की देह की कामना करता है....प्रति क्षण मुझे मृत्यु-पीड़ा का सा कष्ट हो रहा है....और मेरा अध्यात्म-प्रवास आगे बढ़ा नहीं...जहाँ का तहाँ रुक कर खड़ा है।'

'हुँह...इसका तो यही अर्थ होता है कि व्यभिचार बिना अब तुम्हारे लिए और कोई मार्ग है ही नहीं।'

'जो चाहो वह कहो....परन्तु इस बात का विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मेरी इस कामना में प्रभु-मिलन की ही तीव्रता है...गोपियों की कृष्ण कामना को उलट कर देखो, और राधा के लिए तरसने वाले किसी कृष्ण की कल्पना करो।'

'राधा और कृष्ण !...हं...कृष्ण और गोपी !...क्या इनके शरीर थे ? शरीर की व्यथा थी ?'

'भागवत का दशमस्कंध तुमने नहीं पढ़ा ?'

'पढ़ा है...बहुत बार ! जितनी बार मैंने उसे पढ़ा, उतनी बार मुझे यह स्पष्ट होता गया कि वह देह की व्यथा न थी...वे तो थे अकथ्य उर्मियों के झंझावात, भयंकर वर्तूल में बहने वाले ! झंझावत के देह नहीं होती। उन वर्तूलों में होती है धूल, मिट्टी !'

'झंझावात के वर्तूल जब तक देह का आकार धारण नहीं करते, तब तक दीख नहीं पड़ते।'

'इसीलिये देह धूल-मिट्टी के समान मानी गयी है। धूल वर्तूलाकार झंझावात का रूप धारण करके पुनः बिखर कर धूल की धूल रह जाती है, और धूल के बने हुए दुर्गों में से वेगवान पवन अदृश्य हो जाता है...छोड़ दो इस गोपीकृष्ण की बात को...मेरी समझ में वह अभी तक आयी नहीं, और तुम भी उसे समझ न सके....कृष्ण और गोपियों में से कोई मिलेगा, तब उन्हीं से पूछ देखूँगी। परन्तु यह तो कहो कि तुम्हारी उस रूपिणी स्त्री का नाम क्या है ?...वह है कौन ? रहती कहाँ है ?'

'उसके नाम में सब कुछ आ जाता है। उसका नाम है...मीरां !' ...कृष्णचरण ने अपनी वाणी में अद्भुत कम्पन लाकर 'मीरां' नाम का उच्चार किया।

'कृष्णचरण !' साधु आगे कुछ बोले इसके पहिले ही मीरां ने सहज बलपूर्वक संबोधन किया। इस संबोधन में मीरां के कण्ठ का नैसर्गिक माधुर्य अवश्य था; परन्तु साथ ही उसमें खाल खींच लेने की क्षमता धारण करने वाले चाबुक के प्रहार का काठिन्य भी था। एक क्षण के लिए मीरां की आँखों में हज़ारों कटारें चमक उठीं। कृष्णचरण की सारी देह में मृत्यु का शीत व्याप्त हो गया, और उसने मीरां की ओर से अपनी दृष्टि हटाकर पृथ्वी पर टिका दी। कुछ देर तक उस खण्ड में निस्तब्धता छाई रही। दोनों में से कोई बोला नहीं, परन्तु सारे खण्ड को इस बात का अनुभव अवश्य हुआ कि वहाँ कोई अगम्य कोड़े बरसा रहा है।

कुछ देर के बाद कृष्णचरण ने देखा कि मीरां के मुख की उग्रता चली गयी है, और उस पर पुनः शान्ति की शीतलता फैली हुई है। मीरां की आँख और वाणी की उग्रता भ्रममूलक तो नहीं थी ? कृष्णचरण ने सोचा कि वह कदाचित् अपने ही भय का प्रतिबिम्ब न हो। साहस करके वह पुनः कहने लगा :

'मैं जानता हूँ कि यदि तुम मीरां न होतीं तो आज मेरा मस्तक धड़ से

अलग कर दिया गया होता...परन्तु अपनी आत्मा के उद्धार के लिए मैंने यह साहस किया।'

'तुम जानते हो कि मीरां परिणीता है।'

'हाँ...यह जानकर ही यहाँ आया हूँ।'

'मेरे लग्न की बातें सुनकर तुम भाग गये थे, क्यों ?'

'हाँ। मुझे भय लगा...कि कहीं ऐसा न हो कि मैं ही अपने लिए तुम से विवाह की माँग कर वैठूं।'

'तुम्हें ख़बर है कि मेरा लग्न भी एक प्रकार का भ्रम ही हैं।'

'कैसे ?'

'हम दोनों ने—मैंने और भोज ने–देह के उपभोग को स्वीकार नहीं किया है। तुम्हारी....कुछ समझ में आता है ?'

'हाँ...और यह जान कर मुझे लग रहा है कि उतने अंश में मेरा पाप कम होगा।'

'और तिस पर भी स्त्री रूप में प्रभु को खोजने तुम यहाँ आये ?'

'हाँ, दूसरा कोई मार्ग दीख न पड़ा।' साधु ने कहा।

'तब तुम्हारी यही वांछा है कि प्रभु स्त्री देह धारण करके पृथ्वी पर अवतीर्ण हों, और तुम्हें तृप्त करें, क्यों ?'

'उस स्त्री-देह का अवतार हो चुका है...देह अर्पण कर एक क़दम आगे बढ़ाये, इतनी ही प्रार्थना है...मैं यहीं पर देह के सामने एक वज्रभित्ति को खड़ी हुई देख रहा हूँ।'

'तुमको विश्वास है कि उस देह की प्राप्ति से तुम्हारे देह की व्यथा शांत हो जायगी, और तुम अपने मुक्ति मार्ग पर अग्रसर हो सकोगे ?'

'मीरां ! मैं उस स्थिति को पहुँच गया हूँ जहाँ....उपभोग का एक ही पल कालकालान्तर की—युगयुगान्तर की—वासनाओं को अलोप करके परम सत्य के दर्शन कराएगी। इस दर्शन में वर्षों से देह-उपभोग की तृष्णा बराबर बाधा पहुँचाया करती है...'

'और तब तृप्ति मिलते ही तुम मुक्तात्मा बन जाओगे ?'

'हाँ। एक यही कंटक खटक रहा है। वह निकल जाय, भस्म हो जाय, द्रवित हो जाय......'

'अच्छा....विष्णु तो शायद ही वरदान दें। परन्तु वरदान के भंडार शंकर के शब्दों में मैं तुमको कहती हूँ....तथास्तु!'

'मीरां! मीरां! मीरां!......' यकायक प्रबल-विह्वलता का अनुभव करनेवाले साधु ने कहा।

'पागल न बनो।'

'तुम मेरी कामना को 'तथास्तु' कहती हो?'

'हाँ।'

'यह वरदान मुझे कब प्राप्त होगा?'

'मेरी देह ने जिस वर को स्वीकृत किया है, उसके मिलते ही।'

'इसका क्या अर्थ?' कृष्णचरण का पागलपन इतना बढ़ गया था कि वह मीरां की बात को ठीक से समझ न सका। उसे ऐसा लगा कि मीरां का वाक्य उसी को लक्ष्य करके कहा गया है, और उसके सुख की घड़ी अब दूर नहीं है। प्रश्न के उत्तर में मीरां के नेत्र खिल उठेंगे, वह लज्जा का अभिनय करके कृष्णचरण को अपने पास आने देगी, और कृष्णचरण के बढ़ाये हुए हाथों को लेकर अपने गले का आभूषण बनायेगी। इस प्रकार की विचार-लहरी में बहनेवाला कृष्णचरण हाथ में आये हुए सुख के उस अंतिम क्षण का आस्वादन करने के लिए अधीर बन गया।

परन्तु मीरां का उत्तर सुनकर उसे ऐसा अनुभव हुआ मानो उसके शरीर पर पुनः कोड़े बरस रहे हों। कृष्णचरण की ओर ज़रा भी स्निग्ध भावना प्रदर्शित किये बिना ही मीरां ने उत्तर दिया:

'अर्थ यही कि...भोजकुमार को आने दो। उन्हें मैं तुमको दिया हुआ वरदान कह सुनाऊँ...उसके बाद वरदान की सिद्धि! भोज के आने तक का समय......'

'मीरां! तुम भी कैसी बात करती हो? कोई भी पति ऐसे वरदान की सम्मति देगा?'

'क्यों नहीं ? जिस पति ने अपने सब अधिकारों का त्याग किया, अपनी देह को भस्मीभूत बनाया, और इतना होने पर भी उसको साथ में रखा, ऐसा पति क्या क्या कर सकता है, यह तुम जान नहीं सकते !'

कृष्णचरण का उत्साह ठंडा हो गया। उसकी समझ में न आया कि मीरां वास्तव में उसके पुण्यकार्य में सहायता देना चाहती थी या उसकी हँसी उड़ा रही थी ?

दूर सुदूर से विजय दुंदुभियों के नाद मंद-मंद आते हुए सुनाई दिये। कदाचित् भोज का सैन्य आ रहा हो ! युद्ध में भोज की विजय हुई थी, यह समाचार मीरां के कान तक पहुँच गये थे—यद्यपि इस विजय का विस्तृत वर्णन उसको किसी ने न बताया था।

'तब...मीरां ! मैं इस समय चित्तौड़ छोड़कर चला जाता हूँ।' कृष्णचरण ने कहा।

'क्यों ?...यह वाद्य सुनायी देता है...कदाचित् भोज आज रात में ही यहाँ आ पहुँचे....तुम जाना मत।' मीरां बोली।

'तुम समझती हो कि भोजकुमार ऐसे अकल्पित कार्य को करने की सम्मति तुम्हें देंगे ?'

'सम्मति का प्रश्न ही नहीं उठता....भोज इतना महान है कि....न जाने कैसे, वह मेरा गिरिधारीलाल बनते बनते ज़रा से के लिए रह गया ! मेरे भक्ति-प्रयोग को सफल बनाने के लिए उसने अपने बंधन में से मुझे पूरी मुक्ति दे दी है...तुम भी मुक्ति मार्ग के प्रवासी हो...तुम्हारी उन्नति होती हो, तुम्हारी अध्यात्मसाधना में प्रगति आती हो तो....जिस देह का मोह न करके उसने त्याग कर दिया, उस देह को तुम्हें सौंपने में उसे क्या आपत्ति होगी ?'

विचित्र लगने वाली मीरां को कृष्णचरण ने ध्यान से देखा। वासना-क्षय के लिए भोग आवश्यक था। उसने कभी सोचा न था—जितनी कल्पना न की थी, उतनी सरलता से मीरां उसकी मनोकामना को पूर्ण करने के लिए तैयार हो गयी....मीरां को कृष्णचरण के प्रति प्रेम न था।

इस बात का अन्तिम प्रमाण तो उसे मिल चुका था। वह इस आशा को लेकर चित्तौड़ आया था कि कदाचित् मीरां के हृदय के एक कोने में उसके लिए कुछ भी प्रीति हो....और उस प्रीति के कारण वह कृष्णचरण की प्रार्थना स्वीकार कर ले। परन्तु ·उसकी यह आशा नष्ट हो गयी। इतना होने पर भी जब कृष्णचरण की आध्यात्मिक सिद्धि के लिए बाधकरूप बनी हुई देहोपभोग की वासना को तृप्त करने के लिए मीरां तैयार हो गयी, तब उसके आश्चर्य का पार न रहा।

कृष्णचरण को अपने पर भी कम आश्चर्य न हुआ। एक वासनातृप्ति ...और साथ ही उसका अध्यात्म मार्ग खुल जाय और उसे भगवान तक पहुँचा दे!

धर्म के लिए भोग! कैसी कैसी मानसिक ऊर्मियां उत्पन्न करती हैं? मीरां के हृदय को इस बात का विश्वास हो गया था कि कृष्णचरण की तृष्णा केवल भोगेच्छा के लिए नहीं थी, किन्तु उससे कहीं अधिक ऊँची उठकर किसी अलौकिक आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त करने की थी।

और धर्मार्थ—धर्म के अभ्युदय के लिए मीरां अपना भोग देने के लिए तैयार हो गयी। ऐसा न होता...धर्म के अभ्युदय का ध्येय न होता, तो मीरां कृष्णचरण की कामना को स्वीकारती क्यों? उस युवा साधु की धारणा दृढ़ होती गयी कि उसकी मांग में भोगकार्य का पातक न था, अपितु धर्मकार्य का महायज्ञ था!

मनुष्य महापाप को भी धर्म के रंग में रंग सकता है! देव को प्रसन्न करने के लिए नरमेध करके वह कृतकृत्य होता है। आत्मवंचना की भूल-भुलैया कैसी होती है?

मीरां के निजी खण्ड के द्वार कभी बन्द न रहते थे। एक सखी ने आकर मीरां को समाचार दिया:

'जयमल देव आ रहे हैं।'

'अच्छा?' कहकर मीरां खड़ी हो गयी। द्वार में उसने शस्त्रसज्ज जयमल को देखा। वह पहले से अधिक बलशाली और विशालकाय लग रहा था। जीवन के एक महागंभीर साहसिक प्रश्न में संलग्न मीरां जयमल

को देखकर अपने सब विचार भूल गयी, और दौड़ कर उससे लिपट गयी। भाई-बहन का प्रेम दिन पर दिन बढ़ता ही जाता था। अपनी वय-वृद्धि का भान मीरां को रहता नहीं। उसकी देह तो उसके मन, उर्मि और भाव को व्यक्त करने की साधनमात्र थी। भाई से वह कुछ देर तक सप्रेम लिपटी रही। उसके बाद पृथक् होते हुए मीरां ने पूछा :

'भाई ! तुम ?...बीच-बीच में इसी प्रकार मिलते रहो तो कितना अच्छा हो ?'

'तुम्हारी भक्ति में बाधा डालने के लिए ?'

'मेरी भक्ति भाई का पार्थक्य नहीं चाहती। मेरे गिरिधारी को तो सब के समागम में आनन्द मिलता है ! इस समय कहाँ से आये ?'

'मैं युद्ध से लौट रहा हूँ।'

'अरे हाँ ! युद्ध को तो मैं भूल ही गयी। भोज कहाँ है ?'

'आ रहे हैं...ज़रा पीछे...बन्दी बनाये हुए मालवा के सुल्तान को साथ लेकर।'

'कुमार ने अपनी बात रखी !....अच्छा ! दादाजी मेड़ता गये ?' मीरां ने पूछा।

'बहिन ! दादाजी मेड़ता जाएँ, अथवा चितौड़ आएँ; उनके लिए तो सर्वथा वैकुण्ठवास ही है न ? और तुम भी जहाँ जहाँ आवास करती हो, वहाँ वहाँ वैकुण्ठ की रचना होती है। बहिन ! आजकल मन कैसा रहता है ?'

'ऐसा क्यों पूछ रहे हो ?'

'इसलिए कि शरीर स्वस्थ लगता है...' सहज हँसकर जयमल ने कहा।

'इस शरीर को देखने के लिए तो यह कृष्णाचरण यहाँ तक आया।' मीरां बोली। जयमलने कृष्णाचरण की ओर नज़र घुमायी। कृष्णाचरण की आँखें पृथ्वी में गड़ी हुई थीं।

'इसीलिए मैंने तुम्हारे मन का हाल पूछा।'

'भाई ! जब हृदय के अणु-अणु में प्रभु का आवास हो जायगा, तब इस

देह की आवश्यकता रहेगी नहीं। तब तक....प्रभु के हृदय में पधारने तक... देह कभी-कभी उपयोगी सिद्ध होती है।'

'इसका तो यह अर्थ कि प्रभुमय जीवन को देह की आवश्यकता नहीं।'

'हाँ...प्रभु मिल जाएँ, तो देह को तो यों फेंक दूँ।' कहते हुए मीरां ने अपनी देह को फेंक देने का अभिनय किया।

'बहिन! तब मन को ज़रा अधिक प्रभुमय बना लो, और एक समाचार सुनने के लिए तैयार....' इतना कहकर जयमल चुप हो गया, और उसने मीरां की ओर देखा।

'क्यों भाई! रुक क्यों गये? कौन-सा समाचार है?'

'जिस समाचार को कहने के लिए किसी की हिम्मत न हुई...उसे कहने के लिए मैं यहाँ आया हूँ।'

'तब कह डालो। रुकते क्यों हो? क्या मैं उसे नहीं सुन सकूँगी?'

'बहिन!...मीरां।....दादाजी संपूर्ण रीति से प्रभुमय बन गये और अपनी देह को उन्होंने त्याग दिया!'

मीरां चौंक पड़ी। दो-चार क्षण उसने स्थिर आँखों से भाई की ओर देखा...और फिर यकायक चिल्ला उठी :

'ओ दादाजी!....तुम चले गये?...मुझे छोड़कर?'

एक क्षण मीरां की आँखें अचल हो गयीं। हृदय स्तब्ध होते होते रह गया। परन्तु उसने एक महती व्यथा का अनुभव किया। आँखों में से धाराएँ बह चलीं, और उन्होंने दादाजी की स्मृति पर अश्रु मौक्तिकों की वर्षा की। कितने ही योद्धाओं को मृत्यु के घाट उतारने वाले जयमल ने बहिन की यह दयनीय दशा देखी, और उसके भी नेत्रों में आँसू भर आये। आखिर मीरां का हृदय मानव हृदय ही था, भले ही वह उसे प्रभुमय बनाने का प्रयत्न करती हो! प्रभुमय जीवन मानवतारहित जीवन कैसे हो सकता है?

जयमल ने कुछ देर तक मीरां को रोने दिया। उसके बाद वह बोला :

'बहिन! भगवान की ओर देखो। मेरी और तुम्हारी निर्बलता पर वे हँस रहे हैं।' जयमल ने गिरिधारीलाल के चित्र को ध्यान से देखा।

'भाई ! दादाजी ने ही मुझे इन हँसनेवाले भगवान के चरणों में रखा ...वे मेरे माँ थे, बाप थे, दादा थे, गुरु थे मेरे !...अब मुझे किसका आश्रय मिलेगा ?....मेरे पागलपन को कौन निभायेगा ?' कह कर मीरां ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

'तुम्हें एक बार जी भर के रोना हो, तो रो लो ! ...परन्तु यों क्यों नहीं सोचतीं कि दादाजी को अपने पास बुला लेने में शायद प्रभु का ही हाथ हो ? प्रभु ने तुम्हें दादाजी दिये...और तुम को भक्ति की प्राप्ति हुई....अब कदाचित् उनकी यह इच्छा हो कि दादाजी का सहारा छोड़ तुम स्वाश्रयी बन जाओ...अथवा प्रभु का ही आश्रय लो !....' जयमल ने कहा।

विजयदुन्दुभी की आवाज़ अधिक निकट आयी, और थोड़ी देर बाद मीरां ने देखा कि तेजल और विजल नीची आँखें किये हुए, उसके सामने खड़े हैं।

'दादाजी को तुम दोनों छोड़कर आये ?' रोते-रोते मीरां ने उन दोनों अंगरक्षकों से पूछा।

'यों क्यों नहीं कहतीं कि हम सब लोगों के लिए स्थान सुरक्षित रखने के लिए वे स्वयं वैकुण्ठ पधारे ?' जयमल ने कहा। दूदाजी के दुःख में समभाव से दुःखी होने वाले मीरां, जयमल, तेजल और विजल कुछ देर तक चुपचाप खड़े रहे। इसके बाद यकायक मीरां की दृष्टि गिरिधारीलाल के चित्र पर गयी...उसने देखा कि भगवान दूदाजी को अपने हृदय से लगाये हुए हैं ! क्षण दो क्षण यह दृश्य दिखाई पड़ा, उसके बाद चित्र पूर्ववत् अकेले गिरिधारीलाल का ही रह गया।

आँखें पोंछते हुए मीरां ने पूछा :

'दादाजी ने मुझे कुछ कहलाया है ?'

'हाँ, "जयश्रीकृष्ण" इतना ही कहलाया है...और इन तेजल और विजल को तुम्हारे पास ही रहने का आदेश दिया है।' जयमल ने कहा।

'मेरे पास...तलवार का त्याग कर एकतारा लेने के लिए ?' मीरां ने पूछा।

'जो भी हो...दादाजी की यही आज्ञा है।'

'अच्छा !....परन्तु भाई ! मुझे यह समाचार जल्दी क्यों न भिजवाया ?'

'तुम्हारे पास यह समाचार ले जाने की और किसी की हिम्मत न हुई ।' जयमल ने कहा ।

मीरां तुरन्त ही स्वस्थ हो गयी । उसने स्नान किया, और रात में ही मन्दिर में जाकर प्रभु के दर्शन किये । दर्शन करने के बाद वह लौट कर अपने खण्ड में आयी, और वहाँ बैठकर वह युद्ध के वर्णन सुनने लगी । जयमल, तेजल और विजल ने भोज के पराक्रमों का सविस्तार वर्णन किया, और अन्त में यह भी समझाया कि भोज को बचाने के लिए दूदाजी ने किस प्रकार अपने प्राण की आहुति दी और इस प्रकार मीरां के सौभाग्य की बात आते ही मीरां को कृष्णचरण याद आया । वह साधु कब उस खण्ड से चला गया था, इस बात का किसी को भी ध्यान न रहा । मीरां ने कहा:

'भाई ! अब मैं स्वस्थ हूँ...तुम तीनों थोड़ा आराम करो...परन्तु उसके पहले इतना करना कि कृष्णचरण की खोज करके उसको मेरा सन्देश देना कि मुझे मिले बिना वह चित्तौड़ से न जाय...मैंने उसे वचन दिया है...भोज इस समय कहाँ होंगे ?'

'राणाजी के पास...बन्दी सुल्तान की सुश्रुषा में....सुल्तान काफ़ी जख्मी हुए हैं ।'

वे तीनों उस खण्ड से चले गये । जाते-जाते वे मीरां की सखियों को उसकी देखभाल का आग्रह करते गये ।

मीरां अब अकेली पड़ गयी । उसने तम्बूरा उठाया और कृष्ण के चित्र के सामने बैठकर गाना शुरू किया :

भज मन चरण कँवल अबिनासी,
जेताई दीसे धरण गगन बिच, तेताइ सब उड़ जासीः
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हे, कहा लिये करवत कासी ।
इण देही का गरब न करणा, माटी में मिल जासी,
यो संसार चहर की बाजी, सांझ पड्यां उठ जासी ।
कहा भयो है भगवा पहर्यां, घर तज भये सन्यासी,
जोगी होय जुगत नहिं जाणी, उलट जनम फिर आसी ।

अरज करूँ अबला कर जोड़े, स्याम तुम्हारी दासी,
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, काटो जम की फांसी।

मीरां का सारा शयनखण्ड विराग-भाव से भर गया। दिन पर दिन उसकी एकाग्रता इतनी बढ़ती जाती थी कि भजन गाते समय उसे आसपास का ज़रा भी भान न रहता। उसने जिस समय तम्बूरा हाथ में लिया उसी समय भोज ने उस खण्ड में प्रवेश किया था। परन्तु भोज के आने की उसे ज़रा भी खबर न लगी। चित्र की ओर से जब उसका ध्यान हटा, तब उसे किसी की हिलती हुई परछाईं दीख पड़ी। उसने तुरन्त घूम कर देखा। भोज को वहाँ खड़ा हुआ पाया। तम्बूरा रखकर मीरां शीघ्रता से खड़ी हो गयी। उसकी इच्छा हुई कि वह दौड़कर भोज को अपने भुजपाश में लपेट ले। परन्तु तुरन्त ही उसे अपनी ही खड़ी की हुई मर्यादा याद आयी। तिस पर भी वह भोज के अति निकट जाकर खड़ी हो गयी, और पूछने लगी:

'आ गये, कुमार ? विजय करके ?'

'मीरां ! यह कदाचित् मेरी अन्तिम विजय हो !' भोज ने उत्तर दिया।

'ऐसा क्यों ?'

'जिस विजय में दूदाजी का भोग देना पड़े, वह विजय किस काम की ? ....मुझे ऐसी विजय पसन्द नहीं।'

'मैं स्वस्थ हूँ, भोज ! मैंने दादाजी को प्रभु के हृदय में प्रवेश करते देखा था...उसी प्रकार...एक बार...मैंने देखा कि दादाजी प्रभु में मिलने प्रयत्न कर रहे हैं...कदाचित् वह उनकी मृत्यु की घड़ी होगी....आज मैंने देखा कि वे पूर्णरूप से प्रभुमय बन गये हैं। मानव प्रभुमय बने, इससे अधिक अच्छा और क्या हो सकता है ?...हम सबको भी तो इसी मार्ग पर जाना है न ?'

भोज क्षण भर मीरां को देखता रहा। यकायक भोज की आँखों में एक विचित्र प्रकार का तेज चमक उठा। कुछ क्षण चुप रह कर उसने हँसते हुए कहा :

'मीरां ! कदाचित् इस मार्ग पर मैं अधिक तेज़ी से जाऊँ !'

'बलैयां लूँ अपने भोज की !...विजयी वीर के मुख में ये शब्द शोभा

नहीं देते ! ...मीरां भले ही भक्त हो...परन्तु साथ ही साथ वह क्षत्राणी भी है, यह न भूलना कुमार ?' मीरां ने कहा।

'मैं यह बात अच्छी तरह जानता हूँ। क्षत्राणी तो जीवन में एक बार जौहर करती है...परन्तु मीरां ! तुम्हारा तो नित्य ही जौहर हुआ करता है।'

'भोज ! मेरा तो दिन का एक जौहर होता होगा...तुम्हारा तो क्षण-क्षण का ! क्यों नाहक दुःख भोग रहे हो ? मैं अभी भी कहती हूँ कि किसी सुन्दरी से विवाह कर लो ! एक-दो युवतियों को मैंने पसन्द भी किया है।'

'पगली ! मेरी यह देह उपभोग के लिए पैदा ही नहीं हुई है।'

'ऐसा क्यों ? मेरे जैसी पत्नी मिली, इसलिए ? मैंने तुमको कितनी बार मना किया था ? कितना समझाया था कि...मैं सुपात्र पत्नी नहीं बन सकूँगी ?....इस समय तुम्हारा यश, तुम्हारी विजय, तुम्हारी प्रतिष्ठा तुमको एक नहीं अनेक पत्नियाँ...'

'यह असम्भव है।'

'क्यों ?'

'मीरां मेरा शरीर चूर-चूर हो गया है। मैं कब से कोशिश कर रहा हूँ कि बैठूं...और बैठकर लेट जाऊँ...परन्तु वैसा करने में अपने को असमर्थ पा रहा हूँ।' भोज ने कहा। उसके मुख पर जो स्मित अभी तक वर्तमान था, वह अदृश्य हो गया था, और उसके स्थान पर कोई अकथ्य पीड़ा का भाव दीख पड़ता था।

'भोज ! कुमार ! क्या हो रहा है...शरीर में ?' मीरां ने अत्यन्त चिन्तित होकर पूछा।

'तुम्हीं को पहली बार कह रहा हूँ...किसी को बुला लो...अश्व के मेरे ऊपर गिरने से शरीर चूर हो गया है....अपने आप न मैं बैठ सकता हूँ...न सो सकता हूँ...कोई आ जाय तो उसका सहारा लेकर ज़रा बैठ जाऊँ !'

'किसी और को क्यों बुलाऊँ ?...मैं नहीं हूँ तुम्हारे पास ?' मीरां ने कहा और तुरन्त भोज के शरीर को पकड़ लिया।

'हम दोनों की प्रतिज्ञा है न कि एक दूसरे का स्पर्श न करना ?'

'जाओ, जाओ ! ऐसी कोई प्रतिज्ञा हो नहीं सकती...स्पर्श की तो अनेक भावनाएँ होती हैं...चलो, मैं तुम्हें सुला दूं।' कहकर मीरां ने मातृत्व भरी वत्सलता से भोज को सहारा देकर पलंग पर बैठाया और लिटा दिया। एक महीन वस्त्र ओढ़ाते हुए उसके मुख से शब्द निकल गये :

'अरे, इतनी चोट लगी है, और तुमने किसी से कहा नहीं ?'

'मैंने सोचा कि धीरे धीरे कष्ट चला जायगा....परन्तु घटने के स्थान पर वह बढ़ता ही जाता है...'

'और ऐसी हालत में, बिना किसी उपचार के, तुम घोड़े पर बैठकर यहाँ तक आये ?'

'हाँ मीरां !....अपना दुःख मैं किसी से कहना न चाहता था...आज तुम्हीं को कहा...असह्य हो गया तब !'

'कब से यहाँ आकर खड़े थे ?'

'तुम्हारा भजन शुरू हुआ, तब से !...भजन सुनकर एक बार लगा कि दर्द अच्छा हो गया। परन्तु जब बैठने लगा तब बैठा न गया....अरे, हिला भी न गया !'

'यहाँ आने के साथ मुझे क्यों नहीं कहा ? मैं विचित्र पत्नी हो सकती हूँ...परन्तु तुम्हारी दुश्मन तो हूँ नहीं ?' मीरां ने कहा।

थोड़ा हँसते हुए भोज ने मीरां की ओर देखा। उसने आँखें बन्द करके सोने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे नींद न आयी।

''वैद्यराज को बुलवाऊँ ?' मीरां ने पूछा।

'नहीं मीरां ! रात बहुत बीत गयी है...जल्दी ही सवेरा हो जायगा....'

'यह नहीं हो सकता।' कहती हुई मीरां उठकर खण्ड के बाहर गयी, और बाहर अर्धनिद्रित अवस्था में लेटी हुई एक सखी को जगाकर उसने कहा:

'बहिन ! जल्दी से वैद्यराज को बुला लाओ। कुमार की तबीयत अच्छी नहीं है।'

देखते ही देखते केवल मीरां के ही महल में नहीं, किन्तु सारे राजप्रासाद में भोज की अस्वस्थता के समाचार बिजली की तरह फैल गये। चारों ओर दौड़-धूप मच गयी। वैद्यराज महल के ही एक विभाग में रहते थे।

अतः उनको ले आने में देर न लगी। सगे-संबंधी, मित्र, दास-दासी, सेना-नायक आदि सब भोज के महल में एकत्र हो गये। राणा संग्रामसिंह और उनकी महारानी कर्मदेवी भी वहाँ आ पहुँचीं। रात्रि के समय जो जो भोज की तबीयत के समाचार जानने के लिए उसके महल में आये, उन सब को यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि मीरां...भक्ति के पागलपन में भोज के दाम्पत्य-सुख को छिन्न-भिन्न करनेवाली उसकी पत्नी मीरां ...एक परम सुशील स्वामिभक्त पत्नी की भाँति उसकी सेवा कर रही है! राजमहल में कुछ लोग इसलिए विशेष रूप से हैरान रहते थे कि भोज कभी मीरां के विषय में कोई असन्तोष व्यक्त न करता था। बल्कि वह यह दिखाने का प्रयास करता था कि मीरां के प्रति उसका प्रेम बढ़ता जाता है। भोज के इस व्यवहार से उनको मीरां पर अधिक क्रोध चढ़ा हुआ था। अभी तक के अपने विवाहित जीवन में भोज का स्पर्श तक न करनेवाली मीरां आज पति के अति निकट बैठी घड़ी-घड़ी उसका स्पर्श करके स्नेहपूर्वक सुश्रूषा कर रही थी! देखनेवालों के आश्चर्य का पार न रहा।

राणाजी और कर्मदेवी जब उस खण्ड में आये, उस समय वैद्यराज भोजकुमार की नाड़ी देख रहे थे। खण्ड के अन्दर और खण्ड के बाहर बहुत से लोग उपस्थित थे, तथापि वहाँ शान्ति पूर्णरूप से फैली हुई थी। वैद्यराज ने निद्रा लाने की दवा दी, और कुमार के शरीर को बराबर सेंक करने की सूचना देकर पूछाः

'सारा शरीर चूर-चूर हो गया है। युद्ध को समाप्त हुए भी आठ दिन हो गये...,किसी को भी पता न लगा कि कुँवरजी को इतनी भयंकर चोट लगी है?'

'कुँवरजी ने अभी तक किसी से कुछ भी न कहा।' कुमार के एक अंगरक्षक ने उत्तर दिया।

'परन्तु...उनके हलन-चलन से, उठने-बैठने से, घोड़े पर सवारी करने से, किसी भी बात से तुमको यह पता न चला कि कुँवरजी के अंग-प्रत्यंग चूर-चूर हो गये हैं?' वैद्यराज ने जरा क्रुद्ध होकर कहा।

'युवराज ने ऐसा एक भी चिन्ह प्रकट नहीं होने दिया।' एक सेना-नायक ने कहा।

भोज ने पिता की ओर देखा। संग्रामसिंह के मुख पर प्रसन्नता की झलक दीख पड़ी। उसकी एक आँख फूटी और एक हाथ कट गया, तिस पर भी उसने मुख से सीत्कार तक न निकाला था। आठ-आठ दिनों तक असह्य वेदना को सहन कर अपनी विजयी सेना के विजयोल्लास में ज़रा भी न्यूनता न लानेवाले राजपूत वीरता की मूर्ति-समान अपने घायल वीर-पुत्र को देख कर परमवीर पिता का हृदय गर्व से भर गया। संग्राम का हाथ सहज ही अपनी मूंछ पर गया, और उसने दिल्ली, अहमदाबाद की विजय को अपनी आँखों के सामने खड़ा पाया। मालवा के सुल्तान को पराजित कर, बन्धन में डाल, चित्तौड़ की शरण में खींच ले आनेवाले पुत्र की यह तितिक्षा पिता को प्रिय लगे, यह स्वाभाविक था...परन्तु साथ ही साथ वे बहुत चिन्तित भी दीख पड़े।

'पालकी तो सेना में थी न?' पिता ने पूछा।

'जी हाँ, परन्तु....मैं घोड़े पर ही बैठकर आया!...पालकी में सुल्तान को बिठाया था।' भोज ने उत्तर दिया।

वैद्य ने दवाएँ दीं, लेप लगाया, पट्टियाँ बाँधीं और सेंक करना शुरू किया। इस प्रकार उन्होंने मीरां की सहायता लेकर भोज के पूरे उपचार का प्रबन्ध कर दिया। चिन्ता का कोई तात्कालिक कारण नहीं है, यह निदान वैद्य के मुख से सुनकर एकत्र जनसमूह अपने-अपने स्थान को लौट गया। केवल थोड़े दास-दासी वहाँ रह गये।

कर्मदेवी की पुत्री और मीरां की ननद उदयकुमारी ने वहाँ से जाते-जाते माँ से कहा:

'माँ! भाभी कैसी सेवा कर रही हैं!'

'उदय! इधर कुछ समय से भाभी पर तुम्हारी प्रीति बढ़ गयी है!' हँसकर माता ने कहा।

'मुझे यह बहू बहुत अच्छी लगती है....यद्यपि कुछ लोगों को इसकी भक्ति पसन्द नहीं।' संग्रामसिंह ने अपना अभिप्राय प्रदर्शित किया।

'मीरां जादू करना न जानती हो, तो अच्छा !' थोड़ा तिरस्कार प्रदर्शित करते हुए कर्मदेवी ने कहा।

'क्या कहती हो, माँ ? उसके भजन में सम्मिलित होकर तो देखो !' पुत्री ने मीरां का पक्ष लिया।

इस प्रकार मीरां ने द्विपक्षी वातावरण उत्पन्न किया। मीरां अपने पति को वांछित सुख नहीं देती, ऐसी प्रचलित मान्यता को धारण करनेवाले लोग जब उसे भोज की सेवा-सुश्रूषा में सतत लगी हुई देखते, तब उनके आश्चर्य का पार न रहता। परन्तु सत्य यही था कि मीरां सारी रात जागरण कर पति की सेवा करती, और बराबर उसके पास बैठी रहती। पति को निद्रा आ जाय और आयी हुई निद्रा में बाधा न पड़े, इसलिए स्वयं रात भर जागकर बितानेवाली मीरां को सवेरा होने पर जाग्रत होकर भोज ने कहा:

'मीरां ! तुम अभी तक यहीं बैठी हो ?'

'हाँ,....वैद्यराज ने कहा है कि नींद से तुमको आरोग्यलाभ जल्दी होगा।'

'परन्तु, मेरी नींद का ख़याल रखने में तुम्हारा जागरण होगा !... तुम्हारा शरीर मेरे शरीर से कम क़ीमती नहीं है।'

'मेरा शरीर !....जिसे मैंने तुमको दिया नहीं ! भोज, ऐसे शरीर की फ़िक्र क्यों करते हो ?'

'उस शरीर में मैं प्रभु का आवास देखता हूँ... अच्छा किया मीरां ! तुमने उसे मुझे दिया नहीं।'

'परन्तु...भोज ! तुमको पता है कि उस शरीर को एक पुरुष माँग रहा है !'

'तुम्हारे शरीर को माँग रहा है ?...कोई पुरुष ?'

'हाँ...तुम नहीं।'

'मीरां ! आश्चर्य होता है तुम्हारे ऊपर...और तुम्हारे शरीर के ऊपर ! ...तब उस माँगनेवाले से तुमने क्या कहा ?'

'मैंने शरीर देने की हाँ कह दी !' भोज की ओर देखते हुए मीरां ने

उत्तर दिया। शरीर में होनेवाली वेदना को क्षण भर भूल कर भोज मीरां को देखने लगा; मानो किसी चमत्कार को देख रहा हो!

'मेरी ओर क्या देख रहे हो, कुमार?' मीरां ने हँसकर पूछा।

'तुम्हारी ओर न देखूँ तो क्या करूँ? ऐसे-ऐसे चमत्कार दिखाती रहोगी तो मेरा दुःख-दर्द भाग जायगा।'

'चमत्कारिक पति की पत्नी भी चमत्कार दिखाए, तो इसमें आश्चर्य क्या?'

'मैं चमत्कारिक पति? कौन कहता है?'

'सारा चित्तौड़ कहता है...मेवाड़ कहता है। सुल्तान को पकड़ कर बन्दी बनानेवाला और कोई सिसोदिया आज तक जन्मा नहीं!'

'कुंभा राणा को न भूलना....हाँ, मैंने जो कुछ किया, वह तो युद्ध का चमत्कार था, सिसोदिया सैन्य का चमत्कार था! पति के रूप में मैंने कोई चमत्कार बताया हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता।'

'तुम्हें याद न हो। मैं तो प्रति-दिन, प्रतिक्षण तुम्हारा चमत्कार देखती हूँ। पत्नी के देह की तृष्णा छोड़नेवाले, उस पर से अपना अधिकार छोड़नेवाले....सारे विश्व में कदाचित् तुम्हीं अकेले होगे!'

'उस देह को तुम दूसरे को देना चाहती हो?'

'हाँ।'

मीरां ने ज्योंही 'हाँ' का उच्चारण किया, त्योंही तेजल और विजल ने तेज़ी से मीरां के खण्ड में प्रवेश किया। तेजल ने कहा:

'मीरां! वह साधु...कृष्णचरण मिल गया।'

'अच्छा! उससे कहो कि आज वह मुझे मन्दिर में मिले।' मीरां ने कहा।

'कहे देता हूँ। वह तो चित्तौड़गढ़ से उतर कर कुछ दूर चला गया था, और वहाँ एक शिला पर सोया हुआ था। ज़रा देर होती तो वह भाग जाता।'

'अच्छा हुआ! वैद्यराज आकर कुमार को देख जायँ...उसके बाद मैं

उससे मन्दिर में मिलूंगी ।' इतना कह कर मीरां ने तेजल और विजल को वहाँ से जाने की आज्ञा दी ।

'मीरां ! यह साधु कौन है ?' भोज ने पूछा ।

'कृष्णाचरण ! मेरे बचपन का अध्यात्म साथी !...जो अब यहाँ आ कर मेरा शरीर माँग रहा है ।'

'मीरां ! वह ऐसी निर्लज्ज माँग क्यों कर रहा है ?'

'क्या करे ? सारा जीवन एक ही वासना में आकर केन्द्रित हो गया है, और आगे बढ़ता नहीं...तब यदि आगे बढ़ना है, तो उस वासना की तृप्ति तो करनी ही पड़ेगी न ?'

'तृप्त करनी पड़े ?...अथवा उस वासना को जलाकर भस्म कर देना पड़े ?'

'जलाने के लिए भी तो अग्नि का स्पर्श करना ही पड़ेगा न ? देखो, भोज ! सामने पार जाना है, बीच में प्रबल प्रवाह बह रहा है, उस पार पहुँचने की लगन लगी हुई है...कहो, ऐसी परिस्थिति में क्या करना ?'

'नाव में बैठकर पार उतर जाना ।'

'नाव न मिले, तो ?'

'तो हिम्मत कर के प्रवाह में कूद पड़ना ।'

'इसी परिस्थिति में कृष्णाचरण पड़ा हुआ है ।'

'कहीं प्रवाह में बह गया, तो ?'

'डूब जायगा, और उसका शव ऊपर आकर किसी भी किनारे पर लग जायगा...कृष्णाचरण डूबने की तैयारी में है; मेरा सहारा लेकर पार जाना चाहता है । हाथ देकर देखूँ...कदाचित् उसका उद्धार हो जाय !'

'मीरां ! एक बात पूछूँ ?...तुम्हारी इच्छा को मान्य रखकर जिस देह को मैंने भ्रष्ट नहीं किया, उस देह को एक साधु भ्रष्ट करेगा ?'

'भ्रष्ट ? तुम्हारा स्पर्श मुझे कभी भ्रष्ट करता ही नहीं । देखो न ? मैं इस समय तुम्हारा स्पर्श करके कैसी शान्ति का अनुभव कर रही हूँ ! मीरां का शरीर दिखाई अवश्य पड़ता है...परन्तु...वह बहुत ही गल गया है...देह-भावना अधिकांशतः उसमें है ही नहीं...यदि कुछ बच गयी होगी और उसे

साधु का स्पर्श भ्रष्टता का भान करायेगा, तो मीरां उस भ्रष्ट देह को फेंक कर दूसरा जन्म लेगी। और कुछ?'

'मीरां की देह को मैं फेंक देने के लिए यहाँ नहीं लाया हूँ। मैं तो उसे यह देखने के लिए ले आया हूँ कि उस देह में भगवान का अवतरण कैसे होता है...और इसलिए उसकी रक्षा करता हूँ।'

'भोज! एक साधु द्वार पर आकर रोटी का टुकड़ा माँगता है....उसे हम रोटी क्यों देते हैं?...इसलिए कि उसकी यात्रा सुगम बने, प्रभु की ओर जाने वाले मार्ग में वह एकदम आगे बढ़े, और उसकी देह में बैठी हुई आत्मा विकसित होकर प्रभुत्व को प्राप्त करे...देह को फेंकना, दे देना यह भी रोटी के टुकड़े को फेंकने के समान ही है।'

'मीरां! दुनिया जानेगी....तो क्या कहेगी?'

'दुनिया की परवाह मैंने और तुमने कभी की है? भोज! मेरे ऊपर नहीं, तो मेरे प्रभु के ऊपर विश्वास रखो। जिस प्रभु ने तुमको सन्मति और संयम प्रदान किये, वह प्रभु कभी मेरी देह को भ्रष्ट न होने देगा, इसका, मुझे तो विश्वास है...और तुमको भी...संभव है इसी मार्ग से मेरी देह का छूटना लिखा हो!'

'देह छोड़ने की बात मत करो, मीरां! मेरी इच्छा है कि जब तक मैं जीवित रहूँ, तब तक यह देह मेरी आँखों के सामने रहे...और मेरी मृत्यु के बाद भी...'

'हाँ हाँ...मेरे भोज! क्या कह रहे हो?....देह का अन्त क्या चिता पर ही होता है?....देहाध्यास हटे, देह का भान न रहे, यही देहत्व का अन्त...बस; और कुछ नहीं।'

'मीरां! मैं तो यही चाहता हूँ कि जो देह आज तक अस्पृश्य रही है, उसका स्पर्श प्रभु के अतिरिक्त और कोई न करे!'

'तुमको छोड़कर...अच्छा! अब अस्पृश्य रखी हुई तुम्हारी देह कह है कि तुम तुरन्त सो जाओ....आराम करो...वैद्यराज आते ही होंगे..

'खैर! तुमको जो अच्छा लगे सो करो।'

'ऐसा नहीं, भोज! मुझसे तंग आकर मुझे दूर न करो।'

'तुम्हारे प्रति ऐसी भावना होती, तो मैं तुम्हारे साथ रहता कैसे ? तुम्हारा प्रभु जो मार्ग बताये, उस मार्ग को ग्रहण करना ।'

'तो मैं तुम्हारी सम्मति कृष्णाचरण को कहे देती हूँ ।'

'इसमें फिर से मेरी सम्मति का प्रश्न क्यों उठाती हो ?...मीरां ! मेरे, तुम्हारे और दुनिया, इन तीनों में कोई एक पागल अवश्य है !

'कदाचित् ये तीनों पागल हों !' कह कर मीरां ने भोज की आँखों पर अपना हाथ रख कर उसे सुला दिया । थोड़ी देर बाद वैद्यराज आये । परन्तु भोज सोता ही रहा । मीरां जागती ही रही । बैठी-बैठी वह भोज को देखती रही । वैद्य के जाने के बाद वह अकेली पड़ गयी । भोज सो रहा था ।

उसके मन में एक ही विचार उठा हुआ था :

—यह कृष्णाचरण......उसके देह की कामना करने वाला साधु... कैसे बुरे समय मिला ?

जिस समय मीरां ने दूदाजी की मृत्यु के समाचार सुने !

जिस समय विजयी भोजकुमार युद्ध में अपने शरीर को निरर्थक बना कर लौटा...उस समय ! वैद्य ने क्या निदान किया ? भोज की स्थिति को गंभीर बताया !

और उसका प्रभु ?...वह तो अभी दूर-सुदूर ही है !

भगवान के चित्र की ओर उसकी दृष्टि गयी । उठकर वह चित्र के सामने आकर खड़ी हो गयी । यकायक उसके कण्ठ में से गान निकला :

> हे री मैं तो दरद दिवानी, मेरो दरद न जाणै कोय ॥
> घायल की गति घायल जाणै, जो कोइ घायल होय ।
> जौहरि की गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होय ।
> सूली ऊपर सेज हमारी, सोवण किस विध होय ।
> गगनमण्डल पर सेज पिया की, किस विध मिलणा होय ।
> दरद की मारी बन बन डोलूँ, वैद मिला नहीं कोय ।
> मीरां की प्रभु पीर मिटेगी, जद वैद संवलिया होय ॥

भोज जाग्रत हो गया । उसने आँखें कुछ कुछ खोलीं । मीरां चौंक

पड़ी......अपने ही गाने से ! भोज जाग गया होगा तो ? उसने घूम कर देखा।

भोज जाग गया था।

'क्षमा करना भोज ! तुम्हें जगाने को मनाही थी, मैंने जगा दिया।' मीरां ने पास जाकर कहा।

'मीरां ! जितना अधिक मैं तुमको देखता हूँ और सुनता हूँ, उतना अधिक मैं शान्ति प्राप्त करता हूँ......उतना मेरा दुःख कम होता है...कुछ और गाओ !'

मीरां की देह का अणु-अणु संगीतमय बन गया। यह संगीत कण्ठ में आया और भोज पुनः गाढ़ निद्रा में सो गया।

५

मीरां की देह की आशा में बैठे हुए कृष्णाचरण को लगा कि अब शीघ्र ही उसके मनोरथ की सिद्धि होगी। इतने ही में दूदाजी की मृत्यु के समाचार आये। भोजकुमार की किसी भी क्षण वहाँ आने की संभावना थी। उसकी आशा पर पानी फिर गया। मृत्यु-समाचार उद्दीपक नहीं होता; और वह स्वयं भी इतना असंस्कारी नहीं था कि ऐसे दुःख के समय देहोपभोग की माँग का आग्रह करे ! लंपट से लंपट पति या नायक भी ऐसे समय अपने मन की भावना को प्रकट नहीं होने देता। उसे मालूम था कि मीरां और दूदाजी एक-दूसरे को कितना प्रेम करते थे। इसलिए उसने यही उचित समझा कि मीरां को ऐसे समय अकेली ही छोड़ना चाहिए।

कृष्णाचरण किसी से बिना कुछ कहे सुने चुपचाप वहाँ से चला गया। उसे भजनीकों और साधुओं की टोली में सम्मिलित नहीं होना था। वह विद्वान था, संगीत विशारद था और तपस्वी था। पूर्ण गंभीरता के साथ वह प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हुआ था। षड्रिपुओं के विरुद्ध उसने

प्रबल युद्ध किया था; मन के निग्रह में कुछ उठा न रखा था। उसने कुछ समय तक सूर्य की ओर अनिमिष नेत्रों से देखा; पंचाग्नि के बीच खड़े रह कर अपने शरीर को झुलसाया; लम्बे समय तक एक पांव ऊँचा करके खड़ा रह गया; उपवास करके देह का शोषण किया; और ॐकार के जप तथा ध्यान में प्रहर के प्रहर बिता दिये। ज्यों-ज्यों वह अपनी देह का दमन करता गया, त्यों त्यों प्रभु-दर्शन के स्थान में मीरां का ही अधिक दर्शन होता गया। सूर्य के तेजवर्तुलों में उसे मीरां की आँख दीख पड़ती। पंचाग्नि के धूम्र में उसे मीरां की पंचरंगी ओढ़नी दीख पड़ती, और अग्नि की शिखाओं में मीरां की चंपकवर्णी काया के दर्शन होते। उपवास की अशक्ति मीरां का भ्रम पैदा करती, और ॐकार के ध्यान में मीरां का नृत्य उपस्थित होता। वह पानी में डुबकी मार कर बैठा; अपने शरीर को भारी पत्थर और लौहखण्ड के नीचे दबाया। हठयोग के ये सब प्रयोग निरर्थक सिद्ध हुए। शरीर व्रणों मे भर गया, परन्तु मीरां का मोह गया नहीं। उसके अणु-अणु मीरां को पुकारते रहे, और मन मीरां की स्मृति में डूबता गया।

उसे विश्वास हो गया कि मीरां के देह-स्पर्श बिना उसका शरीर रहेगा नहीं, और मीरां बिना उसकी आत्मा भूत बन कर भटकेगी। मीरां को प्राप्त किये बिना प्रभु की प्राप्ति होगी नहीं। मीरां द्वारा ही वह प्रभु तक पहुँच सकेगा। मीरां न मिली, तो उसे और मीरां को नये नये जन्म लेने पड़ेंगे जब तक वे एक दूसरे को मिलें नहीं!

कृष्णचरण अपनी वासना के गांभीर्य, भय और अधर्म को अच्छी तरह समझता था। उसे इस बात की आशा न थी कि केवल उसके अध्यात्म-प्रवास की सफलता के लिए मीरां ऐसे कार्य में सहमत होगी, जिसको समाज और शास्त्र गर्हित समझते हैं। परन्तु जब मीरां ने उसके प्रस्ताव को मान लिया, तब कृष्णचरण के आश्चर्य का पार न रहा। पाप करके भी यदि किसी का उद्धार हो सकता हो, तो मीरां ऐसा पाप-कर्म करने के लिए भी तैयार थी! कैसा अलौकिक औदार्य था?

व्याकुलता में कृष्णचरण का मन इस्लाम की ओर गया, वाम-मार्ग की ओर आकर्षित हुआ, और जैन सिद्धान्तों में भी भटका। उसे कहीं भी शांति

न मिली। अन्त में सांई सादुल्ला के आदेशानुसार हिन्दुस्तान के बाहर जाकर उसने मक्का-मदीना अथवा बसरा-बग़दाद के किसी सूफ़ी औलिया की शरण में जाना भी स्वीकार किया।

परन्तु....अन्तिम क़दम उठाने के पहले...एक बार मीरां से मिलना आवश्यक था।

'उससे अपनी व्याकुलता कहूँ ...कोई उपाय पूछूँ?' कृष्णचरण ने सोचा। मीरां से मिलने की तीव्रता जाग्रत हुई।

वह मीरां के पास पहुँचा....उसने अपनी व्याकुलता प्रकट की; और जिस समय उसके तपन की तृप्ति की संभावना दीख पड़ने लगी, उसी समय मीरां के एक परम-स्नेही के मरने के समाचार आये। कृष्णचरण हताश हो गया। अब तो कितने ही दिनों तक, कितने ही मास तक मीरां दुःख में डूबी रहेगी। उसकी संस्कारिता ने उसे मीरां के खण्ड से बाहर निकाला। मीरां का सान्निध्य छोड़ने के बाद क्या करना? चित्तौड़ में रहना, अथवा उसे भी छोड़ कर चले जाना? इस विचार ने उसके मन को काफी व्यथित बना दिया। भगवान पग-पग पर उसकी परीक्षा लेता था...उसे कसौटी पर कसता था....परन्तु इस परीक्षा में भी मीरां को ही सामने लाता था... सामने आकर भी, निकट आकर भी मीरां मिलती न थी!

विचारों में भान भूला हुआ कृष्णचरण पहाड़ के नीचे उतरने लगा। आकाश का तारकमण्डल पर्वत के शिखर पर से जितना दूर दिखाई पड़ता था, उतना ही दूर उसे तराई में से दिखाई पड़ा। मीरां ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर उसका जीवन जीने योग्य बनाया। परन्तु इस स्वीकृति का परिणाम उसे कब मिलेगा? कृष्णचरण और उसके प्रभु के बीच खड़ी हुई मोहिनी मीरां का पान करके उसे आगे बढ़ना था...परन्तु वह क्षण... दूर ही भागता था...पहले भी और आज भी! अभी भगवान न जाने कितनी और यंत्रणाएँ देंगे? कृष्णचरण अपनी इस वासना को केवल स्त्री-भोग की वासना होती, तो उसकी तृप्ति के लिए अन्य अनेक मार्ग खुले हुए थे। वह तो मीरां के भोग की वासना को अपनी तपश्चर्या का एक भाग समझता था!

पहाड़ी दुर्ग से नीचे तराई तक पहुँचते पहुँचते तो कृष्णचरण के मन की व्याकुलता बहुत बढ़ गयी। उसे लगा कि वह अब एक क़दम भी आगे बढ़ न सकेगा। पास ही में स्थित एक बड़ी-सी पत्थर की चट्टान पर वह गिर पड़ा। गिरने से उसे चोट भी आयी। परन्तु उसके मन की व्यथा के सामने शरीर में लगा हुआ पत्थर का आघात पुष्प-स्पर्श सरीखा लगा। उस चट्टान पर ही अपने शरीर को फैलाकर वह पड़ा रहा। चारों ओर अन्धकार था। केवल दुर्ग के ऊपर जलनेवाले दीपक कहीं कहीं अपना प्रकाश फेंक रहे थे। कृष्णचरण जहाँ पड़ा हुआ था, वह जंगल का एक भाग था, पहाड़ से उतरने के मार्ग में न था। दूर से कभी-कभी सैनिक और प्रहरियों के जागरण के शब्द अवश्य सुनाई देते थे, परन्तु उस साधु के आस-पास तो निर्जन अंधकार छाया हुआ था। कृष्णचरण ने ॐकार में ध्यान लगाया, परन्तु वह लगा नहीं। पवन चलने की ध्वनि में उसे मीरां के शब्द सुन पड़े। आकाश की ओर देखा, तो वहाँ तारकगण मीरां की ही आकृति बना रहे थे। अन्धकार में दृष्टि डाली, तो वहाँ भी मीरां की ही मूर्ति निर्मित होती हुई दीख पड़ी। हाथ के ऊपर अपना मस्तक रखकर वह लेटा रहा। उसे आराम मिला, आँखें बन्द होने लगीं, और उसे ऐसा आभास हुआ कि अब निद्रा की शांति उसे अवश्य प्राप्त होगी। निद्रा आयी, कुछ शांति भी मिली, परन्तु उस शांति में पुनः मीरां की ही सृष्टि खड़ी हुई।

गाती हुई मीरां! नाचती हुई मीरां! पूजा करती हुई मीरां! स्नान करती हुई मीरां...नहा कर वस्त्र पहिनती हुई मीरां! पुष्पों का चयन करती हुई मीरां! लुकती-छिपती मीरां!....मीरां की यह दृश्यावली कैसी? मीरां कभी कभी घोड़े पर बैठी हुई दीख पड़ती है!...कभी कभी वह चित्र खींचती हुई भी दृष्टिगोचर होती है! किसका चित्र? कृष्ण का?

'नहीं नहीं, यह चित्र तुम्हारा है, कृष्णचरण!' मीरां स्वयं बोल उठी।

'परन्तु....तुम तो कृष्ण की भक्त हो! मेरा चित्र क्यों खींचती हो?' सहसा कृष्णचरण के मुख से प्रश्न निकल गया।

'तुम भी तो कृष्ण ही हो, कृष्णचरण! मैं तुम्हारा चित्र खींच कर कृष्ण के पास ले जाऊँ....चलो...मेरा हाथ पकड़ लो' मीरां ने कहा।

'तुम तो....परिणीता हो !....परनारी ! मैं तुम्हारा हाथ कैसे पकड़ूं ?'

'बहुत धर्मात्मा न बनो ! प्रभु के पास पाप और पुण्य कैसा ? पाप और पुण्य से परे बनो, तभी प्रभु-प्रदेश में प्रवेश मिलेगा....मैं मुक्त हूँ...प्रभुमय हूँ...पाप मुझे छू नहीं सकता ।'

'ऐसी बात ?...तो मैं हाथ पकड़ूँ ?...लोग मुझे कुछ कहेंगे तो नहीं ?'

'लोक-निन्दा का भय हो, तो जहाँ हो, वहीं पड़े रहो ।'

'नहीं, नहीं । इस प्रकार मुझे छोड़ कर न जाओ....मेरा उद्धार तुम्हारे ही हाथों में है ।'

'तो मेरा हाथ पकड़ो....उठो...खड़े हो...कब तक पड़े रहोगे ?' मीरां ने कहा, और कहकर अपना हाथ लम्बा किया । कृष्णाचरण ने मीरां का हाथ पकड़ने का प्रयत्न किया....इतने ही में उसकी आँख खुल गयी ! उसके सामने दो सैनिक खड़े थे और उससे कह रहे थे:

'उठो; खड़े हो ! कब तक पड़े रहोगे ?'

कृष्णाचरण उठकर बैठ तो गया, परन्तु उसकी समझ में न आया कि उसको उठने के लिए मीरां ने कहा, अथवा इन सैनिकों ने ? मीरां की दृश्यलीला इतनी यथार्थ थी कि ये सैनिक उसे भ्रमरूप लगे । उसने आँखें पोंछीं । चारों ओर दृष्टि डाली । वह था तो चित्तौड़गढ़ की पहाड़ी के नीचे ही ! यद्यपि सूर्योदय पूर्णरूप से हुआ न था तथापि प्रभात की किरण अन्धकार को दूर कर रही थी । जिस शिला पर वह बैठा था, उस शिला को उसने ध्यान से देखा । यह वही चट्टान थी, जिस पर रात्रि के समय गिरकर वह सो गया था ।

मीरां इस स्थान पर आकर अपने देह का प्रदर्शन करे, यह सम्भव न था । अवश्य ही वह स्वप्न में आयी होगी । मीरां स्वप्नरूप थी. और ये सैनिक वास्तविक रूप में खड़े होकर उसको उद्बोधित कर रहे थे, यह बात शीघ्र ही कृष्णाचरण की समझ में आगयी ।

'क्यों भाई ? मैं तो साधु हूँ...मुझे जगाने का कोई कारण ?' कृष्ण-चरण ने पूछा ।

'हाँ; कारण है। बहुत देर तक राह देखी कि तुम जाग जाओगे.... परन्तु तुम जागे नहीं। इसलिए जगाना पड़ा।'

'मेरे जागने की राह क्यों देख रहे थे ?'

'युवराज्ञी मीरां का आदेश है कि तुमको चित्तौड़ के बाहर जाने न दिया जाय।'

'अच्छा ?...यह आदेश कब दिया ?'

'रात में ही...रातभर तुमको खोजकर हम थक गये....अच्छा हुआ यहीं मिल गये, नहीं तो सारा मेवाड़ ढूँढना पड़ता !'

'तब मुझे क्या करना ?...युवराज्ञी तो शोक में हैं।'

'शोकमग्न होते हुए भी उन्होंने कहा है कि तुमको खोजकर उनके पास उपस्थित करना।'

'मैं न आऊँ तो ?...मुझे क्या ? मैं तो साधु हूँ...रमताजोगी !'

'हम लोगों को तो मीरां देवी की आज्ञा का पालन करना ही पड़ेगा... उनके पास खबर भेजते हैं कि साधुजी आना अस्वीकार करते हैं।'

'नहीं भाई ! ऐसा न करो। उस परम भक्त सन्नारी के दर्शन किये बिना मैं जा नहीं सकता....चलो।'

निराश होकर सोये हुए साधु के मन में पुनः आशा का संचार हुआ। मीरां-प्राप्ति की संभावना फिर से खड़ी हुई, यह देखकर उसे बड़ा आनन्द हुआ। मीरां-प्राप्ति की संभावना ने उसे पुलकित किया ? अथवा मीरां की मध्यस्थता से प्रभु-प्राप्ति की संभावना ने ?

वह पुनः चित्तौड़गढ़ की ओर चल पड़ा। चलते-चलते उसके मन में उद्गार निकले, 'प्रभु ! मेरी बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करना !' प्रभु का नाम लेते ही उसके सामने पुनः मीरां की मूर्ति क्यों खड़ी हुई ?

कारण जो भी हो ! उसको मीरां द्वारा ही सत्य का दर्शन होगा, इस बात का उसे दृढ़ विश्वास था। वह मीरां के आवास में पहुँचाया गया। वहाँ उसका अन्य साधुओं से अधिक सत्कार हुआ। मन्दिर में प्रभु-पूजन के कार्य को यथाविधि समाप्त कर मीरां ने कृष्णचरण से कहा :

'चरण ! अब भागना नहीं। प्रभु इच्छा होगी तो तुम्हारी कामना को यहीं सिद्धि मिलेगी।' इतना कहकर मीरां वहाँ से चली गयी, और जाकर भोज की सेवा में लग गयी।

साधुओं में देखते ही देखते बात फैल गयी; मीरां देवी कृष्णचरण साधु को कोई सिद्धि अर्पण करने वाली हैं ! कृष्णचरण का मान बढ़ गया। सम्मान के वह योग्य न था, यह कैसे कहा जाय ? वह शास्त्रार्थ करने में दक्ष था; मनोहर कथावाचक था; महान् संगीतज्ञ था। उसका आचरण भी साधु को शोभा देने वाला था। मीरां के आमन्त्रण और आश्वासन ने उसके आनन्द को बेहद बढ़ा दिया था। प्रतिदिन उसकी मान्यता दृढ़ होने लगी थी कि मीरां के अंग का एक ही रात्रि का उपभोग उसकी सभी पार्थिव इच्छाओं को तृप्त करके अदृश्य कर देगा, और उसके बाद वह पूर्णरूप से प्रभुमय बन जायगा !...मीरां कृष्णचरण का विमान बनकर उसको प्रभु-पद के पास पहुँचा देगी !

मीरां का भी यही खयाल था। नहीं तो उस राजकुमारी ने कृष्णचरण जैसे साधु को कभी का चित्तौड़गढ़ की सीमा से बाहर निकाल दिया होता। मीरां और कृष्णचरण बालमित्र अवश्य थे। दोनों के बीच सद्भाव-समभाव भी था। परन्तु भोज के साथ मीरां का विवाह हो जाने के बाद एक बात निश्चित हो गयी थी कि मीरां का कृष्णचरण के प्रति किसी प्रकार का ऐहिक प्रम नहीं था !

और भोज के प्रति मीरां का कैसा प्रेम था, इस विषय में अनेक किंवदन्तियाँ राजस्थान में फैली हुई थीं। कुछ लोग तो यह भी कहते थे कि उन दोनों में दाम्पत्य जीवन है ही नहीं। रनिवास से फैली हुई इस खबर पर लोगों का विश्वास दृढ़ होता जाता था।

परन्तु आश्चर्य की बात तो यह थी कि भोज और मीरां एक ही महल में रहते थे, साथ-साथ रहते थे, और प्रसन्नता पूर्वक समय व्यतीत करते थे ! यदि दोनों में प्रेम न हो तो क्या इस प्रकार का जीवन बिता सकते थे ?

उनके दाम्पत्यजीवन के सुख का प्रमाण क्या ? मीरां के कोई बालक

हुआ नहीं। क्या यह बात संकेत नहीं करती थी कि पति-पत्नी के बीच कोई गहरा अन्तराय है ?

यदि ऐसा अन्तराय खड़ा हो, तो भोज को मीरां के साथ रहने की क्या आवश्यकता ? उसे अनेक सुन्दर क्षत्रिय-कन्याएँ मिल सकती थीं ! तब वह मीरां के पास से हटता क्यों न था ? मीरां को छोड़, वह अन्य किसी योग्य कुमारिका से लग्न क्यों नहीं कर लेता था ?

मीरां कदाचित् जादूगरनी भी हो ! वह वशीकरण जानती हो ! वशीकरण की विद्या भले ही सात्विक न हो, परन्तु वह विद्या तो अवश्य है, और भोज तथा मीरां का सम्बन्ध यह प्रमाणित करता था कि यह विद्या प्रभावशालिनी भी है। मीरां यदि जादू न जानती होती, तो उसने इस प्रकार भोज को अपने वश में कैसे किया होता ?

परन्तु सच बात यह थी कि मीरां को न रस था जादू में, न तन्त्र में, न हठयोग में, न वाममार्ग में ! वह तो सीधी-सादी एक कृष्णभक्त थी। उसका काम था, गिरिधरलाल के चित्र को देखना, मन्दिर में जाकर उनकी सेवा-पूजा करना, मूर्ति के सामने नृत्य-गान करना, और कभी-कभी उनके सामने बैठकर ध्यान करना ! इसके अतिरिक्त मीरां में अन्य किसी प्रकार का धर्म-भाव भी नहीं था। हाँ, इतना अवश्य था कि उसको पढ़ने का शौक़ था, काव्य-रचना का शौक़ था और चित्र खींचने का शौक़ था। वह कभी-कभी भजन-मण्डलियों में सम्मिलित होती थी, और साधुओं के दर्शन करके उनका सम्मान करती थी। उसे शास्त्र-चर्चा में निरर्थक समय बिताना पसन्द न था। यद्यपि शास्त्र जाननेवाले और शास्त्रार्थ करने में रस लेनेवाले पण्डित और साधु क्वचित् घूमते-घूमते आश्रय के लिए उसके पास पहुँच जाते थे और अपना पाण्डित्य उसके सामने प्रदर्शित करने की इच्छा व्यक्त करते थे। उन सबको वह एक ही उत्तर देती:

'वाद-विवाद के लिए मुझे समय नहीं। उसमें जो समय लगे, वह मैं अपने गिरिधारीलाल की सेवा-पूजा में क्यों न बिताऊँ ? वाद-विवाद की हार-जीत तत्व की हार-जीत नहीं, वह तो मात्र वितण्डावाद की जय-पराजय है। आप अन्यत्र पधारें।'

इस प्रकार वह सात्विक भक्ति में अपना समय व्यतीत करती थी। ऐसी स्त्री को जादूगरनी कैसे कहा जाय ?

उसे किसी की परवाह न थी। परन्तु उसका व्यवहार इतना मधुर होता था कि उसके संसर्ग में आकर प्रायः सभी उसकी प्रशंसा करने लगते थे। मीरां के स्वभाव का माधुर्य प्रभावित न कर सका केवल महारानी कर्मदेवी को! उनकी पुत्री उदयमती एक समय मीरां की विरोधिनी थी। अब न जाने कैसे वह मीरां की भक्त बन गयी थी। कर्मदेवी को अपनी पुत्री के इस भाव-परिवर्तन में मीरां का जादू दिखाई पड़ा।

मीरां के विपय की किंवदन्तियों को कृष्णचरण भी भलीभाँति जानता था। वह स्वयं मीरां के जादू का शिकार बन गया था। मीरां के जादू के असर ने उसको विह्वल बना दिया था। इस असर से मुक्त होने के लिए उसने बहुत प्रयत्न किया...प्रामाणिकता से! परन्तु उसे मुक्ति का एक ही मार्ग दीख पड़ा। उस जादू के वश में हो जाना, और उसके आघात को एक बार सहन करना; आघात सहन किये बिना जादू के असर से मुक्त होना असम्भव था।

कृष्णचरण को आशा न थी कि मीरां उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लेगी। परन्तु आशा एक ऐसी वृत्ति है, जो अशक्य को भी शक्य बनाती है... कुछ नहीं तो कल्पना में ही! आशा के तन्तु में बँधा हुआ कृष्णचरण मीरां के पास आया, और हिम्मत करके उसके सामने अपना प्रस्ताव रखा। मीरां ने जब उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, तब उसके आश्चर्य का पार न रहा। मीरां उसका उपहास तो न करती होगी? उसको भ्रम में तो न डालती होगी? किस विचार से उसने सहमति प्रदान की? अपने कार्य की गम्भीरता पर उसने विचार किया होगा? गम्भीरता का विचार किया हो या न किया हो, परन्तु जब सहमति दी, तब कुछ सोच कर ही दी होगी। कृष्णचरण को भय लगा भोज का! वह इस कार्य के लिए सम्मति देगा?....उसकी आशा की कड़ी दूदाजी की मृत्यु के समाचार से टूट गयी। मीरां के हृदय पर पड़े हुए इस आघात का असर न जाने कब जायगा? कृष्णचरण निराशा के गर्त में डूब गया। दूदाजी की मृत्यु का

समाचार सुनकर उसे भी मीरां के समान ही दुःख हुआ—किसी अंश में कुछ अधिक ही ! उस भक्त की छत्रछाया में वह बड़ा हुआ था। उसकी मृत्यु हाथ में आयी हुई सिद्धि को छीन रही थी। निराशा के आवेश में उसने वह स्थान छोड़ा। चित्तौड़ के प्रति उसे घृणा हुई। रात्रि का समय था, अन्धकार सर्वत्र फैला हुआ था। ऐसे समय पहाड़ पर चढ़ना-उतरना कठिन था। दुर्ग के बाहर जाने का मार्ग उसे मिल गया। चित्तौड़ छोड़ने का निश्चय कर वह रात्रि के एकान्त में नीचे उतरा, और थककर एक शिला पर जा गिरा।

पड़े-पड़े उसे नींद आ गई। नींद में स्वप्न दिखाई पड़ा। उस स्वप्न में उसे मीरां का आमंत्रण मिला।

जागृत जीवन में भी वह आमन्त्रण सत्य प्रमाणित हुआ। आश्चर्य के साथ कृष्णचरण मीरां से मिलने चला। मीरां के उत्तेजक स्वागत ने उसके मन को आनन्द से भर दिया। उसकी प्रतिभा चमक उठी, और शास्त्रार्थ करने की शक्ति तीव्र बन गई। उसकी भक्ति का भावावेश बढ़ गया, और उसके संगीत में अपूर्व रंगत आ गई। देखते ही देखते कृष्णचरण साधुवृन्द का अग्रणी बन गया।

मीरां के आमन्त्रण की वह प्रति दिन प्रतीक्षा करता रहा। भोजकुमार की सेवा में लगी हुई और बचे हुए समय में भक्तिकार्य में संलग्न रहनेवाली मीरां से वह एकान्त में मिल न सका। उसकी व्यग्रता दिन-पर-दिन बढ़ती गयी। एक दिन मन्दिर में से बाहर निकलते समय साधु-मण्डली के बीच में कृष्णचरण को मीरां ने बुलाकर कहा:

'चरण ! कल एकादशी है न ?' मीरां सीधी दृष्टि से कृष्णचरण को देखती रही।

'हाँ, मीरां !' कृष्णचरण ने उत्तर दिया। उसके हृदय में एक विचित्र प्रकार का स्पन्दन हो रहा था।

'इस एकादशी के पर्व पर तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।' मीरां ने कहा और प्रभुस्मरण के आनन्द में नर्तनमय पाँव रखती हुई वहाँ से चली गई।

कृष्णाचरण के हृदय का स्पन्दन बढ़ गया। अन्य सामान्य दिन पसन्द न करके मीरां ने एकादशी का दिन क्यों पसन्द किया ?

कृष्णाचरण ने अपने मन को मनाने का प्रयत्न किया। उसका प्रस्ताव वीभत्स था; कोई समझदार व्यक्ति ऐसा प्रस्ताव करता नहीं। परन्तु उसने यह प्रस्ताव धर्म के लिए किया था। धर्मार्थ किये हुए प्रस्ताव की पूर्ति के लिए मीरां पवित्र दिन निश्चित करे, इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी।

परन्तु इस प्रकार सब लोगों के सामने, साधुजनों के समक्ष मीरां ने यह बात क्यों कही ?

साधुओं में यह बात फैली और वे कृष्णाचरण से पूछने लगे कि उसकी कौन सी मनोकामना पूर्ण होने जा रही है ?

'यह मेरे अध्यात्म-विकास की बात है।' कृष्णचरण उत्तर देता।

'एक अलौकिक युगल-गीत की रचना करनी है।' वह किसी को समझाता।

'यह तो मोक्ष के लिए होनेवाले मेरे उड्डयन की बात है।' तीसरे प्रश्न करनेवाले को वह उत्तर देता।

प्रश्नावलियों की परम्परा से चिढ़कर कभी वह बोल उठता,

'यह तो मेरा और मीरां का व्यक्तिगत प्रश्न है।'

इस व्यक्तिगत प्रश्न के उत्तर का समय निकट ही था। रात्रि में कृष्ण-चरण को बहुत देर तक नींद न आयी। और जब नींद आयी, तब मीरां से भरी हुई !

एकादशी का प्रभात हुआ। कृष्णाचरण जल्दी से उठ बैठा। नित्यकार्य में आज उसे अपूर्व आनन्द आ रहा था। साधु होते हुए भी उसे दर्पण में अपना मुख देखने की इच्छा हुई। दर्पण के सामने जाकर उसने इस बात को देख लिया कि उसका शरीर, विशेष करके उसका मुख प्रभु-प्राप्ति की पात्रता के अनुरूप सुन्दर है। मस्तक पर किया हुआ तिलक शोभा देता था; लम्बी केशावलि व्यवस्थित रीति से लटक रही थी। केश को उसने और संवारा। उसके गले में सुवर्णग्रथित तुलसीमाला सुन्दर ढंग से लटक रही थी। यह माला उसके भजन सुनकर प्रसन्न होनेवाले एक धनाढ्य श्रोता ने

दी थी। उसे ऐसा लगा कि यह माला केवल मंत्र जाप का बेडौल यंत्र नहीं है, अपितु उसके शरीर को सुशोभित करनेवाला एक आभूषरण है। माला उसके शरीर को सुशोभित करती थी या शरीर माला को?...जो भी हो। यह निर्विवाद था कि प्रभु के सामने जाना हो, तो जाना चाहिये प्रसन्नतापूर्वक, कलामय ढंग से, प्रभु को प्रिय लगे ऐसी छवि से !

प्रभु के चिन्तन में से मीरां उद्भवित हुई। सब साधुओं की तरह आज मीरां का भी उपवास था। आज एकादशी के पवित्र दिन उसने सादे शुभ्र वस्त्र धारण किये थे—परन्तु इस सादी वेश-भूषा में भी वह बड़ी ही रूपवती लग रही थी...बैरागन राधा-सी !

प्रभु क्या है ? सौन्दर्य ? सत्य ? अथवा शिव ?

मीरां में आज तीनों ईश्वरीय लक्षरण झलक रहे थे ! प्रभु पुरुष रूप में दर्शन देते हैं, या स्त्रीरूप में ? मीरां के प्रत्येक कार्य में—हलन-चलन, पूजन, गान, सब में—कृष्णचरण को स्वर्गीय संगीत और कविता की झांकी होने लगी। संगीत सुर का रूप न धारण करके मानवरूप धारण करे, तो मीरां का ही आकार बन जाय ! काव्य की भी यही स्थिति ! प्रेम की खोज में निकले हुए विश्व को प्रभु कृष्ण के रूप में मिले। कृष्णचरण को कदाचित् वे मीरां के रूप में दर्शन दें !

कृष्णचरण के शरीर में हलका कम्प हुआ। क्यों ? स्त्री-भोग की कामना करने वाली समाधि क्या प्रभु को पसन्द नहीं आयी ? कृष्ण ने स्वयं क्या-क्या नहीं किया था ? गोपियों के गोरस लूटे, उनके साथ रास-लीला की...इन क्रीड़ाओं में उनको कौन-कौन से अनुभव नहीं हुए होंगे ? भागवत में...परीक्षित को भी इस कृष्ण-गोपी संबन्ध के विषय में शंका उत्पन्न होने का प्रसंग कृष्णचरण को याद आया।

भक्ति तथा तपश्चर्या से शुद्ध बने हुए शरीर एक दूसरे का भोग करें, तो इसमें पाप ही क्या ? प्रभु ने पाप प्रकटाने वाली ग्रन्थियों का निर्माण ही क्यों किया ? कृष्णचरण की सारी देह—देह का प्रत्येक अंग कठिन तपश्चर्या द्वारा विशुद्ध बन गया था।...और जब मीरां ने अपनी सम्मति दे दी तब उसके साथ भोग-कार्य पाप कैसे गिना जाय ?

मीरां उसे क्या कहकर बुलायेगी ? मीरां को कृष्णाचरण क्या कहेगा ? ...इस प्रकार...कृष्णाचरण दिन भर विचारों के रंग-बिरंगे बादलों में उड़ता रहा, और चंदन-कस्तूरी के परिमल में स्नान करता रहा...आज उसे अपने मित्रों का—साधु-मित्रों का साथ अच्छा न लगता था...आज उसने किसी को बोध-वचन भी न कहे, और किसी के साथ शास्त्र-चर्चा भी न की। आज एकादशी के पवित्र दिन पर लोग उससे सरस संगीत की आशा रखते थे; परन्तु उसने एक भी भजन नहीं गाया।

धीरे-धीरे रात्रि का आगमन हुआ। कृष्णाचरण अन्य साधुओं का साथ छोड़कर अलग घूमने लगा। मन्दिर के प्रांगण में दीपक जल रहे थे। साधुमण्डली भजन गा रही थी। मन्दिर के बगीचे में एक एकान्त स्थान में कृष्णाचरण बैठा हुआ अपने मन की उलझन सुलझा रहा था, इतने में एक साधु ने उसके पास आकर कहा :

'साधो!'

कृष्णाचरण चौंक उठा। उसके हृदय में मानों बिजली दौड़ गयी।

'क्या है ? मुझसे कहा ?'

'हाँ।'

'क्या काम है ?'

'मीरांदेवी आपको याद कर रही हैं।'

'अच्छा' कहकर कृष्णाचरण खड़ा हो गया। पाँव उठाते ही उसे एक विचित्र प्रकार का अनुभव हुआ। उसके पाँवों में बल था, या निर्बलता ?... वे स्थिर थे, या अस्थिर ?

भान भूला हुआ कृष्णाचरण जब मीरां के खण्ड में पहुँचा और सोलहों शृंगार सजकर बैठी हुई मीरां को उसने देखा, तब उसका हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा।

'कृष्णाचरण ! चलो; आज तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।' कहकर मीरां उठ खड़ी हुई और कृष्णाचरण के सामने आयी। आज मीरां की देहमें किसी देवकन्या जैसी प्रभा देख पड़ती थी, परन्तु मुख पर शीतलता को छोड़कर और कोई भाव दृष्टिगोचर नहीं होता था। न देख पड़ी उसमें प्रेम

और काम की विकलता, अथवा लज्जा और संकोच की व्यग्रता ! देह अर्पण करनेवाली सुन्दरी में इतनी शीतलता क्यों ? उसने न कृष्णचरण का हाथ पकड़ा, न अंगुली से उसका स्पर्श ही किया। अरे इतना ही नहीं, उसकी साड़ी का कोई भाग भी कृष्णचरण को छूने के लिए उड़ा नहीं। मीरां की इस शीतलता ने कृष्णचरण को स्तब्ध बना दिया। उसमें इतनी भी हिम्मत न रही कि वह बढ़कर मीरां का स्पर्श करे, अथवा उसकी दृष्टि से दृष्टि मिलाये।

इस एकान्त स्थान को छोड़कर मीरां उसे अन्यत्र कहाँ ले जाती थी ?

कदाचित् इससे भी अधिक एकान्त और सुसज्जित खण्ड में ले जाती हो !

कुछ दासी और सखियों को छोड़ वहां और कोई दीख न पड़ता था। ये भी मीरां के व्यवहार से आश्चर्यचकित होकर दूरदूर घूम रही थीं। कृष्णचरण ने सोचा कि शीघ्र ही ये भी अदृश्य हो जायंगी।

परन्तु मीरां तो उसे और आदमियों के बीच से होकर मन्दिर के निकट साधुओं के लिए बने हुए प्रांगण की ओर ले जा रही थी। भजन-कीर्तन और वाद्य की ध्वनि निकट आरही थी; अन्तिम एकान्त स्थान आते ही कृष्णचरण ने पूछा:

'मीरां ! मुझे कहां ले जा रही हो ?'

'क्यों ? कीर्तन-चौक में !'

'वहाँ क्यों ?'

'देखो इधर आओ......सामने मन्दिर के द्वार खुले हुए हैं... ...मेरे गिरिधारीलाल की मूर्ति को देखो, वह दीपक के प्रकाश में कैसे हँस रही है! ...सामने साधु मंडली भजन की धुन में लगी हुई है...'

'यह तो मैं देख रहा हूँ....आज से नहीं...आया तब से,...परन्तु आज का विशेष कार्य तो तुमको याद है न ?... जिस कार्य के लिए मुझे यहाँ बाँध रखा है !

'हाँ, भली भांति याद है...अच्छा किया तुमने स्मरण कराया...... कदाचित् मूर्ति के पास पहुँचकर मैं अपना वचन भूल जाती...देखो सब तैयारी हो गयी है...बीच में वह पलंग बिछा है, सो देखा ?.... ठीक प्रभुके

सामने... और साधु मंडली के बीच ! कैसी सुन्दर व्यवस्था है !'

'तुम्हारी व्यवस्था मेरी समझ में न आयी ।'

' इसमें समझने की बात ही क्या है ? तुम्हारा उद्धार होता हो, तो भले ही मेरा यह शरीर तुम्हें अर्पित हो !'

'परन्तु क्या देहार्पण सबके सामने होगा ?' ज़रा चिढ़कर कृष्णचरण ने पूछा ।

'धर्मकार्य के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष क्या ? कृष्णचरण ! यदि मेरे देहार्पण से तुम्हें प्रभु मिलते हों, तो मुझे...अपनी देह की ज़रा भी पर्वाह नहीं ।'

'मीरां! क्या वचन पूरा करने की यही रीति है? सबके सामने.......'

'तब तुम्हें एकान्त चाहिये....यही न ?'

' हाँ एकान्त बिना कहीं देहार्पण होता है?'

' देहार्पण क्या, यह मैं जानती नहीं... मुझे क्या खबर ? मैंने तो समझा कि देहार्पण एक उत्सव है और उत्सव तो प्रभु के समक्ष ही होना चाहिये ।'

' एकान्त में देहार्पण के लिए तैयार हो, तो वह मुझे स्वीकार होगा... नहीं तो मैं समझूँगा कि तुमने मुझे झूठा वचन दिया था !'

' साधो ! इतने में नाराज़ हो गये ? जो मीरां सब के सामने अपने शरीर को समर्पित करने के लिए तैयार है, वह एकान्त में समर्पित न करेगी ? चलो...हम दोनों लौट चलें...देखो....इस खण्ड में तुमको एकान्त लगता है ?' मीरां कृष्णचरण का हाथ पकड़कर उस स्थान से लौटी और पास ही के एक खण्ड में प्रवेश करके उसने कहा ।

मीरां की दो-तीन सखियाँ वहाँ घूम रही थीं । वे मीरां और कृष्णचरण को देखकर वहाँ से हट गयीं ।

'यहां तो लोगों का आना-जाना होता रहता है ।' कृष्णचरण ने कहा । उसके हृदय का उत्साह कुछ घट रहा था ।

'अच्छा आओ ! इससे भी अधिक एकान्त खण्ड में तुम्हें ले जाऊँ...देखो, यह बड़ा ही एकान्त खण्ड है....' मीरां ने एक शान्त स्थान बताकर कहा ।

'वहाँ... कौन बैठा है ?' एक ध्यानस्थ युवती को बैठी हुई देखकर साधु ने कहा।

'वह तो मेरी ननद हैं....मैं जिस प्रकार की भक्ति करती हूँ, वह मेरी सास को पसन्द नहीं....परन्तु मेरी ननद को भक्ति का स्वाद मिल गया है। सोहागिन हैं...परन्तु अब मेरी तरह ये भी अपने शरीर को दूषित नहीं होने देतीं....बहिन ! हम दोनों को ज़रा एकान्त दे दो...तुम कीर्तन-चौक में चलो, मैं भी वहीं आती हूँ।' कहकर मीरांने एकान्त में ध्यान लगानेवाली अपनी ननद को बाहर भेज दिया, और खण्ड के द्वार बन्द करके सांकल चढ़ा दी। दीपक की चमकनेवाली ज्योति के अतिरिक्त वहाँ और कोई वस्तु हिलती-डोलती न थी।

कृष्णचरण का हृदय धड़कने लगा। उस साधुने कभी सोचा न था कि स्त्री के साथ एकान्त इतना भयप्रेरक होगा। कृष्णचरण के शरीर में कम्प हुआ। अनुपम अलंकारों से सजी हुई एक तेजस्वी राजरानी और एक निःसत्व साधु ! सूर्य को भी चकाचौंध करनेवाले तेजपुंज के सामने उड़ता हुआ एक बिचारा जुगनू !

'बोलो यहाँ तुमको एकान्त लगता है?' मीरां ने पूछा।

'हाँ...परन्तु मीरां ! तुमको...भी...एकान्त लगता है न ?' कम्पित मन से कृष्णचरण ने कहा। क्या वास्तव में उसके हृदय में कम्पन हो रहा था ? या दीपक की ज्योति हिल रही थी ?

'एकान्त ? मुझे एकान्त कैसे लगे ?'

'क्यों ?...अब यहाँ कोई नहीं है...'

'दो आदमी हैं...मैं और तुम !....एकान्त तो बिलकुल अकेले को कहा जाता है।'

'मीरां ! मैं तुम्हारी कामना करके आया हूँ...परन्तु न जाने क्यों तुम्हारा भय लगता है...तुम कोई ऐसा वातावरण उत्पन्न करो जिसमें मेरा भय जाय, और तुम और हम कुछ क्षणों के लिए एक बन जायँ...उसके बाद तो प्रभु के मार्ग पर निरन्तर प्रयाण...'

'प्रभुमार्ग, वह दूर कहाँ ? पैर रखो वहीं प्रभु का मार्ग ? तुम्हें

एकान्त चाहिये न ?....तुम्हें जहाँ एकान्त लगता है, वहां मुझे....अरे, देखो देखो !...मैं कहाँ से एकान्त लाऊँ ?'

'क्या दीख पड़ता है ?...कौन दीख पड़ता है, मीरां ?'

'अरे, तुम्हें आँख नहीं है ?...इधर देखो ! बंशीवट के नीचे मुरली बजाते हुए मुरलीमनोहर को ! ...गिरिराजधारी त्रिभंगाकार में खड़े हैं... यह रासमण्डल दीख पड़ता है ! कृष्णचरण, धन्य भाग मेरे और तुम्हारे ....कि इस खण्ड में प्रभु-लीला के दर्शन हों !...सारा खण्ड प्रभु के रूप से भरा हुआ है...यहाँ एकान्त या खाली स्थान ही कहाँ है ?...तुम जो चाहते थे, वह मिल गया न ?' मीरां ने पूछा। उसकी आँखें स्थिर थीं, मानो किसी प्रत्यक्ष दृश्य को देख रही हों !

कृष्णचरण कुछ लज्जित हुआ। उसको कोई भी दृश्य दीख न पड़ा। परन्तु उसको यह आभास हुआ कि यह स्थान एकान्त नहीं है।

'दूसरा कोई ऐसा खण्ड नहीं है, जहां तुमको ऐसा कुछ दीख न पड़े ? ...और तुमको भी पूर्ण एकान्त का अनुभव हो ?' डरते-डरते कृष्णचरण ने पूछा।

'प्रभु को सृष्टि में से दूर करें, तब ऐसा एकान्त मिले...तुम और हम ऐसा कर सकते हैं ?...'

'एकान्त...'

'कहाँ है, कृष्णचरण ! ऐसा एकान्त ?...मेरे गिरिधरलाल बिना मुझे एक अणु भी नहीं दीख पड़ता, तब नितान्त एकान्त खण्ड मैं कहां से लाऊँ ?...इससे अच्छा मानवों के बीच चलना ....चलो।'

'मीरां ! मुझे क्षमा करो....मेरी भूल हुई...भयंकर भूल !...मुझे दो सूजे दो, अपनी आँखें फोड़ डालूँ...मीरां ! यह मुझे क्या हो गया ?...मुझ पापी को...' कृष्णचरण के हृदय में पश्चात्ताप की ज्वाला धधक उठी। जितनी तीव्रता के साथ वह मीरां की ओर आकर्पित होकर आया था, उतनी ही तीव्रता से उसके पाश्चात्ताप की आग बढ़ी। वह मीरां के चरणों में गिर पड़ा, परन्तु मीरां को इसका पता न चला। वह तो खण्ड में फैली

हुई कृष्णलीला को देख रही थी। पश्चात्ताप का दारुण दाह कृष्णचरण से सहन नहीं हुआ। वह भान भूल गया। अन्तर्वेदना उससे सहन न हुई। यकायक वह खण्ड में स्थित एक स्तंभ की ओर दौड़ा, और देखते ही देखते उसने अपना सिर वेग के साथ उससे टकरा दिया।

मीरां चौंक पड़ी। रासलीला का दृश्य उसकी आँखों के सामने से अदृश्य हो गया। उसने देखा कि कृष्णचरण का सिर फूट गया था और उसमें से रुधिर की धारा बह रही थी। एक आघात से कृष्णचरण को संतोष नहीं हुआ। दूसरी बार पुनः मस्तक फोड़ने के लिए वह स्तंभ को देखने लगा। इतने में मीरां ने दौड़कर कृष्णचरण को पकड़ लिया।

'हाँ, हाँ, साधो! यह क्या कर रहे हो? कृष्णलीला अदृश्य हो गयी, अब यहाँ पूर्ण एकान्त है...हम और तुम दो ही हैं....'

'मीरां! मुझे...अपने सिर को फोड़ कर उसके टुकड़े-टुकड़े करने दो! ...मेरे लिए अब मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ रहा नहीं...'

'भाई चरण! बस...अब तुमको प्रभु का मार्ग मिल गया....तुम्हारा दूषित रुधिर...यदि हो तो...सब बह गया।' कह कर मीरां ने अपनी क़ीमती साड़ी का पल्ला फाड़कर कृष्णचरण के मस्तक पर पट्टी बाँधना शुरू किया... इतने ही में द्वार पर यकायक एक प्रबल प्रहार हुआ और वह टूट कर गिर पड़ा।

द्वार के बाहर सांईं की प्रचण्ड मूर्ति खड़ी थी। उसका मुख विकराल बना हुआ था। मीरां द्वारा सुश्रूषा स्वीकार करनेवाले कृष्णचरण के पास आकर साँईं ने कहा :

'अभी तक जीवित बचा हुआ है तू...कुलांगार?'

'कुल का तो पता नहीं...परन्तु अंगार अवश्य हूँ...मरना चाहता हूँ... इसी क्षण...'

'जीभ काटकर मरने की हिम्मत न हो तो ले यह कटार...भोंक ले अपने कलेजे में...यह भी न कर सको, तो मुझे कहो....मैं तुम्हारे कलेजे को चीर डालूँ...' कहते हुए साँईं ने कृष्णचरण के सामने एक कटार फेंकी, और

दूसरी कटार अपने हाथ में रखकर कटार सरीखी आँखों से वह साधु की ओर देखने लगा।

कृष्णाचरण हाथ बढ़ाकर कटार को उठाये, उसके पहिले ही मीरां ने उसे उठाकर दूर फेंक दिया।

'सांई! चरण तो मेरा भाई है...जयमल सरीखा! उसे कटार के आघात से मरते हुए मैं देखना नहीं चाहती...' मीरां बोली। घाव पर से रुधिर पोंछ कर उसने पट्टी बाँधी, और कृष्णाचरण का हाथ पकड़कर धीरे धीरे वह आगे चली। पीछे पीछे वहाँ एकत्र होने वाले साधु, रक्षक और सखियों का वृन्द चला।

'यह भाई है? इस नाम के योग्य यह बना नहीं...खैर...' कहकर सांई ने अपने पैर पृथ्वी पर पटके, और चलते-चलते कृष्णाचरण से कहा:

'तुम्हारा और मेरा पाप मरे और मारे विना जायगा नहीं!'

'सांई! यदि मैं जीता रहा, तो इस पाप के प्रायश्चितरूप हरे वृक्ष में आग लगाकर उसमें जल मरूँगा।' कृष्णाचरण ने कहा।

'कैसा पाप? और किस बात का पाप? चलिये सांई! आप भी मेरे साथ चलिये...पाप मरने से नहीं कटेगा, वह तो प्रभु के चरणस्पर्श से ही जायगा।' कहकर मीरां सांई को भी साथ में लेकर मन्दिर के पास पहुँच गयी। इसके पहिले ही महल में अनेक प्रकार की बातें फैल गयीं। इन सब में मुख्य बात यह थी कि मीरां ने पापी कृष्णाचरण का उद्धार किया!

मन्दिर में आज की एकादशी के दिन मीरां ने सुन्दर कीर्तन किया। समाप्तिगीत गाते-गाते तो सारी साधुमण्डली डोलने लगी।

माई मैं तो गोविंद लीन्हो मोल।
कोई कहे सस्तो कोई कहे महँगो,
लीन्हो तराजू तोल......माई०
वृन्दावन की कुँजगलिन में,
लीन्हों बजाई ढोल........माई०

कोई कहे घर में, कोई कहे बन में,
राधासंग किलोल............माई०
मीरां के प्रभु गिरधरनागर
आवत प्रेम हिंडोल..........माई०

प्रेम की भक्ति की मादकता सबके ऊपर छा गयी । मीरां ने कृष्णचरण को साथ में लिया और उसकी शुश्रूषा का समुचित प्रबन्ध करके वह भोज के पास आयी । जाते-जाते उसने कृष्णचरण की परिचर्या करनेवालों को ताकीद की कि वे इस बात का खयाल रखें कि पश्चात्ताप के आवेश में कृष्णचरण कोई विचित्र कार्य न कर बैठे ।

भोजकुमार जाग ही रहा था । रात्रि में दूर से आनेवाली मीरां की गाई हुई सुरावलि भी उसके कान में पड़ी ।

'देह का टुकड़ा साधु को देकर आयी, मीरां ?' मीरां को अपने निकट बैठाकर भोज ने पूछा ।

'हाँ, कुमार !...परन्तु उस देह के टुकड़े के स्पर्श बिना ही उसे प्रभु का मार्ग मिल गया ।'

'मीरां ! एक बात पूछूँ ?...प्रभु वास्तव में दिखाई पड़ते हैं ?'

'हाँ, भोज...परन्तु उनका स्पर्श अभी तक मिला नहीं....'

'मैं तुमसे एक वचन चाहता हूँ...दोगी ?'

'तुमको ? मेरे भोज को ? वचन ही क्या, जो मांगो सो दूं !'

'मुझे और कुछ नहीं चाहिये...केवल एक वचन !...मेरा हाथ पकड़ कर प्रतिज्ञा करो ।'

'लो, यह मेरा हाथ ! मैं वचन देती हूँ...मेरे शरीर का सर्व अधिकार छोड़ने वाले को मैं सर्वस्व दे सकती हूँ' कहकर मीरां ने भोज के हाथ में अपना हाथ रख दिया ।

'तो...मीरां ! मुझे वचन दो कि जब तक प्रभु माँगें नहीं, प्रभु तुम्हारा स्पर्श न करें, तब तक अपने इस शरीर को तुम बचाकर रखोगी ।'

मीरां चौंक उठी । भोजकुमार ने ऐसा वचन क्यों माँगा ?

'अच्छा...परन्तु भोज ! मेरी समझ में नहीं आता कि'...मीरां अपना कथन पूरा करे, इसके पहले ही भोज बोल उठा :

'तो अब समझ लो कि मेरी यह देह भी जल्दी में प्रभुमार्ग में प्रयाण कर रही है। मेरे मरने के बाद तुम अपनी देह को भस्मीभूत न बनाओ, इसलिये दुःख सहकर भी मैं अभी तक जीता रहा हूँ....और तुमसे मैंने यह वचन लिया। अब प्रभु.......'

'भोज ! मेरे सौभाग्य ! यह क्या बोल रहे हो ?'

'वचन जो मुझे दिया है...उसको याद रखना' कह कर भोज सो गया।

निद्रा में से वह जागा अवश्य, परंतु पलंग पर से वह फिर उठ न सका...मीरां की अहर्निश सेवा-शुश्रूषा होते हुए भी ! मीरां के आध्यात्मिक जीवन को पोषण देने के लिए, उसके सांसारिक जीवन की रक्षा करने के लिए और उसके आत्मविश्वास को बढ़ाने के लिए ही भोज अभी तक जी रहा था। अब उसने समझ लिया कि मीरां की भक्ति खरा सुवर्ण है, संसार की मोह-माया उसे छू नहीं सकती, और उसका आत्म-विश्वास अग्नि-पान करने में भी समर्थ है। इस बात का विश्वास हो जाने पर भोज को अपने जीवन की कोई लालसा रही नहीं। उसने अपनी देह को पंचभूतों में मिला दिया।

मृत्यु के कुछ समय पहले भोज ने अपने पिता से प्रार्थना करके मालवा के सुल्तान को क़ैद से छुड़ाया था और उसका राज्य उसको पुनः दिला दिया था।

और मालव-सुल्तान का विजेता उसको बन्धनमुक्त कर स्वयं अपने देह-बन्धन को छोड़ चला गया—मीरां को वैधव्य देकर ! अथवा मीरां की भक्ति को एक श्रेणी ऊपर चढ़ाकर !

मुक्ति के पथ पर

१

और मीरां विधवा बन गयी ! भोजकुमार—संग्रामसिंह के युवराज की मृत्यु हुई; महारानीपद जिसके लिए तैयार हो रहा था, उसके भाग्य में वह लिखा न था। मीरां को इसका जरा भी दुःख न हुआ। उसे कुँवरानी, रानी या महारानीपद का कभी मोह हुआ नहीं। इसलिए जब महारानीपद की आशा जाती रही, तब उसे जरा भी क्षोभ न हुआ। उसे दुःख हुआ केवल भोज सरीखे जीवनसंगी को खोकर ! भोज उसका पति था, परन्तु पति से भी अधिक वह उसका मित्र बन गया था। सारे राजस्थान में यदि कोई मीरां के हृदय को सच्चे प्रकार से समझ सका था, तो वह भोज ही था जिसने मीरां की आध्यात्मिक प्रगति के लिए अपने सारे अधिकारों को तिलांजलि दे दी थी।

अकेली पड़ी हुई मीरां रो-रोकर थक गयी। धीरे-धीरे उसके आँसू भी कम होने लगे। पति को दिये हुए वचन के कारण वह सती भी न हो सकी। दुःख भूलने के लिए उसने अपने गिरिधारीलाल की सेवा-पूजा में अधिक मन लगाया। साधुजनों की संख्या बढ़ती चली; भजन-कीर्तन अधिक होने लगे; और इस प्रकार मीरां का संसार के प्रति विराग बढ़ने लगा। क़ीमती वस्त्रा-भूषण का उसने त्याग किया; सादे वस्त्र धारण किये, तुलसी की माला पहिनी और हाथ में करताल लेकर प्रभु में मन पिरोया। कभी कभी तम्बूरा या

एकतारा लेकर वह भगवान के सामने भजन गाती। भक्ति के आवेश में वह नाचने भी लगती। प्रभु के भोग में वैविध्य बढ़ा, उनके वस्त्राभूषण अधिक क़ीमती बनवाये गये, और मन्दिर अधिक सजाया गया। मीरां का अधिक समय मन्दिर में ही व्यतीत होने लगा। महल में स्थित अपने खण्ड के विषय में वह उदासीन हो गयी। वहाँ शृंगार का कोई भी साधन नहीं रहा। उसका भोजन भी धीरे-धीरे सादा, रूखा-सूखा बनने लगा। आभूषणों में चूड़ियों के स्थान पर हाथों में मात्र गुंजमाला दीख पड़ने लगी।

साधु कृष्णचरण अब मीरां के मुख की ओर देखता न था; उसकी दृष्टि केवल मीरां के चरणों पर ही लगी रहती—लक्ष्मणजी जिस प्रकार सीता को देखते थे! उसने कई बार इच्छा प्रदर्शित की कि वह मीरां का सान्निध्य छोड़ कहीं अन्यत्र चला जाय; परन्तु मीरां ने उसे जाने न दिया।

'कृष्णचरण! तुमने तो मुझे अपना गुरुस्थान दिया है न?' कृष्णचरण की चित्तौड़-छोड़ने की प्रार्थना सुनकर मीरां ने कहा।

'हाँ! मैंने अनेक गुरु किये; परन्तु सच्ची गुरु तुम्हीं निकलीं। तुम्हीं ने सच्चा प्रभु-मार्ग बताया।'

'तो अब गुरु की आज्ञा बिना तुम यहाँ से हट नहीं सकते।'

'बात तुम्हारी ठीक है, मीरां! परन्तु इस संसार की जीभ को जीतना कठिन है। मैं यहाँ से हट जाऊँ, तो मेरे कारण जो कलंक की कालिमा तुम्हारे आसपास फैली हुई है, वह चली जाय।'

'संसार को जीतनेवाले के लिए संसार की जीभ का भय नहीं! कृष्णचरण! कलंक तो मेरे गिरिधरलाल का नाम लेते ही अदृश्य हो जाता है। भक्त लोक-भय से भागता नहीं!'

'परन्तु मीरां! मुझे भय लगता है कि मेरी उपस्थिति कहीं तुम्हारे ऊपर आफ़त न ले आये!'

'इस विषय का मुझे भय नहीं—भोज गया! मेरे ऊपर इससे बड़ी आफ़त और कौन आयेगी?—बाल्यावस्था में हम दोनों ने साथ-साथ भक्ति की... कृष्णचरण! अब प्रभु के पंथ पर भी हम दोनों साथ-साथ चलें।'

'तुम तो प्रभु के पास पहुँच गयी हो....मैं अभी धुँधले वातावरण में भटक रहा हूँ...'

'भाई ! चिन्ता न करो, यह धुँधलापन घट्ट बन कर श्याम स्वरूप धारण करेगा, और तुमको दर्शन देगा...मुझे छोड़कर तुम्हें कहीं दूसरी जगह जाने की आवश्यकता नहीं।'

मीरां ने कृष्णचरण को सान्त्वना तो दी; परन्तु उस साधु की धारणा के अनुसार मीरां पर आफ़तें आने लगीं। रनिवास में मीरां पूर्णरूप से अप्रिय बन गयी थी। युवराज्ञी होने के नाते उसे प्रतिष्ठा अवश्य मिली थी। भोज की मृत्यु के बाद वह भी चली गयी। मीरां को इसका भी दुःख न हुआ। कारण यह था कि भोज के जीवनकाल में भी उसने इस प्रतिष्ठा को कोई महत्व न दिया था। सिसोदियों का राजतंत्र धीरे धीरे महत्ता प्राप्त कर रहा था। संग्रामसिंह के वीरत्व ने मेवाड़ को सारे भारत में उच्च स्थान प्राप्त कराया था। चित्तौड़ अब एक महान नगर बन गया था। क़िले की छाया में धीरे धीरे बढ़ने वाला यह नगर देश के प्रसिद्ध व्यापारी, सर्राफ़, कारीगर और बन्जारों को आकर्षित करने लगा था। चित्तौड़ का वैभव दिल्ली, अहमदाबाद, चांपानेर और मांडू से भी बढ़ने लग गया। अहर्निश हज़ारों सैनिकों का आवागमन हुआ करता। देश परदेश के राज-प्रतिनिधि अपने-अपने उपहार लेकर राणाजी के दरबार में आते थे। गुप्तचरों का तो चित्तौड़ केन्द्र बन रहा था। काबुल, कंधार, बग़दाद, बसरा, समरकन्द और बुख़ारा तक के गुप्तचर नाना प्रकार के भेष धारण करके यहाँ आते और सामरिक महत्व की बातों का पता लगाने का प्रयत्न करते। कोई सौदागर बनकर रहता; कोई जादूगर का भेष धारण करता; कोई औलिया-फ़कीर बन कर धूनी रमाता। संग्राम के रनिवास को अब किसी प्रकार का भय न था। संग्राम की शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि उसका रनिवास भी जो भेट माँगे, वह अन्य प्रदेश प्रसन्नता से दे देते थे। सैनिक विजय, प्रजा की समृद्धि और राज्य की सुरक्षित स्थिति देश को आनन्द-प्रमोद की ओर खींच ले जाते हैं। विजयी नरेशों के राजमहल भी सुख, आनन्द, और मौज-शौक़ के केन्द्र बन जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में

नृत्य-गीत, इत्र-फुलेल और शर्बत-शराब रानियों और राजकुमारियों के जीवन के मुख्य अंग बन जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या? धीरे-धीरे शौर्य के उपासक राजकुमार भी विलासिता के उपासक बन गये।

भोज के जीवनकाल में भी मीरां राजपरिवार के ऐसे रंग-राग में सम्मिलित नहीं होती थी। उसका रंग-राग मन्दिर में रहता, सांवलिया की मूर्ति अथवा चित्र के साथ रहता! अन्य प्रकार के रंग-राग का उसे मोह न था। सर्व सामान्य कार्यक्रम में जो सम्मिलित न हो सके, वह सबका अप्रिय बन जाता है, और सब लोग उसमें दोष देखने का प्रयत्न करते हैं। दुर्भाग्यवश मीरां विधवा हुई। उसमें दोष देखनेवालों के लिए एक नया दृष्टिकोण मिल गया। वैधव्य के बाद भी मीरां के मन्दिर का वैभव घटा नहीं; साधु-सन्तों का वहाँ आना-जाना कम न हुआ। विधवा मीरां केवल भजन-कीर्तन करे, इसमें किसी को आपत्ति न थी; परन्तु गीत के साथ नृत्य करके वह अपनी देह का प्रदर्शन करे, यह राजकुटुम्ब को पसन्द न आया। रानी या राजकुमारी का गीत-नृत्य अनुचित न था; परन्तु वह किसी भी स्थान में उसका प्रदर्शन नहीं कर सकती थी। कोई योग्य स्थान हो, एकान्त हो, सहेलियों का साथ हो, और कोई उत्सव या मंगल-प्रसंग हो तो ऐसे अवसर पर उसका नाचना-गाना अव्यवहार्य न माना जाता। भक्ति के बहाने जहाँ मन हो वहीं नाचना या गाना—और सो भी साधुओं जैसी अनिश्चित प्रतिष्ठावाली मंडली के सामने, यह राजकुटुम्ब की स्त्री के लिए अशोभनीय था। भोज जब तक जीवित था, तब तक मीरां की उच्छृंखलता का सारा दोष उसपर डालकर सगे-संबन्धी चुप रह जाते थे। परन्तु भोज की मृत्यु के बाद विधवा मीरां के आचरण का दायित्व सारे राजकुटुम्ब पर आ पड़ा। क्षत्रिय वीरों का पुरुषत्व समुद्र की तरंगों की भाँति भलेही उछले, तूफ़ान उठाकर भलेही तांडव की रचना करे; परन्तु क्षत्रियनारी के शील को तो थोड़े-बहुत घुमाव लेती हुई सरिता के शान्त बहाव की तरह सागररूप अपने पति में ही मिल जाना चाहिये। इस मान्यता में वाद-विवाद को स्थान ही न था। पति के साथ अग्नि का आलिंगन न करनेवाली मीरां के शील के विषय में सारे सिसोदिया कुल को चिन्ता होने लगी। यह चिन्ता ज्यों-ज्यों

बढ़ती गयी त्यों त्यों मीरां का मामला सदा युद्ध और राजतंत्र में प्रवृत्त रहनेवाले महाराणा के कान तक भी पहुँचाया गया ।

'राणाजी ! मैं क्या कहूँ ?...अब आँख से देखा नहीं जाता ।' रानी कर्मदेवी ने कहा ।

'कौन सी बात है ? हमारे राज्य में ऐसा क्या हो रहा है ?' संग्रामसिंह ने प्रश्न किया ।

'आप राज्य की बात करते हैं ?...अरे अपने महल में...अपने आवास में...अपनी आँखों के सामने सब कुछ हो रहा है !'

'ऐसा क्या हो रहा है, रानीजी ?... कोई षड़यंत्र पकड़ा आपने ?' महाराणा ने पूछा । महाराणी कर्मदेवी बहुत चतुर थीं, और कभी-कभी राज-कार्य में भी महाराणा को सहायता या सलाह दिया करती थीं ।

'षड़यंत्र हो तो राज्य पर आघात पड़े...यह तो सिसोदिया के नाम पर आघात पड़ने लगा हैं ।' महाराणी ने कहा ।

'यह आघात कौन कर रहा है ?'

'यही आपकी....लाड़ली मीरां ! ...वही भक्तिन !'

'मीरां ?....उसका नाम मेरे सामने लेना मत...दुःख भूलने के लिए भले ही वह भक्ति करे ! उसे यदि कोई कटु बात कहेगा, तो वह मेरा दुश्मन बनेगा ।'

'राणाजी ! परन्तु यहाँ तो कुल की प्रतिष्ठा जा रही है ।'

'क्या हुआ ?'

'आपने उस कृष्णचरण की करतूत को सुना था न ?'

'हाँ....उसमें तो मीरां की ही प्रतिष्ठा बढ़ी थी !'

'राणाजी ! आप तो बहुत सरल स्वभाव के हैं ! स्त्री चरित्र को क्या जानें ? भक्ति के बहाने पवित्रता का प्रदर्शन कर अन्त में उसने साधु को यहीं रखा...ऐसे चरित्र के पीछे क्या रहस्य है, यह कुछ समझ में आता है ?'

'मुझे कुछ नहीं समझना है....मीरां के अतिरिक्त और कोई बात हो, तो कहो...'

रानियों को अपने क्रोध के प्रदर्शन का मार्ग खोजना नहीं पड़ता। अपनी अप्रसन्नता को वे अनेक ढंग से व्यक्त कर सकती हैं। कुछ दिनों तक कर्मदेवी मुख चढ़ाये बैठी रहीं। मीरां के दोष की गंभीरता उन्होंने दूसरे प्रकार से राणाजी के कान तक पहुँचायी। मीरां के संसर्गदोष से स्वयं राणाजी की पुत्री उदाबाई भक्ति के पागलपन में पड़ गयी है, और ससु-राल जाने के लिए सहमत नहीं होती। इन बातों से भी राणा की मीरां के प्रति वात्सल्यवृत्ति कम न हुई।

एक दिन युद्धभूमि की ओर प्रयाण करने की तैयारी में लगे हुए राणाजी से पुनः कर्मदेवी ने मीरां की बात छेड़ी। क्रुद्ध होकर राणाने कहा :

'रानीजी ! मीरां के विषय की पूरी बातें समझ लो।'

'मुझे कुछ नहीं समझना है...आपही समझें,' रानीने उत्तर दिया।

'मैंने जो समझा है, वह तुम भी जान लो....मुझे खोजकर राजगद्दी पर बैठानेवाला इसी मीरां का पितामह दूदाजी; मेरे पुत्र के लिए प्राण देनेवाला भी वही मेड़तिया; और अपने दोनों पुत्रों को आजीवन चित्तौड़ की सेवा में समर्पित करनेवाला भी वही राठोड़ ! उसकी पुत्री को मैं अपनी पुत्री समझता हूँ।'

'मैं कब उसे पराई समझती हूँ ?'

'उसके कुटुम्ब की भक्ति उसकी रक्षा करेगी, रानीजी ! अब कभी मेरे सामने मीरां की बात न निकालना। मीरां को कष्ट देना भय से भरा है!'

इस प्रसंग के बाद मीरां की निन्दा राणा के पास तो नहीं गयी; परन्तु राजमहल में मीरां के प्रति विरोध दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। उदाबाई का आकर्षण ज्यों-ज्यों मीरां की ओर अधिक होता गया, त्यों-त्यों मीरां के देवर रत्नसिंह और विक्रमसिंह अधिक कठोर बनते गये। भोज के बाद राजगद्दी का उत्तराधिकारी रत्नसिंह ही था, इसलिये रनिवास में उसे बराबर यह शिक्षा दी जाती थी कि वह भोज जैसा निर्माल्य न बने। हाड़ी रानी कर्मदेवी भी एक कार्यदक्ष, सत्ताकांक्षिणी और प्रतिभा-संपन्न स्त्री थी। महाराणा की वह प्रियपात्र थी, इसलिये सभी लोग उससे डरा करते थे। न

डरी मात्र एक मीरां ! असिधारा सी तेज़ स्वभाव की कर्मदेवी यह सहन न कर सकी, धीरे धीरे मीरां के विषय में राजमहल के अन्दर दो मत प्रवर्तित होने लगे। एक पक्ष उन लोगों का था, जो मीरां की भक्ति को अशोभनीय मानता था ; और दूसरा पक्ष ऐसे लोगों का था, जो मीरां को एक महान संत और गुरु की दृष्टि से देखता था, और उसकी भक्ति का अनुसरण करता था। मीरां इस मत-मतांन्तर से परे रहकर दिन प्रतिदिन प्रभु-मिलन की लालसा में लीन रहने लगी। उसके सांसारिक व्यवहार के विषय के ज्ञान और भान दोनों कम होने लगे, और जो कुछ भी रह गये, वे केवल उसके मुरलीधर में केन्द्रित हो गये।

मीरां को अपने भगवान की भक्ति के अतिरिक्त और किसी बात में रस न रहा। रानी कर्मदेवी के विरुद्ध यदि कोई आकर बातें करता तो मीरां उसे रोक देती। अपने विरुद्ध में रचे जानेवाले षड्यंत्र के विषय में भी उसे कुछ जानने की उत्कंठा न थी। उसे तो रात दिन एक ही काम था। गिरिधारी की मूर्ति की सेवा-पूजा करना; उत्थापन, शृंगार, आरती और शयन के कार्य में लगे रहना; मूर्ति के सामने बैठकर ध्यान लगाना; ऊर्मियां उठने लगें तो नृत्य-गान से मन बहलाना; सर्वदा गिरिधरलाल....गिरिधरलाल का नामोच्चार करना; इतने से मन को शांति न मिले तो 'मीरां के प्रभु गिरिधरनागर' का एकाध पद तैयार करके उसका गान करना ! मीरां के आसपास साधुत्वका, भक्तिका वातावरण खड़ा हो रहा था।

राणा को तो एक ही धुन लगी थी। विजय की ! चित्तौड़ का विजय-डंका सारे हिन्दुस्तान में बजे, यही राणा का ध्येय बन गया था। उसकी विचार सृष्टिमें युद्ध ही घूमा करता था। रातदिन उसे यही खयाल आया करता कि सैन्य को बढ़ाकर और शिक्षा देकर कैसे सतत उच्च प्रकार की युद्ध कक्षापर रखना, उसके लिए कहाँ कहाँ युद्ध-भंडार स्थापित करना, और मेवाड़ भर के किलों को कैसे दुर्जेय बनाना ! मालवा और गुजरात के सुल्तानों को उसने नतमस्तक बनाया था। दिल्ली का इब्राहीम लोदी उसे नीचा दिखाने का बराबर प्रयत्न करता था। दो बार उसे भी राणा ने हराया था और युद्ध क्षेत्र छोड़कर भागने को विवश किया था। गुजरात का सुल्तान अपने झंझट

में फंसा हुआ था। परदेशी फिरंगियों ने समुद्रतट पर जो अपने संस्थान स्थापित किये थे, वे गुजरात के लिए भयरूप बन रहे थे। मालवा के सुल्तान ने साहस किया, परन्तु उसको सफलता न मिली। दक्षिण के इस्लामी-राज्य विजयनगर के उत्कर्ष को रोकने में संलग्न थे। हिन्दुस्तान में दोनों धर्मों के माननेवाले लोग थे : हिन्दू और मुसलमान ! प्रजा में भी दोनों धर्म फैले हुए थे। इस प्रकार की धर्मविभिन्नता का कभी-कभी उपयोग भी होता था। परन्तु यहाँ धर्म किसी राज्य अथवा प्रान्त को ऐक्य न दे सका। इस्लाम की स्थापना के लिए सभी इस्लामी राज्य मिलकर सतत प्रयत्न करते हों, ऐसा होता न था। हिन्दू राजा भी सब मिलकर हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिए सतत प्रयत्नशील नहीं रहते थे। किसी प्रसंग विशेष पर कुछ समय के लिए धार्मिक एकता की भावना जागृत होती, परन्तु शीघ्र ही वह अदृश्य हो जाती थी। अपने-अपने राज्य स्थापित करना या बढ़ाना, यही प्रधान ध्येय रहा करता था। धार्मिक विस्तार का प्रश्न गौण बन जाता था। हिन्दुस्तान में कभी ऐसा नहीं हुआ कि केवल धर्म की स्थापना अथवा विस्तार के लिए राज्यों की स्थापना हुई हो। मुसलमान राज्य भी आपस में लड़ा करते थे। हिन्दू राज्यों में भी अन्तर विग्रह हुआ करता था। कभी कभी ऐसा भी होता था कि हिन्दू और मुसलमान शासक आपस में मैत्री कर लेते, और एक दूसरे को सहायता देते। मुसलमान राजाओं के सैन्य में हिन्दू सैनिक रहते, और हिन्दुओं को ऊँचे ऊँचे सैनिक पद दिये जाते। हिन्दू राजाओं की सेना में भी मुसलमानों को ऐसी ही सुविधा प्राप्त थी। राणा संग्राम की महत्वाकांक्षा में हिन्दू धर्म के उत्कर्ष की भावना अवश्य थी; परन्तु वही उसका एक मात्र ध्येय न था। मुख्य भावना तो यह थी कि चित्तौड़ का स्वामी और सिसोदियों का अग्रणी राणा संग्राम दिल्ली का अधिपति बने ! कभी-कभी हिन्दू राजाओं में हिन्दू धर्म को फैलाने की भावना जागृत होती। परन्तु वह अधिक समय तक कायम न रहती। प्रधानतः हिन्दू राजा हिन्दू धर्म की रक्षा करना ही अपना कर्तव्य समझते थे। इस्लामी झंडे के नीचे यदि हिन्दुत्व सुरक्षित रहता हो, तो उस झंडे की वंदना क्यों न करना ? इस प्रकार की भावना हिन्दू राजाओं के मनमें घर जमा रही थी। ऐसे

वातावरण में अपवादरूप था अकेला राणा संग्राम; जो अपने उत्कर्ष के साथ साथ हिन्दुत्व का भी उत्कर्ष चाहता था।

प्रजा मत ने तो हिन्दु-मुसलमान दोनों धर्मों के साथ साथ रहने की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया था। देहातों में हिन्दुओं के साथ-साथ मुसलमान भी रहते थे। किसी गाँव में जहाँ मन्दिर हो; वहाँ मस्जिद की स्थापना में किसी को विरोध करने की इच्छा न होती थी। मुसलमान औलिया-फकीरों को हिन्दू भी सम्मान की दृष्टि से देखने लगे थे; और मुसल्मान धर्माचार्य हिन्दुओं की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अपने धार्मिक रिति-रिवाजों में आवश्यक परिवर्तन करने लगे थे। इस कार्य में सूफी मत ने मुसलमान धर्माचार्यों की बहुत सहायता भी की। कबीर साहब हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों के समन्वय की नींव डाल चुके थे। इस्लाम और उसके माननेवालों से हिन्दू प्रजा परिचित थी ; उसी प्रकार अब मुसलमान भी हिन्दू और हिन्दुओं के भक्ति तथा ज्ञान मार्ग से परिचित हो चुके थे। राज सत्ता के दाव-पेंच में साधारण प्रजा को कोई रस न रह गया था। अपने अपने धर्म के पालन में कोई कठिनाई न हो, ऐसे शासन को हिन्दू और मुसलमान दोनों स्वीकार कर लेते थे, और उसके प्रति वफ़ादार रहते थे; फिर यह शासन किसी हिन्दू राजा के हाथ में हो, अथवा किसी मुसलमान सुल्तान या नवाब के हाथ में!

सहसा राणाजी को समाचार मिला कि हिमालय और हिन्दूकुश के उस पार एक तेजस्वी मुसलमान युवक दिल्ली पर आक्रमण करने की योजना बना रहा है। कुछ समय पहले उसने दो-तीन आक्रमण किये थे, परन्तु उनमें उसे सफलता न मिली थी। अफ़गानिस्तान के बादशाह बाबर को हिन्दू महाराणा की महत्वाकांक्षा का पता लगा, और उसने संदेशा भेजा कि यदि राणा उसकी मैत्री स्वीकार करे, तो वह दिल्ली विजय में महाराणा की सहायता करने को तैयार है। राणा को भी इस बात की खबर लग गई थी कि तुर्की, ईरान और अफ़गानिस्तान की मुसलमान जातियाँ हिन्दुस्तान में घुसने का प्रबन्ध कर रही हैं। दिल्ली के लोदीवंश ने अपने देश में लोकप्रियता खो दी थी। मुग़ल-तुर्क बाबर आकर इब्राहीम को हराये

और दिल्ली के सिंहासन से हटादे, तो हर्ज ही क्या ? यदि आवश्यकता हुई तो नवागन्तुक बाबर को पराजित करने के लिए राणा की शक्ति और सैन्य पर्याप्त थे। संग्राम ने विचार किया। इब्राहीम को हटाने का यह अच्छा अवसर था। राणा ने बाबर के सन्धिप्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। अवसर पाते ही बाबर दिल्ली पर धंस आया। इब्राहीम को किसी भी दिशा से सहायता न मिली और वह हार गया। परन्तु लोदीवंश के छोटे से दिल्ली-राज्य को लेकर बाबर की महत्वाकांक्षा संतुष्ट न हुई। वह अपने सैन्य के साथ दिल्ली से आगरा की ओर बढ़ा और देखते ही देखते उसने आगरा जीत लिया।

बाबर की योजना धीरे धीरे राणा की समझ में आने लगी। वह केवल दिल्ली के छोटे से राज्य को जीतने के लिए हिन्दुस्तान में न आया था। उसकी आँख तो सारे भारत के वैभव और शस्यश्यामला भूमि पर थी। इब्राहीम से वह युद्धनीति में चतुर था। राणा संग्राम सचेत हो गया। ज्योंही बाबर ने आगरा में प्रवेश किया, त्यों ही राणा ने बढ़कर बयाना पर अपना अधिकार जमाया और कान्हवा के मैदान में अपनी छावनी डाली। आगरा जीत कर आगे बढ़ने वाले बाबर को राणा की प्रचण्ड वाहिनी की खबर लग गयी। इतने बड़े सैन्य से किस प्रकार युद्ध करना इस विषय की मंत्रणा उसने जल्दी से अपने सेनानायकों से की। देखते ही देखते दोनों सैन्यों में युद्ध शुरू हो गया। राजपूत सैन्य ने बाबर की सेना पर भयंकर प्रहार किये। बाबर अपना शाही तंबू छोड़कर सैन्य सहित भागने को विवश हुआ।

बाबर ने समझ लिया कि युद्ध करके संग्राम को जीतना कठिन है। अतः उसने युक्ति का आश्रय लिया। उस चतुर मुग़ल ने राणा के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा, और राणा की ओर से उत्तर ले आने वाले रायसेन के राजा को प्रलोभनों में फँसाकर अपनी ओर मिला लिया। सन्धि की बातें टूट गयीं, और पुनः दोनों पक्ष में युद्ध होने लगा। राजपूतों की वीरता के आगे मुग़ल सैन्य पीछे हटने लगा। हतोत्साह होनेवाले अपने सैनिकों में धर्मोन्माद लाने के लिए बाबर ने सबके सामने शराब की बोतलें

तोड़कर शराब न पीने की प्रतिज्ञा की। बाबर के इस कार्य का मनोवांछित असर हुआ। मुग़ल सैन्य में नया जोश आया। राजपूत सैन्य के प्रवाह को रोकने के लिए बन्दूकधारी सैनिकों का नया व्यूह रचा गया। घमासान युद्ध हुआ। परन्तु राणा की वीरता और युद्ध कौशल ने मुग़लों के दाँत खट्टे कर दिये। बाबर की सेना के पैर डगमगाये। इतने में समाचार फैला कि राणा की ओर से सन्धि के प्रस्ताव पर बातचीत के लिए भेजा हुआ दूत राजा यकायक विश्वासघाती बनकर अपने तीस हज़ार सैनिकों के साथ राणा की सेना पर टूट पड़ा है, और अपने ही अधिपति के विरुद्ध युद्ध कर रहा है।

राजपूत सैन्य इस कृतघ्नता को देख कर अवाक् रह गया। संग्राम को युद्ध का मोर्चा बदलना पड़ा। अपने प्राणों की परवाह किये बिना वह सर्वत्र पहुँच जाता, और नयी परिस्थिति का सामना करने की व्यवस्था करता। इस प्रयास में उसके सिर में यकायक एक बाण आकर लगा, और संज्ञाहीन होकर वह भूमि पर गिर पड़ा। महाराणा के अंगरक्षक उसे संज्ञाहीन हालत में ही युद्धक्षेत्र से निकाल कर बसुआ ग्राम में ले गये। युद्ध में राणाजी का स्थान झाला राणा ने लिया। पुनः घमासान युद्ध होने लगा। राजपूत बड़ी वीरता से लड़े। परन्तु अपने नेता के घायल होने से, मुग़ल बन्दूकधारियों की भयंकर मार से, और दूत की कृतघ्नता से राजपूत सैन्य का उत्साह टूट गया। राणा की सेना हतोत्साह होकर पीछे हटी। युद्ध में थोड़ी सी भी घबराहट परिस्थिति को बदल देती है। जीतने वाली सेना हार जाती है। राणा का घायल होकर रणक्षेत्र से हटना राजपूतों के लिए अच्छा न हुआ। उनमें कुछ भय का संचार हुआ और पहले जैसा हो चुका था, इस बार भी लोभ, कृतघ्नता और विश्वासघात ने हिन्दुत्व की जीती हुई बाज़ी को पराजय में परिवर्तित कर दिया। राणा को जब होश आया तब उन्होंने हार कर चित्तौड़ लौटने का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं किया। उनके शरीर पर अस्सी घाव लगे थे; उनकी एक आँख फूट गई थी; एक पाँव कट गया था; एक हाथ में भयंकर जख्म लगा था। अपने कष्ट को परवाह न कर राणाने पुनः युद्ध शुरू किया। इतने में उनको खबर लगी

कि बाबर यकायक चन्देरी के मेदिनीराय पर धंसा जा रहा है। बाबर को रास्ते में ही रोकने के लिए संग्राम सेना लेकर उस ओर दौड़ गया। इस कूच में बराबर युद्ध करके ऊब जानेवाले राणा के एक विश्वासपात्र सरदार ने उनको विष देकर मार डाला। इस प्रकार संग्राम की मृत्यु से उत्तरापथ के हिन्दुत्व का राजकीय सूर्य सर्वदा के लिए अस्त हो गया !

इस युद्ध में मीरां के पिता भी काम आये। पिता को और पिता सरीखे श्वसुर को खोकर मीरां ने अपने चारों ओर संताप की सृष्टि देखी। इस नश्वर संसार में सनातन सत्य, शिव और सौन्दर्य की झांकी उसे केवल गिरिधारीलाल में ही मिली, और वह उन्हीं की ओर बढ़ने के प्रयास में लग गयी। उसके ऊपर अपने आस-पास होने वाली महान ऐतिहासिक घटनाओं का ज़रा भी असर न हुआ अपितु वह अधिक आत्मचिन्तन में लग गयी।

संग्राम सरीखा महाप्रतापी नरेश चित्तौड़ से ही नहीं, राजस्थान से ही नहीं, परन्तु हिन्दुस्तान की सारी हिन्दू प्रजा में से अदृश्य हो गया। उसके बाद चित्तौड़ के राज-सिंहासन पर रत्नसिंह बैठा। रत्नसिंह के राज्यारोहण से अप्रसन्न होकर उसकी सौतेली माता महारानी कर्मदेवी अपने दो पुत्र विक्रम और उदय को साथ लेकर रणथंभौर के दुर्ग में चली गयी, और वहीं रहने लगी। वहाँ रह कर अपने भाई बूंदी के राव सूरजमल की सहायता से उसने चितौड़ की गद्दी अपने पुत्र के लिए प्राप्त करने की चेष्टाएँ आरम्भ कर दीं। इस विषय में बाबर के पास भी उसने अनेक प्रस्ताव भेजे। रत्नसिंह को अपनी विमाता के प्रभाव की पूरी खबर थी। अतः उसने कर्मदेवी को मनाने के प्रयत्न शुरू किये। महारानी ने अपनी ओर से बातचीत करने के लिए अपने भाई सूरजमल को चित्तौड़ भेजा। राणा ने धूमधाम से उसका स्वागत किया, और शिकार में अपने साथ ले गया। एक दिन शिकार खेलते खेलते दोनों में कहासुनी हो गयी। देखते ही देखते दोनों ओर से शस्त्र उठे, और कोई बीच बचाव करे, इसके पहले ही चित्तौड़ के राणा रत्नसिंह और बूंदी के राव सूरजमल के शव पृथ्वी पर गिर पड़े।

अब चित्तौड़ की गद्दी का उत्तराधिकारी विक्रम हुआ। महारानी

कर्मदेवी राजमाता बन कर चित्तौड़ आयीं। विक्रमादित्य अभी किशोरावस्था में ही था। राजतंत्र सम्भालने की उसमें कुशलता न थी। इतना ही नहीं वह हठी, क्रूर और अविनयी भी था। माँ की प्रेरणा पाकर वह पहले से ही मीरां का विरोधी था। अब तो राज्य की पूरी सत्ता उसके हाथ में आ गयी। इस लिए मीरां के साथ वह जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकता था। राज्य के आवश्यक प्रश्नों में ध्यान न लगाकर वह राज-महल की छोटी-मोटी अनावश्यक बातों में ध्यान देने लगा।

उधर मीरां दूसरे ही विचारों में मग्न रहने लगी। उसकी आँखों के सामने नया इतिहास लिखा जाने लगा। देखते ही देखते राणा संग्राम, संग और रत्नसिंह अदृश्य हो गये। चित्तौड़ का गौरव घटने लगा। मीरां ने माया की इस स्वप्नमाला को देखा, और इस संसार की नश्वरता को गम्भीरता से समझा। सच्चा, सनातन सुख उसे अपने कृष्ण की मूर्ति में ही दीख पड़ा। वही विश्व का संचालक था। इतिहास बराबर रचे जाते थे; परन्तु उसका संचालन अगम्यतत्व की अंगुलियों से होता था। यह तत्व उसके गिरिधरलाल ही थे। ऐसी परिस्थिति में इतिहास पर भरोसा न करके वह गिरिधरलाल पर ही भरोसा क्यों न करे? मानव जीवन उसे इसी में सार्थक दीख पड़ा। वह अधिक तीव्रता से अपने गिरिधरलाल की भक्ति में लग गयी। परन्तु यह मार्ग कठिन था। मीरां ने देखा कि इस मार्ग का अवलम्बन करने में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। परन्तु वह विचलित न हुई। कष्ट के ये पहाड़ केवल उसकी बाह्य देह को ही कुचलते थे, उसकी अन्तरात्मा को नहीं!

'जीवन में जो सामने आ पड़े—सुख या दुःख—उसको सहना ही पड़ता है। इन दोनों की परवाह किये बिना आगे बढ़ना, यही सच्चा मार्ग है। सुख और दुःख दोनों के पीछे मेरे प्रभु हाथ बढ़ा कर खड़े हैं।' प्रभु की सेवा करते हुए मीरां ने कृष्णचरण से कहा।

'तो, मीरां! क्यों हठ कर रही हो? मुझे यहाँ से जाने दो। राणाजी ...रत्नसिंह का आदेश है, तो उस प्रकार होने दो।' कृष्णचरण ने कहा।

नये राणा रत्नसिंह ने अपनी माता कर्मदेवी की इच्छानुसार मीरां को

आदेश भिजवाया कि मेवाड़ के राजकुटुम्ब को कलंकित करनेवाले कृष्णचरण को अविलम्ब चित्तौड़ छोड़कर चले जाने को कह दे।

'तुम मुझे धरोहर के रूप में सौंपे गये हो। जब तक यह शरीर रहेगा तब तक तुमको कहीं दूर न जाने दूंगी, इस बात का मैंने वचन दिया है।'

'किसको'

'तुम्हारे पिता को।'

मेरे पिता को? तुमने? मुझे स्वयं पता ही नहीं कि मेरे पिता कौन हैं?'

'परन्तु मुझे पता है।'

'वे कौन हैं?'

'एक सिसोदिया क्षत्रिय!'

'मैं क्षत्रियपुत्र हूँ?...किसने कहा?'

'तुम्हारे पिता ने।'

'कब कहा?'

'जिस दिन उन्होंने मरने के लिए तुमको कटार दी...उस दिन।' मीरां ने कहा।

'कटार तो सांईं ने दी थी...'

'हाँ...वे बहुत दिनों तक तुम्हें मारने का मौक़ा खोज रहे थे।'

'ऐसी बात? सांईं को क्या प्रयोजन?...मैंने तो उनको अपना गुरु बनाया था।'

'वास्तव में वे ही तुम्हारे पिता...'

कृष्णचरण चौंक पड़ा। सांईं उसके पिता?....मुसलमान....? यह कैसे हुआ?

मीरां ने सब बातें समझाकर कहीं। यह सब वृत्तान्त सांईं ने स्वयं मीरां को बताया था।

चित्तौड़ का वह सिसोदिया राजपूत राणा संग के भाई पृथ्वीराज का बालमित्र था। एक बार दोनों मित्रों में झगड़ा हो गया, और वह राजपूत चित्तौड़ का त्याग करके दिल्ली चला गया...अपनी पत्नी को चित्तौड़ में ही छोड़कर!

'पत्नी को चित्तौड़ में ही क्यों छोड़ा ?' कृष्णचरण ने पूछा ।

'चित्तौड़ का त्याग कर मुसलमान की सेवा अंगीकार करनेवाले पति के साथ जाने के लिए पत्नी तैयार न हुई ।' मीरां ने कहा ।

दिल्ली जाकर वह सिसोदिया किसी मुसलमान युवती के प्रेमपाश में फँस गया । उसने उस युवती से विवाह करने का प्रस्ताव किया । एक शर्त पर युवती तैयार हो गयी—वह यह कि सिसोदिया इस्लाम धर्म को स्वीकार करे । प्रेम की तीव्रता ने सिसोदिया को अधीर बना दिया । उसने इस्लामी शास्त्रों का अध्ययन करना प्रारंभ किया, और धीरे-धीरे इस्लाम में उसकी श्रद्धा बैठ गयी । दो भावनाएँ उसे अपनी ओर प्रबलता से खींच रही थीं—एक ओर उस मुसलमान युवती के प्रेम की भावना, और दूसरी ओर अपनी जन्मभूमि मेवाड़ के प्रेम की भावना । मुसलमान युवती का प्रेम प्रबल निकला । उसे प्राप्त करने के लिए उसने इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया । इस बात की खबर जब उसकी राजपूत पत्नी को मिली, तब वह हरे वृक्ष के तने में बैठ कर जल मरने को उद्यत हो गयी...उसका एक छोटा सा बालक था, जिसे साथ में लेकर जलने की उसकी हिम्मत न हुई....उधर से एक चमार भक्त जा रहा था...उसे बालक सौंप दिया, और वह स्वयं जल मरी ।

'वही बालक तुम हो, और उसे पाल-पोस कर बड़ा करनेवाले चमार भक्त अपने रोहिदास ।' मीरां ने कहा ।

'साँई कहाँ गये ?' कृष्णचरण ने पूछा

'पता नहीं....इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर भी उस मुसलमान युवती ने सिसोदिया के साथ विवाह किया नहीं....और अन्य किसी के साथ विवाह करके चली गयी....इस कृतघ्नता पर वह सिसोदिया पागल बन गया....उसने युवती को खोजा, और उसका खून किया....और स्वयं साँई बन कर मक्का, मदीना आदि तीर्थस्थानों की यात्रा के निमित्त देश के बाहर चला गया....यात्रा पूरी की और पुनः लौटकर हिन्दुस्तान आया । मेवाड़ की भूमि ने उसे फिर से आकर्पित किया । यहाँ आने पर उसकी रोहिदास से भेंट हो गयी । कुछ समय उनके साथ रहा । रोहिदास से उसको तुम्हारा

इतिहास मिला...और जब उसको यह पता लगा कि उसकी भाँति तुम भी स्त्री-लुब्ध हो, तब उसने तुम्हें मारने का संकल्प किया....'

'मुझे मारने से तुमने सांईं को रोका क्यों ?'

'मैंने तुमको अपना भाई माना है...जयमल के समान ही...मेरे साथ तुम भी भक्ति-मार्ग में पदार्पण कर चुके हो...मैं तुम्हें अकेला छोड़ कर तुम्हारे शरीर अथवा आत्मा का ह्रास न होने दूंगी...तुम्हें मेरे ऊपर श्रद्धा है...अपने ऊपर नहीं...जिस समय तुम आत्मनिर्भर हो जाओगे, उस समय तुमको अकेले जाने दूँगी...तब तक नहीं....'

'तब क्या राणाजी की आज्ञा का उल्लंघन करोगी ?'

'राणाजी को मुझे आज्ञा देने का कोई अधिकार नहीं...मेरे घर में, मेरे मन्दिर में आज्ञा चलती है केवल मेरे गिरिधरलाल की। अन्य किसी की आज्ञा मुझे मान्य नहीं।'

'और मेरे जैसे पापी के लिए तुम राणाजी के क्रोध को अपने ऊपर ले लोगी ?'

मीरां ने उत्तर में मात्र स्मित किया।

बार बार भेजे हुए राणाजी के आदेश को उसने माना नहीं। मानव-सत्ता से डर कर यदि वह मनुष्य की बनाई हुई रूढ़ि का अनुगमन करे, तो उसका कृष्णाश्रय लज्जित हो। प्रभु में विश्वास रख सत्य मार्ग पर जानेवाले को मानव की विचित्रता का भय क्या ? मीरां ने कृष्णचरण को अपने पास से हटने न दिया। धीरे-धीरे कृष्णचरण में एक नये व्यक्तित्व का विकास होने लगा। उसकी कामवासना अदृश्य होने लगी। उसके कोमल कंठ और विद्वत्ता ने भक्ति के मार्दव का आश्रय लेकर कामी कृष्णचरण में से कंचन का कृष्णचरण बनाना शुरू किया।

महाराणा संग्राम के पुत्र विक्रम में पिता का एक ही गुण आया—हठ। और कोई गुण नहीं आया। विक्रम को मल्लविद्या का शौक था। राजाओं में व्यायाम प्रियता का होना स्वाभाविक है। परन्तु उसके साथ साथ बुद्धि और चापल्य भी चाहिये। इन दोनों के बिना अकेला शरीरबल किसी काम का नहीं। सो भी वह स्वयं बलवान बना नहीं। राजमहल के आमोद-प्रमोद में

पड़कर उसने अपने शरीर को जरा भी कष्ट न दिया। परिणाम यह आया कि वह स्वयं बलशाली न बन सका। अन्य मल्लों की शक्ति और शक्तिपूर्ण कार्यों को देखने में ही उसे आनन्द मिलने लगा। संग्राम की मृत्यु के बाद आसपास के प्रदेशों में मेवाड़ का प्रभाव कम हो गया। रत्नसिंह तो अपने तीन वर्ष के राज्यकाल में ही आन्तरकलह से मारा गया। किशोर वय का विक्रम आसपास के राजनीतिक वातावरण को समझ न सका। सैन्य के शस्त्रों को तेज़ न रखकर उसने प्रचुर भोजन करके शरीर बढ़ानेवाले मल्लों को अखाड़ों में दाव-पेंच करने के कार्य में प्रोत्साहन दिया। युवा राणा के सामन्तों ने राणाजी को सलाह दी कि कुश्ती के साथ साथ उन्हें घुड़सवारी, शिकार तथा सैन्य की कवायद में भी रस लेना चाहिये। इन सामन्तों को चिढ़ाने के लिए उसने अपनी नौकरी में रखे हुए सत्तर पहलवानों की संख्या सात हजार करदी। गुजरात का सुल्तान बहादुरशाह चित्तौड़ पर चढ़ाई करना चाहता है, यह समाचार मिलते ही सेनापति ने राणाजी से प्रार्थना की कि वे एक सरहद्दी मोर्चे का निरीक्षण कर आवें।

'कुछ देखना नहीं है। मेरे पास सात हजार पहलवान तैयार हैं।' राणा ने उत्तर दिया।

'राणाजी ! युद्ध में पहलवान उपयोगी न होंगे।' सेनापति ने कहा।

'क्यों ?'

'वहाँ तो चापल्य चाहिये, शस्त्रों के उपयोग की निपुणता चाहिये, आघात सहन करने की क्षमता चाहिये.... और आवश्यकता पड़े, तो भूख-प्यास सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिये...'

'आपकी सलाह बिना मेरा काम चल जायगा।' कह कर राणा संग्रामसिंह के निरीक्षण में शिक्षा प्राप्त करनेवाले एक वंशी परंपरा के सरदार—सेनापति को विक्रम ने अपनी सेवा में से पृथक् कर दिया; और इसी प्रकार सच्ची सलाह देनेवाले सामन्तों को हटा कर अपने दरबार में केवल चाटुकार, विनोदप्रिय और विलासी दरबारी ही एकत्र किये।

जो स्वयं विलासी होता है, उसे अन्य लोगों का विलास अच्छा नहीं लगता। जो स्वयं अनीति करता है, वह दूसरों की नीति के विषय में बहुत

रस लेता है। अब विक्रम के दरबार में भी मीरां के पागलपन की चर्चा होने लगी थी....और चाटुकार दरबारी राणा के मन की बात जानकर मीरां के चरित्र के विषय में अनेक शंकाएँ उपस्थित करने लगे थे। चरित्र-हीन राणा अपनी विधवा भाभी के चरित्र के विषय में अधिक शंका-शील बन गया। रनिवास में—राजमहल में तो मीरां के विरुद्ध भावना पहले से ही फैली हुई थी, अब दरबार में भी यह भावना फैलने लगी। संग्रामसिंह मीरां के विषय में कुछ भी सुनता न था। उसके समय में मीरां के पिता और चाचा का चित्तौड़ में बड़ा सम्मानित स्थान था। यद्यपि मीरां के विवाह के बाद ये दोनों प्रायः मेड़ता में ही रहते और अपनी जागीर की व्यवस्था करते थे, तथापि राणा की इच्छानुसार बराबर चित्तौड़ आते, परामर्श देते, और आवश्यकता पड़ने पर रणक्षेत्र में भी जाते थे। परन्तु अब राणाजी के दरबार में मेड़तिया राठोड़ों का पहले जैसा सम्मान न था। दूदाजी और मीरां के पिता दिवंगत हो चुके थे। मीरां के पिता मेड़ता में ही रहते थे। अपने पराक्रम से प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले मीरां के भाई जयमल की विक्रम को आवश्यकता न थी। दरबार में मीरां के विरुद्ध खड़े होनेवाले वातावरण को दबानेवाले स्वामिभक्त सरदार विक्रम से नाराज होकर चले गये थे। अब दरबार में वही लोग रह गये थे, जो बराबर मीरां की निन्दा करके विक्रम के क्रोध को बढ़ाते रहें। राज्य की सुरक्षा का खयाल किसीको रहा नहीं। मीरां का कैसे सर्वनाश हो, यही राजदरबार और राजमहल का मुख्य प्रश्न बन गया था।

एक दिन स्नान-पूजा और नृत्य-गीत से निवृत्त होकर प्रसाद ग्रहण करने की तैयारी में संलग्न मीरां के पास एक सुन्दर पिटारा भेंट के रूप में लाया गया।

'क्या लाये हो भाई ?'

'राणाजी ने भाभी को भेंट में यह भेजा है।' पिटारा लानेवाले ने उत्तर दिया।

'मेरे लिए ? मुझे भेंट की क्या आवश्यकता ? मेरी तो सब भेंट प्रभु को अर्पण होती हैं।'

'इस भेंट में तो प्रत्यक्ष प्रभु विराजमान हैं ।'

'ऐसी बात ? मेरे आशीर्वाद कहना राणाजी को ! मुझे तो....जहाँ देखती हूँ वहीं प्रभु के दर्शन होते हैं...ओहो ! देखूँ राणाजी ने क्या भेजा है ?'

दूर सुदूर गंडकी नदी के तल में से एक ऐसे सुन्दर शालिग्राम मिले हैं, जो लाखों अशर्फ़ियाँ देने पर भी प्राप्त नहीं हो सकते...राणाजी ने सोचा कि वे आपके पास ही शोभा देंगे ।'

'अच्छा किया, ले आओ ! पिटारा खोलकर मैं भगवान की पवित्र श्यामता का दर्शन करूँ....' कह कर मीरां ने पिटारा अपनी ओर खींचा और उसे खोला । अन्दर चमकने वाली श्यामता दृष्टिगोचर हुई....पिटारे के अन्दर शालिग्राम का पाषाण न था; एक भयंकर भुजंग फन नीचा किये कुण्डली मारकर पड़ा हुआ था ।

मीरां ने नमन करके कहा :

'भाई ! राणाजी से कहना कि उनके भेजे हुए शालिग्राम ने शेष का स्वरूप धारण करके मुझे दर्शन दिया...जय महानाग शेष ! बलभद्र ! दाऊदयाल ! आपने दर्शन देकर मुझ दीन को कृतार्थ किया ! आप पधारे नाथ ! अब आपकी शैय्या में सोनेवाले मेरे प्रभु मुझे अवश्य दर्शन देंगे... कृपा कर शीघ्र ही उनके दर्शन कराओ...'

मीरां की आवाज़ सुनकर सर्प कभी का जाग्रत हो गया था । उसने शीघ्र ही अपना फन ऊंचा किया, उसे फैलाया और ध्यान से मीरां की ओर देखा । न वह झपटा, न हिला, न उसने फुफकार किया । मीरां का कार्य पूरा होते ही वह पुनः अपना फन नीचा कर, कुण्डली लगाकर पिटारे में छिप गया । देखनेवालों को ऐसा लगा मानों मीरां की प्रार्थना सुनने के लिए ही वह जाग्रत हुआ हो ! यह दृश्य देखकर पिटारा लानेवाला व्यक्ति तो स्तब्ध बन गया । कुछ क्षण बाद उसने पिटारे को ढँक दिया और मीरां के चरणों पर गिरकर कहा :

'भक्तराज ! मैं क्षमा चाहता हूँ...इस विषधर सर्प ने आज तक किसी को बिना काटे छोड़ा नहीं...जो इसके निकट आया, वह इसका भोग बन

गया...परन्तु आश्चर्य यह है कि आपके सामने यह सौम्य बन कर बैठा रहा ! क्षमा, मीरां देवी ! मेरा उद्धार करो !...मुझे तो राणाजी ने भेजा था...'

'बस, भाई ! बस; चरण पकड़ो प्रभु का ! तुमको और शेषनाग को किसने मेरे पास भेजा, यह मुझे न कहो...कोई कुछ करता नहीं...कर्त्ता भर्त्ता और समाहर्ता प्रभु ही है...राणाजी को मेरी आशीष कहना कि शेष का दर्शन कराकर उन्होंने मेरा बड़ा उपकार किया...मुझे तो प्रभु या प्रभु के अंश के अतिरिक्त और कुछ दीख नहीं पड़ता।' चरण स्पर्श करने वाले संपेरे को उठाते हुए मीरां ने कहा।

पिटारा लेकर सँपेरा लौट गया। जाते-जाते उसने घूमकर देखा। मीरां प्रभु की मूर्ति के सामने घुटनों के बल बैठी प्रार्थना कर रही थी। शीघ्र ही, उसे मीरां के शब्द भी सुनाई दिये :

'आज मैं कृतार्थ हुई, नाथ ! आपने ही शेष भगवान को पहले भेजा। अब आपके भी चरणों की ध्वनि सुनाई पड़ रही है'

इतना कहकर वह सहसा गाने लगी :

बड़े घर ताली लागी रे, म्हारा मनरी उणारथ भागी रे—टेक
छीलरिये म्हाँरो चित्त नहीं रे, डावरिये कुण जाव।
गंगा जमुना सूँ काम नहीं रे, मैं तो जाय मिलूं दरियाव ॥
काच कथीर सूँ काम नहीं रे, लोहा चढ़े सिर भार।
सोना रूपा सूँ काम नहीं रे, म्हारे हीरां रो ब्योपार ॥
भाग हमारो जागियो रे, भयो समँद सूँ सीर।
अम्रित प्याला छाँड़ि के, कुण पीवे कड़वो नीर ॥
पीपा कूँ प्रभु परचो दियो रे, दीन्हा खजाना पूर।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, धणी मिल्या छै हजूर ॥

मीरां के पांवों में नृत्य की ठमक आयी। उसको विश्वास हो गया कि शेषदर्शन के बाद शेषशायी के दर्शन अवश्य होंगे ! नृत्य-गीत ने उसे एकाग्रता प्रदान की, और वह समाधिस्थ बन गयी। भक्तमंडली देखती

ही रह गयी; कृष्णचरण देखता रहा; ऊदाबाई देखती रही। राणा ने मीरां को मारने के लिए काला नाग भेजा; परन्तु मीरां का दर्शन कर नाग शान्त होकर बैठ गया।

सबने मीरां के चरणों का स्पर्श किया।

परन्तु मीरां को इसका पता न लगा। उसके हृदय में तो प्रभु चरण-कमल स्थिर होकर बैठे थे।

२

सँपेरा विक्रम का मित्र था। पहलवानों के समान विक्रम सँपेरे, जादूगर और नट आदि का भी साथ करता था। राजा अपने राज्य में कला-कौशल को प्रोत्साहन दे, यह उचित ही है; परन्तु सब काम की मर्यादा होती है। किस समय कौन-सा काम अधिक महत्वपूर्ण है, यह भी विचारना आवश्यक है—विशेष करके राजसत्ताधीशों के लिए! सीमा पर युद्ध की भेरियाँ बजती हों, उस समय राजा के लिए यह उचित नहीं कि वह नृत्य की महफ़िल का आनन्द ले। जिस समय मंत्रियों से परामर्श करके महत्वपूर्ण निर्णय लेना हो, उस समय हाथ की सफाई दिखाने वाले जादूगर को दूर ही रखना पड़ता है। परन्तु विक्रम का अधिक समय राज्य-कार्य की मंत्रणा के स्थान पर नृत्य, गीत, कुश्ती, जादू और जानवरों की प्रतिस्पर्धा के कार्य में व्यतीत होता था।

सँपेरे को देखते ही विक्रम ने पूछा:

'क्यों, काम सफल हुआ न?'

'सफल! महाराज! मैं तो आज भवसागर तर गया!' सँपेरे ने पिटारा नीचे रखते हुए कहा।

'यह तो कहो क्या हुआ? मीरां........समाप्त हो गयी न?'

'मीरां तो कभी की समाप्त हो चुकी है, महाराज...वह तो प्रभुमय

बन गयी है। नाग ने उसका कुछ भी न किया...उलटे उसने ध्यान से मीरां का दर्शन किया।'

'मीरां को उसने डसा नहीं?'

'नहीं महाराज! मीरां को किसी के दंश का असर नहीं हो सकता।'

'क्या कहता है, बदमाश! नाग के साथ तुझे इसीलिए पाला-पोसा कि काम किये बिना तू इस प्रकार लौट कर आवे?'

'महाराज! भक्त के सामने तो भगवान भी हार जाते हैं....' सँपेरा इतना ही कह पाया था कि विक्रम ने क्रुद्ध होकर उसे लात मारकर खण्ड में से बाहर निकाल दिया।

'हाँ हाँ, महाराज! शान्त हों! यह तो अपना ही आदमी है।' क्रोध में भरे हुए विक्रम को उसके मित्र और सलाहकारों ने शान्त करने का प्रयत्न किया।

'जिसे मेरे पास रहना हो, उसका सबसे पहला कर्तव्य होगा मेरी आज्ञा का पालन करना!' राणा विक्रम यही समझता था कि उसकी आज्ञा की अवहेलना कभी होनी न चाहिये, चाहे वह कैसी भी हो—अच्छी या बुरी! उसे इस बात का ज्ञान न था कि राजा को कभी अनुचित आज्ञा देनी न चाहिये; और संयोग से यदि कोई अनुचित राजाज्ञा निकल गयी हो, तो राजा के सच्चे सलाहकार कभी उसका पालन न करेंगे। विक्रम के सलाहकार तो उसकी सभी उचित-अनुचित आज्ञाओं का पालन करते थे। उनके लिए तो राणा की कृपा को संपादित करने का वही एक मार्ग था। वे तुरन्त बोल उठे:

'सत्य है, महाराज! आपकी आज्ञा का पालन हमारा प्रथम कर्तव्य है।'

'मीरां का रास्ता निकालना ही पड़ेगा। यह सँपेरा कुछ भी न कर सका; भेजा था मीरां को मारने के लिए....वह तो उलटा भगत बन कर लौटा! क्या तुम लोगों को मैंने इसलिए पाला-पोसा है कि तुम मीरां के पक्ष में हो जाओ?'

'कभी नहीं, महाराज! सँपेरे की बुद्धि ही कितनी? साँप-नेवले के साथ खेलनेवाला! भक्ति का प्रभाव देख कर चकित हो गया!...आप

उद्विग्न न हों ! एक सप्ताह के अन्दर मीरां का नाम न रहेगा...इससे अधिक कुछ ?' विक्रम के एक प्रिय-पात्र सलाहकार ने आश्वासन दिया। इसी सलाहकार की योजना के अनुसार मीरां के पास शालिग्राम की जगह विषधर सर्प भेजा गया था। एक सप्ताह के अन्दर दूसरी योजना बनायी गयी। मीरां के भक्तमंडल में तरह-तरह की खबरें पहुँचती थीं। इनका उल्लेख वे मीरां से भी करते थे। परन्तु मीरां को उनकी परवाह न थी। वह हँसती हुई अपने भक्तिकार्य में सदा संलग्न रहती थी। भक्तों को विश्वास हो जाता था कि शीघ्र ही मीरां के ऊपर कोई भयंकर आफ़त आने वाली है। परन्तु मीरां को कोई चिन्ता न थी। सारे विश्व की रक्षा करनेवाले विश्वम्भर के हाथ जिसने अपना जीवन अर्पण कर दिया, उस पर आफत कैसी ? उसे भय कैसा ? उसके विरुद्ध षड्यंत्र कैसा ?......सबका एक ही उत्तर—भक्ति !

मंदिर में मीरां की प्रभु-सेवा प्रतिदिन की भांति चल रही थी। 'गिरिधरलाल !' 'गिरिधरलाल !' नामोच्चारण करती हुई मीरां उपस्थित भक्त-मण्डली को भगवान की आरती दे रही थी। आरती ग्रहण करनेवालों में आज एक नया आदमी दीख पड़ा। उसने मीरां से कहा :

'कुंवरानीजी ! यह दूध का कटोरा....प्रभु को नैवेद्य लगावें।'

'तुम लाये हो, भक्त ?'

'जी, लाया मैं हूँ....परन्तु भेजा है राणाजी ने !' विषपान कराने के लिए आये हुए विष-वैद्य को भी भक्ति का यह वातावरण भयप्रेरक लगा, और उसने डरकर अपने कार्य की ज़िम्मेदारी राणाजी के सिर पर डाली।

'ऐसी बात ? कोई हर्ज नहीं...लाओ, दो। राणाजी के ऊपर प्रभु की कृपा होती जा रही है।' कहकर मीरां ने दूध का रजत-कटोरा लिया, और उसमें तुलसी-पत्र डालकर प्रभु के सामने रख दिया। उसके बाद कुछ क्षणों तक उसने अपनी आँखें बन्द करके प्रभु को दूध का नैवेद्य लगाया...मानसिक ढंग से ! भक्तमण्डली स्तब्ध बनकर यह दृश्य देखती रही। उन्हें लग रहा था कि मीरां के ऊपर कोई आपत्ति आ रही है।

प्रभु को भोग लगाने के बाद मीरां उस कटोरे को दूध लानेवाले को देते हुए बोली :

'राणाजी से मेरी आशीष कहना....और कहना कि प्रभु को भोग लगा कर यह प्रसाद मैंने भेजा है...वे इसे अवश्य पी जायँ।'

'परन्तु...राणाजी ने तो दूसरी ही आज्ञा दी है।' दूध लानेवाले व्यक्ति ने संकोच से कहा।

'वह कौन सी आज्ञा है ?'

'यह प्रसाद आप ही ग्रहण करें....' मुझे इस बात का खयाल रखने की सूचना मिली है कि इस दूध की एक बूंद भी किसी अन्य को न दी जाय।

'ऐसी आज्ञा है ?...सच पूछो तो प्रभु के प्रसाद को बाँट कर ग्रहण करना चाहिये...नहीं तो प्रसाद का महत्व नष्ट हो जाता है...अच्छा ! यदि राणाजी की आज्ञा है तो...' मीरां ने कहा। उसके साथ ही प्रभुसेवा में लगी रहनेवाली उसकी ननद ऊदाबाई ने चौंक कर कहा :

'नहीं, नहीं भाभी ! इसे न पीना।'

'क्यों ?'

'इसमें विष है !'

'ऊदाबाई ! राणाजी मुझे विष नहीं भेज सकते।'

'मैं कहती हूँ कि इसमें हलाहल विष भरा है ! फेंक दो, भाभी ! मैं तुम्हें नहीं पीने दूंगी।' कहकर ऊदाबाई ने मीरां के कटोरेवाले हाथ को पकड़ लिया।

मीरां हँस पड़ी। भक्तमंडली के मुख पर व्याप्त होने वाली चिन्ता को उसने देखा। उसने कुछ क्षणों तक प्रभु की मूर्ति की ओर देखा और पुनः हँसकर कहने लगी :

'बहिन, तुम तो भक्त हो...तुम्हें चिन्ता कैसी ? तुम्हारे भाई कभी मुझे विष भेज ही नहीं सकते....और कदाचित् भेजा भी हो तो...वह प्रभु को अर्पण हो चुका है....प्रभु को भोग लगाया हुआ विष भी अमृत बन जाता है...यदि ऐसा न हो, तो प्रभु की प्रभुता का मान घटेगा....मुझे क्या ?'

'ऐसा साहस न करो, भाभी !' अधिक व्यग्र होकर ऊदाबाई ने कहा।

इसी प्रकार की घबराहट सारी भक्तमण्डली को हो रही थी।

'इसमें कोई साहस नहीं, बहिन! मुझे दूध में विष दीख नहीं पड़ता... होगा भी तो वह प्रभु का प्रसाद बन गया है। यह प्रसाद भले ही विष हो। कदाचित् प्रभु की यही इच्छा हो कि मेरी मृत्यु विषपान से हो। प्रभु के प्रसाद का मैं त्याग नहीं कर सकती, वह विष हो या अमृत!'...और 'जय गिरिधरलाल!...' कहकर मीरां ने दूध के कटोरे को अपने मुख से लगाया, और सारा दूध पी गयी।

सबने अपने हृदय थाम लिये। ऊदाबाई का श्वास रुक गया। क्षण दो क्षण तक सब लोगों को यही लगा कि मीरां लड़खड़ाकर गिर पड़ेगी। परन्तु वह तो पैरों में घुँघरू बाँधने के लिए झुकी थी। ज्यों ही उसने घुंघरू बाँधे, त्योंही पैरों में नृत्य की गति आयी...केवल पैरों में ही नहीं, सारे शरीर में। नर्तन शुरू हुआ और मीरां के कण्ठ में से शब्द निकले :

पद घुँघरू बाँध मीरां नाची रे!
मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गई दासी रे...
लोग कहै मीरां भई बावरी, न्यात कहै कुलनासी रे...
विष का प्याला राणाजी भेज्या, पीवत मीरां हाँसी रे....
मीरां के प्रभु गिरिधरनागर सहज मिले अविनासी रे...

धीरे धीरे इस गीत और नृत्य ने ऐसा वातावरण उत्पन्न किया कि सुननेवाले सब झूमने लगे। किसी को भी खयाल न रहा कि मीरां ने अभी ही विषभरा दूध पिया है। नृत्य-गीत के प्रवाह में समय का किसी को भान न रहा। सहज मिले हुए अविनाशी के सम्मुख गाते और नाचते हुए संसार का भान भूली हुई मीरां को पुनः ज्यों ही पार्थिव जगत का भान आया त्योंही उसने नृत्य और गीत को रोक दिया। ऊदाबाई को चिन्ता हो रही थी कि विष कहीं अब अपना प्रभाव न दिखावे। परन्तु मीरां के शरीर में कोई भी विकार उत्पन्न न हुआ। पूरी संज्ञा प्राप्त करने के बाद मीरां ने पूछा :

'राणाजी की ओर से कौन दूध लेकर आया था?'

दूध लानेवाला आगे आया; और मीरां के पैरों पर पड़कर वह बोला :

'मैं हत्यारा ही यह दूध लाया था...राणाजी की आज्ञा के अनुसार !'

'बहुत अच्छा किया भाई ! राणाजी की तो मैं ऋणी हूँ । उन्हीं की कृपा से शेष के दर्शन हुए....और आज मैंने प्रभु का प्रसाद...पाया...सच्चा प्रसाद,...कितना मधुर !...आज तक ऐसा स्वाद मैंने चखा न था। प्रभु ने सचमुच दूध को ग्रहण करके उसे प्रसाद बना दिया...राणाजी ने पिया होता तो...वे अमर हो जाते...लो यह कटोरा....राणाजी से कहना कि उनकी आज्ञा का पालन हो गया।' कहकर मीरां ने वह चाँदी का कटोरा और थोड़ा-सा अन्य प्रसाद लानेवाले व्यक्ति को दिया।

भक्तमंडली दिङ्मूढ़ बन गयी। ऊदाबाई को कहीं से खबर लग गयी थी कि आज राणाजी मीरां के पास विष का पात्र भेजनेवाले हैं। उसने यह निश्चय किया था कि वह मीरां को यह विष नहीं पीने देगी। उसने इस बात का भरसक प्रयत्न भी किया, यद्यपि उसमें वह असफल रही। मीरां पर विष का कोई असर न हुआ। सच्ची भक्ति का यह प्रताप देखकर सब लोग विस्मित बन गये। विष लानेवाला व्यक्ति स्वयं मीरां का भक्त बन गया।

उस विष-निष्णात ने राणाजी के पास लौटकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया और विनीत भाव से अपना अभिप्राय प्रदर्शित किया :

'राणाजी ! अब मीरां को उसके मार्ग पर जाने दें...रोकें नहीं। सर्प ने उसे डँसा नहीं; सौ सर्प का विष मैंने इस दूध में मिलाया था, ऐसा कि जीभ का स्पर्श होते ही प्राण ले ले !...सो मीरां कटोरा भरके पी गयी, और उसे कुछ न हुआ ! वे भगवान की परम भक्त हैं, राणाजी ! आपको उनके पैर पड़ना चाहिये।'

राणा को सलाह की आवश्यकता न थी। इस कृतघ्न विष-निष्णात पर उसे बड़ा क्रोध आया। पास ही में पड़ा हुआ फूलदान उठाकर उन्होंने विष-निष्णात पर बलपूर्वक मारा। उस बिचारे के सिर से रुधिर की धारा बह निकली।

'कृतघ्न ! अपना काला मुख लेकर यहाँ से चला जा !...जो जाता है वही मेरा द्रोही बनकर आता है....और मीरां का भक्त...' क्रोध के आवेश में महाराणा विक्रम बोल उठे।

'क्षमा करो, राणाजी !...परन्तु मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ...आप स्वयं मीरां देवी के पास पधारें...मुझे विश्वास है कि आप भी उनके भक्त बनकर लौटेंगे।' विष-वैद्य ने कहा।

राणाजी की क्रोधाग्नि और भी भभक उठी। उसे शान्त करने के लिए दरबारी सब हँस पड़े, और उन्होंने एक अंगरक्षक को आज्ञा दी कि वह उस विषवैद्य को खण्ड के बाहर करदे।

'अब मैं स्वयं जाऊँगा !' राणा ने विषवैद्य की चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा।

'मीरां भक्त है या नहीं, यह तो कौन जाने...परन्तु वह जादूगर अवश्य है !' एक पार्षद बोल उठा।

'मुझे जादू का डर नहीं....मेरी यह तलवार जादू की किसी भी ग्रन्थि को काटने की क्षमता रखती है।' विक्रम ने कहा।

'राणाजी ! मीरां को आप ठीक समय पर पकड़ें। उसके खण्ड में अनेक स्त्री-पुरुष आते-जाते रहते हैं...वह कृष्णचरण तो सर्वदा उपस्थित ही रहता है....यह सुना गया है कि कभी-कभी मीरां किसी पुरुष को संबोधित करके प्रेमालाप करती है....नाम कृष्ण का...परन्तु जहाँ तक मेरा ख़याल है वह अपने किसी प्रेमी को छिपाकर उससे प्रेम करती है'....दूसरे पार्षद ने कहा।

'मैंने भी यही सुना है।' विक्रम ने कहा।

'तो मेरी विनती है कि...ठीक समय पर आप वहाँ पहुँच जायँ और उन दोनों को पकड़ लें...फिर शिक्षा देनी तो आसान है...'

'पर पुरुष को घर में रखनेवाली क्षत्राणी के लिए शिरच्छेद के अतिरिक्त और क्या शिक्षा हो सकती है ?' राणाजी ने कहा।

यह प्रसंग भी शीघ्र ही आया। एक गुप्तचर ने आकर राणाजी को समाचार दिया कि नृत्य-गीत का कार्यक्रम पूरा करके अब मीरां किसी पुरुष से प्रेमालाप कर रही है...उस समय रात्रि का प्रथम प्रहर था। राणाजी

तुरन्त दुधारी तलवार लेकर खड़े हो गये और मीरां के आवास में पहुँच गये। मीरां के आवास में किसी को भी आने-जाने का निषेध न था। उसके द्वार सदा खुले रहते थे। विक्रम ने खण्ड में आकर चारों ओर नज़रें डालीं, और वहाँ पहरा बैठा दिया। अन्दर जाने के पहले उसने भीत पर कान लगाये तो स्पष्ट सुन पड़ा :

'मेरे नाथ !...अब बहुत हो चुका...इन आँखों को अब अपनी रूपराशि से भर दो !...तुम्हारे बिना हृदय सूना-सूना लगता है...क्या कहूँ ?...'

मीरां वास्तव में किसी प्रेमी को संबोधित कर रही थी...अरे, अब तो उसने गाना शुरू किया :

'दिवस गवाँया बात करन में, रैन गवाँई सोय,
प्राण गवाँऊँ विरह-दाव में, नैन गवाँऊँ रोय...
जो मैं ऐसा जानती, प्रीत किये दुःख होय,
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीत न करियो कोय...'

शब्दों के संबोधन से मन न भरा तो प्रेमगीत शुरू हुए। इन गीतों की ध्वनि कहाँ न जाती होगी ?...सारा चित्तौड़ उसे सुनता होगा ! एक राजरानी इस प्रकार के प्रेमगीत गाती फिरे, यह महाराणा से सहन न हुआ। उसने तुरन्त खण्ड में प्रवेश किया। उसकी आँखें क्रोध से लाल बन गयी थीं; उसका एक हाथ तलवार की मूँठ पर था।

परन्तु मीरां को राणा के प्रवेश का जरा भी पता न लगा। बैठते-उठते घूमते-फिरते उसकी आँखों के सामने तो गिरिधरलाल की मूर्ति वर्तमान रहती। दुःख मीरां को केवल इस बात का रहा करता था कि उसकी आँखों के सामने हाज़िर रहनेवाला मनमोहन प्रभु प्रत्यक्ष रूप धारण करके उसे अपने में विलीन क्यों नहीं कर लेता। यही उसकी विरह वेदना थी ! उसे कृष्ण के पार्थिव देह का स्पर्श करना था, कृष्ण की वाणी को प्रत्यक्ष रूप से सुनना था, कृष्णमय बनकर अपनी जड़ देह को फेंक देना था। उसे अपने शरीर का तो भान ही न था। उसकी देह कृष्ण की याचना कर रही थी। इस

याचना में कभी वह बोल उठती, कभी वह गाने लगती; उसके आसपास कौन बैठा है, इसका उसे ज़रा भी भान न रहता । वह अकेली हो, या समूह में, आवेश आने पर बोलना और गाना रोक न सकती ।

'मीरां देवी !' अन्दर प्रवेश करके विक्रम ने पुकारा । मीरां का ध्यान भंग हुआ । कृष्णप्रेम के नशे को उतरने में कुछ क्षण बीत गये । घूमकर देखा तो उसे अपने देवर के दर्शन हुए ।

'मुझे बुलाया ?....कौन? ...अच्छा ! देवरजी ! पधारो !' कह कर मीरां ने बैठे-बैठे ही राणा का स्वागत किया ।

'देवर हूँ...परन्तु इस समय नहीं...मैं चित्तौड़ का महाराणा हूँ...और इस समय महाराणा के रूप में आया हूँ ।' विक्रम ने साभिमान उत्तर दिया।

'हाँ, हाँ ! मैं भूल गयी । पधारो राणाजी ! आज मेरे ऊपर कैसे कृपा की ?' मीराँ ने सामने पड़े हुए आसन की ओर संकेत करते हुए अपनी भूल सुधार ली ।

'मैं यहाँ बैठने के लिए नहीं आया हूँ । मैं तो यह देखने के लिए आया हूँ कि अपने खण्ड में तुमने किस पुरुष को छिपा रखा है ?'

'पुरुष ? मेरे खण्ड में रहनेवाला पुरुष तो वर्षों से चला गया है....मुझे विधवा बनाकर !' भोज का स्मरण करके मीरां ने कहा ।

'भाभी ! झूठी दया उपजाने का प्रयत्न न करो । बताओ, किस पुरुष को यहाँ छिपाया है ?....सच सच कहना ।'

'राणाजी ! किसी ने आपको मेरे विरुद्ध भरमाकर तो नहीं भेजा है ?'

'मैं किसी के भरमाने में आनेवाला नहीं ! अपने कान से सब बात सुनने के बाद यहाँ आया हूँ ।'

'अपने कान से आपने सुना ?....क्या सुना ?'

'मुझे लज्जित न करो ! तुम राठोड़ की पुत्री हो; एक सिसोदिया की पत्नी हो ! एक विधवा के मुख से जो शब्द नहीं निकलने चाहिये, वे शब्द तुम किसको उद्देश्य करके कह रही थीं ?'

'मैं ? किसको संबोधित करके कहती हूँगी ?....हाँ...समझ गयी । मैं

वे शब्द उसको कह रही थी, जिसको जब सधवा थी तब भी कहा करती थी ।'

'मैं यही जानना चाहता हूँ । वह कौन है ऐसा आदमी, जिससे भोजराज के जीवनकाल में और आज भी तुम प्रेमालाप करती आयी हो ?'

'उसका क्या काम है, राणाजी ?'

'मुझे उसका मस्तक छिन्न करना है...जल्दी बताओ उसे कहाँ छिपाया है ?'

'वह मिले तब तो आपका कल्याण हो जाय ।'

'मेरा कल्याण किस बात में है, यह मैं स्वयं जानता हूँ...बताओ उस पुरुष को...आज वह बच नहीं सकता ।'

'राणाजी ! मैं पुनः कहती हूँ...आपको भ्रान्ति हो रही है ।'

'मैंने, उसके साथ तुम्हें वार्तालाप करते हुए सुना है...क्या यह झूठ बात है ?'

'नहीं; बिलकुल सत्य है । परन्तु उस पुरुष को कोई छिपा नहीं सकता। वह तो व्यापक है....सर्वव्यापी है...यह देखिये, आपके सामने खड़ा है... आपके आगे...पीछे....सर्वत्र...!'

'परिहास का आज समय नहीं, मीरांदेवी !'

'मेरे जीवन में अब परिहास को स्थान ही नहीं ।'

'तब बता दो, किसे कहाँ छिपा रक्खा है ?'

'यहाँ जो पुरुष छिपा हुआ है, वह आपके और मेरे हृदय में भी वास करता है । वह जिस क्षण प्रत्यक्ष होगा, उस समय एकाकी ही रहेगा... मेरा और आपका कहीं पता भी न लगेगा ।'

'बातों में मैं आनेवाला नहीं ! आज सभी बातों का अन्त हो जायगा । वह छिपनेवाला व्यापक होगा, तो मेरी आँखें उससे भी अधिक व्यापक बनेंगी । तुम बताती हो, या मैं स्वयं खोज लूँ ?...मैं स्वयं खोज लूँगा, तब भी...वह बचेगा नहीं ।'

'जिस पुरुष को आप समझते हैं कि यहाँ छिपा हुआ है, वह स्वयं खोजे बिना मिलता नहीं...किसी को भी !'

'अच्छा ! ऐसी बात ? तब देखो, मैं इस खण्ड का कोना-कोना खोजता हूँ...और याद रखना...' कहकर विक्रम ने उस खण्ड का प्रत्येक कोना छान डाला ।

कोई भी छिपा हुआ आदमी उस खण्ड में मिला नहीं । विक्रम ने पलंग देखे, बिस्तर देखे; सुव्यवस्थित रखी हुई सभी वस्तुओं को हटाकर देखा; बिछी हुई कालीनों को उलट दिया । परन्तु वहाँ कोई भी पुरुष हाथ न लगा । अपनी असफलता पर विक्रम को और भी क्रोध चढ़ा । दौड़ता हुआ मीरां के पास आकर वह बोला:

'मीरांदेवी ! बाहर निकालो उस पुरुष को, जिसे तुमने छिपा रखा है ...मैं अन्तिम बार कह रहा हूँ...न निकालोगी तो...'

'राणाजी ! मैं तो अपने प्रभु को बराबर बुला रही हूँ ।'

'उसे मेरे सामने उपस्थित करो ।'

'यह मेरे वश की बात नहीं...मैं तो केवल प्रार्थना कर सकती हूँ ।'

'भाभी ! मैं कुछ भी सुनने के लिए तैयार नहीं । उस पुरुष को बताओ; नहीं तो...याद रखना कि मैं सिसोदिया हूँ...!'

'आप केवल सिसोदिया ही नहीं, राजा हो, मेवाड़ के मालिक हो ! परन्तु प्रभु तो सिसोदियों की सत्ता से ऊपर हैं ।' मीरां ने कहा ।

'प्रभु के नाम पर पाखण्ड रचनेवाली स्त्री ! मुझे मालूम है कि तुम्हारा प्रभु कौन है । मैं आज उसका शिरच्छेद करनेवाला हूँ ।'

'इस काम में मैं आपको कभी रोकूँगी नहीं...रोक सकूँगी नहीं, राणाजी !'

'और यदि उसका सिर न मिला, तो मैं तुम्हारा सिर उतार लूँगा !' क्रुद्ध होकर राणा ने कहा ।

'यह कार्य अधिक सरल होगा, मेवाड़पति !' मीरां ने शांतिपूर्वक कहा ।

'ऐसी बात ? अभी तक परिहास ही करना है । मीरां ! देख तेरा काल आ गया !' कहकर विक्रम ने तलवार म्यान में से बाहर निकाली । गम्भीर होकर बैठी हुई मीरां के कण्ठ को देखा, और ज्यों ही उसने प्रहार करना चाहा, त्यों ही उसकी आँखों ने एक चमत्कार देखा ।

वहाँ मीरां एक न थी, दो हो गयी थीं !

राणा कुछ उलझन में पड़ गया। उसकी आँखों में कोई दोष तो नहीं उत्पन्न हो गया !

अथवा उस खण्ड में कोई जादू तो नहीं करता था ?

राणा ने मन को दृढ़ किया। भले ही दो मीरां बैठी हों ! जिसको आघात लगेगा, उसका सिर कटेगा। दो मीरां को मारने में देर ही कितनी ? राणा ने पुनः तलवार उठाई।

दो मीरां की जगह चार मीरां दीख पड़ने लगीं !

विक्रम इस आश्चर्य को देखकर स्तब्ध बन गया। इस प्रकार मीरां की संख्या बढ़ती गयी तो ? सत्य क्या है ? एक मीरां अथवा अनेक ! विक्रम का शरीर काँपने लगा। उसे ऐसा आभास हुआ कि उसकी तलवार हाथ से गिर जायगी।

'राणाजी ! क्यों रुके ?...मेरे ऊपर दया करने की आवश्यकता नहीं।' मीरां ने उलझन में पड़े हुए राणा से कहा।

'चार-चार रूप धारण करनेवाली ओ जादूगरनी !...मैं देख रहा हूँ कि तुम चार रूप धारण कर सकती हो।'

'चार रूप, मेरे ?...राजन् ! मेरा तो एक ही रूप है...भक्ति को जादू की आवश्यकता नहीं...मालूम होता है, आपको भ्रम हो रहा है।' मीरां ने कहा। विक्रम ने देखा कि वहाँ एक ही मीरां बैठी हुई है।

'मुझे जो भी होता हो ! सुनो, भाभी ! मेरी आज्ञा है; चित्तौड़ की सीमा के बाहर चली जाओ...यहाँ रहकर सिसोदिया कुल को तुमने बहुत कलंकित किया...अब तुम्हारा यहाँ अधिक रहना असह्य हो रहा है।' भय और क्रोध की मिश्रित भावना से अभिभूत होकर विक्रम ने कहा। मीरां पर तलवार चलाने की अब उसमें हिम्मत न थी। यद्यपि अपनी निष्फलता के कारण उसका क्रोध बढ़ता जाता था। शिरच्छेद करने में असमर्थ होनेवाला राणा देश-निष्कासन का दण्ड तो दे ही सकता था।

'राणाजी ! राणा संग्रामसिंह अथवा भोजराज किसी ने मुझे कलंकिनी नहीं कहा। आप...मेरे छोटे देवर होकर...मुझे कलंकिनी कहते हैं ?...जैसी

इच्छा ! आपके हाथ में इस समय सत्ता है....मैं इसी क्षण चित्तौड़ ही नहीं, मेवाड़ की सीमा छोड़कर जा रही हूँ...जब तक मैं मेवाड़ की सीमा में रहूँगी, तब तक अन्न-जल ग्रहण न करूँगी, बस।' कह कर मीरां खड़ी हो गयी। घूम कर देखा तो खण्ड के अन्दर उसका भाई जयमल आता हुआ दिखाई पड़ा।

जयमल की गणना अब राजस्थान के महान् योद्धाओं में होने लगी थी। अपने पिता और दादा के साथ उसने संग्रामसिंह के छोटे-बड़े अनेक युद्धों में भाग लिया था। बहुत से प्रसंगों पर उसके सुझावों ने पराजय को विजय में परिवर्तित कर दिया था। अपने पिता और चाचा की मृत्यु के बाद वह मेड़ता ही में रहता। राणा रत्नसिंह और राणा विक्रम को उसकी सहायता की आवश्यकता न रही। मेड़ता में रहकर भी उसका यश धीरे-धीरे फैलने लगा था। उसकी कार्य-निष्ठा, भक्ति और वीरता उसे राजस्थान में जो स्थान दूदाजी को प्राप्त था, वही स्थान दिला रही थीं। राजस्थान के सभी राज्य उसकी मैत्री के इच्छुक बन गये थे।

विक्रम ने भी घूम कर जयमल को आता देखा। जयमल और मीरां के बीच कैसा स्नेह था, यह विक्रम ही नहीं, सारा राजस्थान जानता था। मीरां के प्रति भक्ति और सद्भावना रखनेवाले वर्ग को आश्चर्य होता था कि विक्रम की क्रूरता से बचाने के लिए जयमल मीरां को अपने पास क्यों नहीं बुला लेता। सच बात तो यह थी कि आज तक मीरां ने विक्रम के दुर्व्यवहार पर विशेष ध्यान दिया न था, और जयमल के कान तक इस प्रकार के व्यवहार के कोई समाचार न जायँ, इसका प्रबंध कर दिया था। परन्तु अन्त में जयमल को विक्रम की क्रूरताओं का पता लग गया। मीरां के पास शालिग्राम के नाम से विषधर सर्प के भेजे जाने की बात जब उसने सुनी, तब वह उठ खड़ा हुआ, और सरपट मंजिल तय करता हुआ वह चित्तौड़ पहुँच गया।

चित्तौड़ पहुँचने पर उसे बहुत-सी बातें मालूम हुईं। वह दौड़ता हुआ मीरां के महल में पहुँच गया। वहाँ उसे जब यह पता चला कि उसी रात को विक्रम तलवार लेकर मीरां के पास गया है, तब उसका कलेजा कांप

उठा। शीघ्रता से वह मीरां के आवास की ओर दौड़ा गया। विक्रम के खड़े किये हुए शस्त्रसज्ज सैनिकों ने जयमल को पहचान लिया। उसे रोकने की उनकी हिम्मत न हुई। और विक्रम ने जब उसे देखा, तब उसके मन में भी भय का संचार हुआ।

'कौन ? जयमल राव ?...इस समय कहाँ ?...इतनी रात को ?' विक्रम के मुख से प्रश्न निकल पड़ा।

'राणाजी ! आपको याद होगा कि जब आप छोटे थे, तब मैं आपको विकाजी के नाम से पुकारा करता था।...अब आप मेवाड़पति बन गये हैं.... मेड़तिया राठोड़ों का धर्म है कि ठीक समय पर मेवाड़पति की सहायता करना...मैं इस समय आपको सहायता देने आया हूँ।' जयमल ने कहा।

विक्रम को प्रथम तो जयमल के कथन का भावार्थ ही समझ में न आया।

'सहायता ?...मैंने तो मांगी नहीं, राव !' विक्रम ने कहा।

'तब भी मैं देने आया हूँ। सिसोदिया राणा का हाथ स्त्रीवध से कलंकित न हो, यह मुझे देखना चाहिये न ?' विक्रम की ओर कड़ी निगाह से देखते हुए जयमल ने कहा।

'स्त्रीवध ? कैसी बात कर रहे हो ?'

'चुप रहो, विकाजी ! मीरां मेरी बहिन है, यह तो जानते हो न ?' जयमल ने क्रुद्ध होकर कहा।

इसे मैं कब अस्वीकार करता हूँ ? बहिन के विषय में किसी प्रकार का दुःख हो, तो उसे ले जाकर अपने पास रखो।'

'क्या करूँ तुम महाराणा संग्राम के पुत्र हो !...नहीं तो....नंगी तलवार लेकर मेरी बहिन के सामने खड़े होनेवाले व्यक्ति का मस्तक कब का कटकर बहिन के चरणों पर गिरा होता...वह व्यक्ति देव होता, या दानव !... समझे राणाजी !'

'नहीं, नहीं, भाई ! राणाजी को कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।' मीरां ने बीच में आकर भाई के क्रोध को शान्त करने का प्रयत्न किया।

'बहिन ! जयमल की आँखें और कान फूटे नहीं हैं कि वह तुम्हारे ऊपर होनेवाले अत्याचारों को न जाने !'

'रावजी ! बहिन को तो ठीक ठीक पहिचानते ही होगे।' विक्रम ने हिम्मत करके मीरां के दोष को प्रकट करने की भूमिका रचना शुरू किया।

'अपनी बहिन को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। न पहिचान सका केवल तुमको, राणाजी ! इस सिसोदिया राजकुल में....मोकल, कुम्भा, और संग्राम के कुल में...भक्तद्रोह के साथ तुम्हारा जन्म कैसे हुआ ?...बहिन ! यह विशाल मेवाड़भूमि तुमको स्थान नहीं देती....तुम्हारे लिए मेरी छोटी-सी जागीर मेड़ता में पर्याप्त स्थान है...मैं तुमको अपने साथ ले जाने के लिए आया हूँ।' जयमल ने कहा।

'भाई ! मेवाड़...राणाजी का मेवाड़ मुझे आश्रय नहीं देता...मुझे तो यह भूमि छोड़नी ही पड़ेगी।' मीरां ने कहा।

'कल प्रातःकाल हम यहाँ से निकल चलेंगे।' जयमल ने कहा।

'कल प्रातःकाल ? भाई ! कल सबेरे तक यहाँ रुकना असम्भव है। मैंने तो इसी क्षण चित्तौड़ छोड़ने का विचार किया है।' मीरां ने जयमल को समझाया।

'इस क्षण ? इस अंधेरी रात में ?'

'हाँ, भाई ! राणाजी ने मेरा देश-निष्कासन किया है...मैंने भी प्रण लिया है कि इसी क्षण से मेवाड़ में मेरे लिए अन्न-जल त्याज्य है !' मीरां ने कहा।

'राणाजी ! मेड़तिया राठोड़ों के रुधिर से मेवाड़ की गद्दी अभिषिक्त हुई है। यह रुधिर पुनः तभी मिलेगा, जब वह गद्दी मीरां से क्षमा याचना करेगी !' जयमल ने धमकी दी। यह बात सर्वविदित थी कि चित्तौड़ के राज्य की रक्षा के निमित्त मेड़ता के राठोड़ों ने भारी आत्मत्याग किया था। जयमल की वज्र-देह को देखकर विक्रम घबराया; उसकी धमकी ने विक्रम को भयभीत बना दिया। उसे यह आभास होने लगा कि वह कोई भयंकर भूल कर बैठा है। वह धीरे से बोल उठा :

'मैंने आज के आज मेवाड़ छोड़ने को कहा नहीं...मेवाड़ का त्याग करने का तो प्रश्न ही न था...मैंने तो केवल इन्हें चित्तौड़ से हट जाने को कहा था...कुंभलनेर, रणथंभौर...जहाँ मीरां देवी की इच्छा हो, वहाँ जाकर रहें, और सहर्ष भक्ति करें....'

'नहीं, राणाजी ! अब तो ये मेड़ता ही जायँगी ।' जयमल ने कहा ।

'भाई ! मुझे मेड़ता चलने का आग्रह न करो.......मुझे जाने दो अपने प्रभु की शोध में......मैं गिरिधारीलाल को खोज रही हूँ......मैं ब्रज में जाऊँगी.......वहीं रहूँगी......मेरे प्रभु मुझे ब्रजमंडल में ही मिलेंगे।' मीरां ने भाई को समझाया ।

और जयमल के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी मीरां ने ब्रजभूमि की ओर ही जाने का निश्चय किया.......और वह निकल पड़ी ।

साथ में केवल पहिने हुए वस्त्र और गिरिधरलाल की मूर्ति ही थी । वाद्यों में मात्र करताल, तम्बूरा, मृदंग और शंख लिये । अन्य साधनों में केवल गोपीचन्दन और तुलसी की माला साथ में ली । साधु-सन्त और साध्वियों की टोली मीरां के साथ ही उसके महल से बाहर निकली । और किसी सुख-साधन की मीरां को आवश्यकता न थी । दास-दासियों के नेत्रों से अश्रु की धाराएँ बह रही थीं । मीरां ने उनको आश्वासन दिया, और अपने कार्य को शान्ति से करते रहने की विनती की । मीरां की ननद ऊदाबाई, जो मीरां की परमभक्त बन गयी थी, वह भी मीरां के साथ जाने के लिए तैयार हो गयी । मीरां ने उसे समझाया, और उसे चित्तौड़ में ही रहने का आग्रह किया ।

'भाभी ! मैं तो चित्तौड़ में तभी रहूँ, जब तुम चित्तौड़ गढ़ न छोड़ो ।'

'बहिन ! मुझे तो राणाजी ने देश-निष्कासन का आदेश दिया है ।' मीरां ने अपने चित्तौड़ छोड़ने का कारण बताया ।

'मैं राणाजी से यह आज्ञा बदलवा दूँ !'

'परन्तु ऊदाबाई ! मैंने तो मेवाड़ की भूमि छोड़ने का प्रण ले लिया है ।'

'जो प्रण मीरां बाई का, वही प्रण ऊदाबाई का !' कहकर ननद भी भाभी के साथ निकल पड़ी।

धीरे-धीरे कृष्ण नाम का उच्चारण करते हुए शान्तिपूर्वक मीरां उसी रात में गढ़ के पर्वतों से नीचे उतरने लगी।

राणा विक्रमसिंह का क्षुब्ध मन यह अनुभव कर रहा था कि चित्तौड़ की–मेवाड़ की–लक्ष्मी और वीरश्री मीरां के साथ ही मेवाड़ छोड़कर जा रही है।

परन्तु...वह भी तो राजपूत था, सिसोदिया था, महाराणा था ! यदि मीरां का हट न टले, तो राणा का हट भी क्यों छूटे ?

राणा को प्रसन्न करने के लिए, उत्साहित करने के लिए, उसका कार्य सच्चा और बुद्धिपूर्ण था, यह प्रदर्शित करने के लिए दरबारियों की कमी न थी। बहुत से नट, विट, चेट, विदूषक और मित्र तैयार ही थे। दूसरे दिन बहुत सवेरे राणा विक्रमसिंह ने अपने राजमहल की अट्टालिका से देखा तो दूर क्षितिज में कुछ धूल उड़ती हुई दीख पड़ी, और उस धूल के साथ साथ साधु-मंडल जाता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। जिसकी चरणरज चित्तौड़ को पवित्र बना रही थी, वह परम भक्त मीरां चित्तौड़ छोड़कर चली गयी। इतना ही नहीं, उसने ऐसा मार्ग ग्रहण किया, जहाँ से वह पुनः लौटकर मेवाड़ आये ही नहीं !

विक्रम के मुखपर स्मित झलक उठा। हँसने का उसने प्रयास अवश्य किया, परन्तु वह हँस न सका। उसके हृदय में एक प्रकार की धड़कन हो रही थी। प्राची दिशा में उदित भानु की विकराल लाल आँखों के सामने जैसे चित्तौड़गढ़ अग्नि की लपटों में जल रहा हो ! परन्तु शीघ्र ही सत्य वस्तु-स्थिति समझ में आयी। वस्तुतः प्रातःकाल में भगवान भास्कर अपनी प्रकाशमयी रश्मियों से चित्तौड़गढ़ को प्रकाशित कर रहे थे।

तब अट्टालिका पर से नीचे उतरते हुए उसे ऐसा भ्रम क्यों हुआ कि उसके ऊपर अनेक तलवारें उठी हुई हैं। चित्तौड़पति के ऊपर उसीके महल में इस प्रकार शस्त्र उठानेवाला कौन होगा ? उसने चारों ओर देखा; वहाँ

कोई दीख न पड़ा। उसकी सिसोदिया वंश की विरोधिनी मीरां भी चली गयी थी। मीरां का पक्ष लेनेवाले सरदारों को वह जब चाहे तब निकाल सकता था, जब चाहे तब उनकी जागीर छीन सकता था। और यदि किसी ने विद्रोह किया तो ?

उसके सात हजार पहलवान इशारा पाते ही ताल ठोककर खड़े हो जायेंगे और कैसा भी वीर सामने क्यों न आये उसको बात की बात में पीस कर रख देंगे।

परन्तु यह क्या ?...कौन बार बार तलवार लेकर उसकी ओर धसा आता है ?...नहीं, नहीं...उसे भ्रम हुआ...ये सब भ्रम भी जल्दी ही चले जायंगे ! उसने एक अनुचर को आज्ञा दी :

'दौड़ कर जाओ....गढ़ के अन्दर या आसपास किसी ने आग तो नहीं लगायी है ?'

अनुचरों को आज्ञा मिलते ही दौड़ जाने की आदत होती है; परन्तु यह अनुचर कुछ देर रुका रहा और विक्रम की ओर देखता रहा। स्वामी की आँखों में भी जब उसने वही आज्ञा देखी, तब नमन करके चला गया।

क्या राजमहल के सब अनुचर भी मीरां के चले जाने से पागल तो नहीं बन गये थे ?

आज प्रतिदिन के अनुसार राजमहल में भजन, कीर्तन, झांझ, मृदंग आदि की मधुरध्वनि सुनाई नहीं देती थी। कृष्णनाम की धुन बिना, गिरिधरलाल के नामोच्चारण बिना, और घंटी के न बजने से चित्तौड़ का प्रभात श्मशान सदृश शून्य बन गया था। विक्रम को कोई अकथ्य भय की भावना भयभीत बना रही थी। ऐसे समय उसकी इच्छा हुई कि वह अपनी माता कर्मदेवी के पास जाय। संग्राम की विधवा हाड़ीरानी कर्मदेवी ने अपने इस पुत्र के लिए कुछ उठा न रखा था। विक्रम को राजगद्दी मिले अथवा मेवाड़-राज्य का विभाजन करके विक्रम को उसका भाग सौंप दिया जाय, ऐसी अनेक योजनाएँ रानी बना चुकी थी। विक्रम को अपनी माता में अपूर्व श्रद्धा थी। कभी भी कोई उलझन उसके सामने उपस्थित होती,

तो उसके सुलझाने के लिए वह तुरन्त माता कर्मदेवी के पास दौड़ जाता। इस समय भी माँ के पास जाना ही उसने उचित समझा।

प्रतिभाशालिनी कर्मदेवी अपने रजत-जटित आसन पर बैठकर मोती-भस्म का प्राशन करके उसके ऊपर केसर-कस्तूरी मिश्रित दूध पीने की तैयारी कर रही थी। माँ को प्रणाम करके विक्रम उसके पास बैठ गया। माता के सान्निध्य ने उसे नया उत्साह प्रदान किया, और वह बोल उठा :

'माँ ! वह गयी....जादूगरनी मीरां....चित्तौड़ छोड़कर।'

'हुँ....मेवाड़ छोड़कर !' माता ने पुत्र के कथन में संशोधन किया।

'यही समझ लो...अब हमारे कुल को कलंकित करनेवाले साधु-साध्वियों के ढोंग और सेवा-पूजा के दंभ दिखाई न पड़ेंगे।' विक्रम ने कहा।

'खैर,...एकलिंगजी में उत्सव कराओ...और सब शिवालयों में रुद्री-पाठ की आज्ञा दो...माताजी के मन्दिर में संपुट चण्डीपाठ हो...सारे चित्तौड़ में !'

'अच्छा, माँ।'

'किन्तु विक्रम ! तुम तलवार लेकर गये....तिस पर भी उसे मार न सके ?'

'नहीं, माँ ! मारने को मैंने तलवार उठाई, तो एक के स्थान पर दो, और दो के स्थान पर चार मीरां दीख पड़ने लगीं।'

'तुमको बचपन से ही ऐसी नयी-नयी बात दीख पड़ती है, जो अन्य किसी को नहीं दीखती...यह क्या है ?...तुम्हारी आँख में कोई विकार तो नहीं है ?...अथवा तुम्हारा मन कभी-कभी भ्रान्त तो नहीं हो जाता है ?...बालपन में तुम बहुत चौंका करते थे...ज़रा राजवैद्य को बुलाकर अपने स्वास्थ्य की परीक्षा तो करा लो !'

'अच्छा, माँ !'

'और ऊदाबाई को भी तुमने मीरां के साथ जाने दिया ?'

'मैं क्या करूँ ? मैंने बहुत समझाया....परन्तु वह रुकी नहीं।'

'चित्तौड़ का स्वामी ऐसी बेवसी की बात करे, यह उसे शोभा नहीं देता।'

'तो माँ ! कहो तो आदमी भेज कर अभी भी ऊदाबाई को पकड़ मँगाऊँ....अथवा....'

'तुम्हारी वह बहिन है....और मेरी पुत्री....बेटे-बेटियों को जन्म दिया जाता है इसलिए कि वे उच्च स्थानों को शोभित करें, न कि घसीटे जाने के लिए।' कर्मदेवी ने गंभीरता पूर्वक कहा। विक्रम स्वभावत: खिलवाड़ी, क्रूर और स्वच्छन्दी था। राजगद्दी मिलने के बाद उसके ये तीनों अवगुण और भी बढ़ गये थे। परन्तु माता के सामने वह सर्वदा विनम्र रहा करता था। माता की बात सुनकर उसे क्षोभ हुआ। उसने माँ से कहा :

'तो माँ ! तुम जो कहो सो मैं करूँ।'

'मुझे तो लगता है कि तुमको चित्तौड़गढ़ छोड़ना पड़ेगा' माता ने कहा।

'मुझे ? क्यों ?'

'गुजरात का बहादुरशाह चित्तौड़ लेना चाहता है।'

'मैं उसका सामना करूँगा। ...तुमको यह किसने कहा ?'

'हमारे गुप्तचरों ने...और जयमल राठोड़ ने भी !'

'आने दो बहादुरशाह को...सारे मेवाड़ को मैं उसके सामने खड़ा कर दूँगा।'

'यह होना कठिन है...मेड़तिया राठोड़ों की टुकड़ी अब हमारा साथ देगी नहीं....तुमने भूल की विक्रम ! या तो मीरां को मार ही डालना था, या उसे जाने नहीं देना था।' माता ने कहा।

'परन्तु उसने तो प्रण ले लिया कि मेवाड़ की भूमि में वह अन्न-जल न ग्रहण करेगी...अपने भाई के साथ भी तो वह न गयी !'

'विक्रम ! ख़याल रखना कि कहीं हम लोगों को अन्न-जल न छोड़ना पड़े।'

'किसलिए ? माँ ! तुम इस प्रकार हिम्मत क्यों हार बैठी हो ?'

'मैंने सुना...अभी ही...कि सारे चित्तौड़ ने हड़ताल करने का निश्चय किया है...मीरां के निष्कासन से असंतुष्ट होकर !'

'ऐसी बात ? अभी तो मीरां के पांव की धूल आकाश में से हटी नहीं...इतने में हड़ताल ? मेरे गद्दी पर बैठे रहने पर भी ?...अरे कौन है ?'

'जी !' कहकर कर्मदेवी के पास छिपकर संकोचपूर्ण भाव से खड़ी हुई एक दासी सम्मान से आगे आयी।

'बाहर से अंगरक्षक को बुला लाओ।' विक्रम ने कहा।

'जी !' कहकर अपने शरीर को वस्त्र में छिपाती हुई युवा वय की दासी सामने देखती हुई तीन क़दम पीछे हटी, और तब घूम कर अंगरक्षक को बुलाने के लिए खण्ड के बाहर चली गयी। माता कर्मदेवी के पास ही बैठे हुए विक्रम के नेत्र दासी की सुन्दर देह के पृष्ठ भाग पर स्थिर हो गये।

माता ने अपना मुख घुमा कर दूध का कटोरा एक ओर रख दिया।

अंगरक्षक ने विक्रम के सम्मुख आकर नमन किया। उसको आज्ञा मिली :

'देखो, जाकर मल्लों के नायक से मेरी आज्ञा कहो कि आज सातों हज़ार मल्ल छोड़ दिये जायँ, और गढ़ में तथा गढ़ के नीचे की बस्ती में ढिंढोरा पिटवा दिया जाय कि जो कोई हड़ताल करके अपना मकान या दूकान बन्द रखेगा, उसके मकान और दूकान को लूट लिया जायगा...ये मल्ल लूट लेंगे।'

आज्ञा देकर राजस्व के गौरव का अनुभव करनेवाले विक्रम ने दासी को सामने से आते हुए देखा।

दासी रूपवती थी। यौवन उसके अंग-प्रत्यंग से निखर रहा था, जिसको छिपाने का वह सतत प्रयत्न करती थी।

दासी के पृष्ठ भाग को फिर से देखने की विक्रम की इच्छा सफल न हुई ! दासी सामने से आ रही थी। विक्रम ने बहुत सोचा कि उसको पुनः कौन-सी आज्ञा देकर बाहर भेजना...परन्तु कुछ सूझ न पड़ा।

अंगरक्षक राणा की आज्ञा लेकर बाहर चला गया।

कर्मदेवी ने पुत्र की विलासिता देख कर एक लंबा निःश्वास छोड़ा—मीरां के मेवाड़ छोड़ने के प्रथम प्रभात में ही !

३

मीरां पैदल चल रही थी। उसके पीछे घोड़े, ऊँट और पालकी भी जा रहे थे। मीरां को इस बात का भान न था कि उसके साथ कौन-कौन आ रहा है। साधु-साध्वियों की भीड़ तो थी ही; उनके उपरांत मीरां की प्रिय दासी-सखी ललिता, ननद ऊदाबाई और देवरानी अजब भी उसके पीछे-पीछे चल रही थीं। कृष्णाचरण तो साथ में था ही। उस दिन के बाद से उसने मीरां के मुख की ओर देखना बन्द कर दिया था; वह केवल मीरां के चरण ही देखा करता था। मीरां को तो उसके गिरिधरलाल की ही धुन लगी थी—मुख से सर्वदा उन्हीं का नामोच्चार करती, और बीच-बीच में भजन गाने लगती। ईशान कोण की ओर जानेवाले मार्ग से यह सन्त-मण्डली बढ़ी जा रही थी। रास्ते में पड़नेवाले प्रत्येक गांव और क्षेत्र में असंख्य आदमियों की भीड़ मीरां के दर्शन के लिए आती और उसकी सेवा-पूजा तथा भजन-कीर्तन के कार्यक्रम में सम्मिलित हो जाती। कितने आस्तिक व्यक्ति तो तीर्थ-यात्रा के विचार से मीरां के साथ साथ आगे बढ़ते। मीरां के देश-निष्कासन के इस दृश्य को सारा क्षेत्र देखने लगा। वास्तव में मीरां के लिए यह देश-निष्कासन था ही नहीं...यह तो उसकी व्रज की यात्रा थी। लोगों को खबर न थी कि मीरां मेवाड़ छोड़कर जा रही है। बहुत बार यह देखा जाता है कि राजा की आज्ञा सन्त को पीड़ा नहीं पहुँचाती। मीरां भी गिरिधरलाल की धुन लगाये चली जा रही थी। मार्ग में जब कभी ललिता या ऊदाबाई को लगता कि मीरां बहुत थक गयी है, तब वे बलात् उसे ऊंट पर बैठा देतीं।

मेवाड़ की सीमा जहाँ पूरी होती थी, वहाँ एक मंडप बनाया गया था, तम्बू खड़े किये गये थे, और भजन-कीर्तन की धुन चल रही थी। मीरां को प्रथम तो यह लगा कि वह व्रजमण्डल में पहुँच गयी; परन्तु जब उसके भाई जयमल ने आकर बताया कि इस स्थान पर मेवाड़ की सीमा पूरी होती है, तब उसे अपनी भूल का भान हुआ।

'भाई ! तुम यहाँ ?' मीरां ने जयमल से पूछा ।

'हाँ ! यहाँ तुम मेवाड़ की सीमा पार कर गयीं ।' जयमल ने उत्तर दिया ।

'व्रज तो अभी दूर होगा ?'

'हाँ, बहिन ! वहाँ पहुँचने में पैदल चलकर जाओगी तो अभी आठ दिन और लगेंगे ।'

'देखो, भाई ! यात्रा का महत्व तो पैदल चलने में ही है । प्रभु की सृष्टि देखती हुई चलती हूँ, और अणु-अणु में गिरिधरलाल को प्रकट होते हुए देखती हूँ ।'

'बात सच है....परन्तु पैरों में चलने की शक्ति भी तो चाहिये ?'

'मेरे पैरों में चारों धाम की यात्रा करने की शक्ति है ।'

'न तो तुमने पानी का एक घूँट पिया, न अन्न का एक दाना पेट में डाला । मीरां ! मेवाड़ की सीमा तुम पार कर गयीं; तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हुई । प्रभु का प्रसाद खाये बिना मैं तुमको एक कदम भी आगे नहीं जाने दूंगा ।'

'भाई ! मुझे रोको मत । मेरी भूख जायगी वृन्दावन के दर्शन से, और प्यास बुझेगी यमुना के नीर से !'

'काफ़ी उपवास हो चुका । यहाँ पारणा करके, तब आगे बढ़ो । मेरा कहना न मानोगी, तो मैं भी सब कुछ छोड़कर तुम्हारे साथ हो लूँगा ।' जयमल ने कहा । जयमल के आग्रह के सामने मीरां का कुछ भी न चला । मीरां ने पारणा करना स्वीकार कर लिया । जयमल ने मेवाड़ की सरहद पर मीरां के स्वागत की सब तैयारियाँ कर रखी थीं । यहाँ एक महान उत्सव मनाया गया, और मीरां ने भक्तमंडली के सामने गाया :

'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई !'

जयमल की इच्छा थी कि वह यहाँ से व्रजमण्डल तक मीरां के साथ जाय । परन्तु इस बीच गुजरात का सुल्तान बहादुरशाह चित्तौड़ पर आक्रमण करनेवाला है, यह समाचार रानी कर्मदेवी के कानों तक पहुँचा । रानी भयभीत हो गयी । विक्रम अभी छोटा था—छोटा न भी हो, तब भी लड़क-

पन उसमें बहुत था। उसने अपने दुर्व्यवहार से राज्य के मुख्य मुख्य सरदारों को नाराज़ कर दिया था। मीरां के प्रति किये हुए क्रूर व्यवहारसे सारी प्रजा और राठोड़ों का वर्ग दुःखी हो गया था। जिस दिन मीरां ने मेवाड़ छोड़ा, उसी दिन बहादुरशाह के आक्रमण के समाचार चित्तौड़ में फैल गये। विक्रम ने इस समाचार की गंभीरता पर ध्यान न दिया। अतः रानी कर्मदेवी ने अन्य सरदारों के साथ जयमल को भी बड़े ही विनीत शब्दों में आमंत्रण भेजा कि वे एकत्र होकर चित्तौड़ की रक्षा करें।

'बोलो मीरां ! राणाजी द्वारा तुम्हारे निष्कासन के आदेश को वापस कराऊँ ? चित्तौड़को सहायता देने के लिए मेरी प्रथम शर्त यह रहेगी कि महाराणा मीरां को ससम्मान वापस बुला ले जायँ।' पारणा करने के बाद अपने भाई के साथ बैठकर प्रभु-प्रसाद लेनेवाली मीरां से जयमल ने कहा।

'नहीं भाई ! प्रभु की यही इच्छा लग रही है कि अब मैं लौटकर चित्तौड़ न जाऊँ...और मेवाड़ में अन्न-जल न ग्रहण करने की मैं प्रतिज्ञा भी कर चुकी हूँ...अब मैं निकल पड़ी हूँ तो गोकुल-मथुरा में ही रहूँगी।' मीरां ने कहा।

'तो मैं चित्तौड़ को सहायता न दूँगा...यह कहला भेजूँ ?'

'नहीं भाई ! ऐसा न करो....एक छोटी-सी मीरां के लिए राठोड़ों की महान परम्परा का त्याग न करना चाहिये। मैंने तो अपना जीवन प्रभु के चरणों में समर्पित कर दिया है...चित्तौड़ की लाज अभी मानव के हाथ में है....उसे बचाना तुम्हारा धर्म है...मुझे इसके बीच में लाये बिना।' मीरां ने उत्तर दिया।

इसीलिए जयमल ने मीरां के साथ व्रज की ओर जाने की अपनी प्रबल इच्छा को बदल दिया, और कर्मदेवी के पास जाना स्वीकार कर लिया।

मीरां सीधी मथुरा की ओर चली। अकेली नहीं...सारे भक्त मंडल के साथ। बहुत से लोग उसे अपना गुरु मानने लगे थे। ज्यों-ज्यों व्रजभूमि पास आती गयी, त्यों-त्यों मीरां के हृदय में भक्ति की तीव्रता बढ़ती गयी,

और भक्तों का उत्साह द्विगुणित होता गया। अन्त में जब इस भक्त-समुदाय ने व्रज की पंच-कोशी में प्रवेश किया, तब सबके मुख से 'गिरिधर-लाल की जय' का जयकार निकला, और मीरां गा उठी :

जोग जतन नहीं मेरे, स्वामी ! श्याम तुम्हारी माया !
व्रज वृन्दावन दर्शन करके, कंचन बन गयी काया।

और उसी स्थान पर व्रजभूमि में प्रवेश करने का उत्सव मनाया गया... सारे दिन और सारी रात ! भक्तिभाव के प्रदर्शन के लिए किसी विशेष प्रसंग की आवश्यकता नहीं होती, स्थल विशेष देखना नहीं पड़ता, तिथि खोजनी नहीं पड़ती। हृदय में भाव स्फुरित हुआ...वहीं उत्सव !

मथुरा तो नगरी थी। कृष्ण की यह जन्म-भूमि और विजय-भूमि ! यमुनारानी विश्राम घाट पर हिलोरें लेतीं बराबर बहा करती थीं। कृष्ण को पाकर जीव क्या से क्या न बन जाय ? सदा काल बहनेवाली यमुना बन जाने में क्या बुराई ? मीरां ने अपनी मण्डली के साथ मथुरा नगरी का पर्यटन किया। परन्तु मथुरा तो गोकुल-वृन्दावन छोड़कर आनेवाले कृष्ण की नगरी थी। कंस का विध्वंस करनेवाले कृष्ण का यह धाम ! कृष्ण के पवित्र चरणों ने जिन जिन स्थानों को पुनीत बनाया था, उन सब स्थानों की यात्रा मीरां ने की, और वहाँ उसे कृष्ण के दर्शन भी हुए। परन्तु उसे तो व्रजवासी कृष्ण के दर्शन की लालसा लगी थी ! उसे गिरिधरलाल के मुखारविंद को देखना था। गोपीजनवल्लभ को अपनी आँखों में भर लेना था ! वृन्दावन में रचे हुए राधा-कृष्ण के रास देखने थे !

मथुरा छोड़कर ज्योंही उसने वृन्दावन की भूमि में पदार्पण किया, त्योंही कृष्ण के किसी नूतन स्पर्श का उसे अनुभव हुआ। यही वह व्रजभूमि ! जिसको छोड़कर गोपियाँ विष्णुलोक या ब्रह्मलोक में भी जाने को तैयार न हुई थीं ! मीरां के मुख से बार-बार निकला :

जयति तेऽधिकं, जन्मना व्रजः
श्रयति इन्दिरा, शश्वदत्र वै।
दयित दृश्यतां, दिक्षु तावका
स्त्वयि धृतासव, स्त्वांविचिन्वते॥

मीरां को ऐसा आभास हुआ कि मानो श्रीमद्भागवत का दशम स्कंध उसकी आँखों के सामने खड़ा है। व्रज की सारी सृष्टि में कृष्ण के अतिरिक्त उसे और कुछ दीख न पड़ता था, सुन न पड़ता था; और किसी का स्पर्श न होता था। इस स्थान पर कृष्ण का नन्दराम के घर में जन्म हुआ! इस चौक में गोप-गोपियों ने मिलकर कृष्ण का जन्मोत्सव मनाया! कृष्ण जैसे पुत्र को पाकर माता यशोदा और पिता नन्दराम के आनन्द का तो पूछना ही क्या? इस आल्हाद का वर्णन करने के लिए उपयुक्त शब्द ही कहाँ हैं? 'नन्द घर आनन्द भयो! जय कन्हैयालाल की!' इससे अधिक सुन्दर उद्गार और क्या हो सकते हैं?

और इसके बाद तो इसी भूमि पर कृष्ण ने अपनी सब बाल-लीला की—पूतना-तृणावर्त का वध, ऊखली बन्धन, यमलार्जुन का मोक्ष, कन्दुक-क्रीड़ा और कालिय का मर्दन, दधि-मक्खन की चोरी, गोपियों के चीर-हरण, गायों का पालन और गिरिराज धारण....

'नाथ! तुम्हारी इस व्रज-भूमि पर आयी हूँ...प्रत्यक्ष दर्शन के लिए...प्रत्यक्ष स्पर्श के लिए...आवाज़ आ रही है सब ओर से...समीर में उड़कर आया हुआ वंशी का स्वर सुनाई देता है...ओ वंशीधर!....कब आपकी त्रिभंगाकार मूर्ति का दर्शन होगा?'

इस प्रकार व्रजभूमि में विचरते हुए मीरां यकायक बोल उठती; ध्यानस्थ हो जाती; रोने लगती; गाती और नाचती। गोकुल, वृन्दावन और गिरिराज की तराई में वह विह्वल बनकर घूमती, भटकती, ठोकर खाती और अपने गिरिधरलाल को खोजती। वहाँ के प्रत्येक मन्दिर में वह जाती, और कृष्णलीला को अपनी मानसिक सृष्टि में देखा करती। व्रज में चारों ओर से यात्री आते थे और वहाँ आवास करते थे। वे सब इस पागल, भान-भूली हुई मीरां को पहिचानने लगे थे। इस विरहिणी के अलौकिक विरह में से उन्हें कभी-कभी नयी चेतना मिलती। किसी स्थान में प्रभु का दर्शन करते-करते वह वेणुगीत गाने लगती:

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारम्
विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तींच मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधर सुधया पूरयन्गोपवृन्दैः
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥

क्षण क्षण पर उसे गोपियों की-सी तन्मयता का अनुभव होता, और कृष्ण के आमंत्रण को मानों अस्वीकार करती हो, इस प्रकार उन्मत्त होकर अपना संदेश भेजती :

नंदलाल ! नहिं मैं आऊं, घर काम है,
तुलसी की माला में श्याम है;
नंदलाल ! नहिं मैं आऊं, घर काम है ।

कभी वह माथे पर दधि की मटकी लेकर चलती, और उसे लूटने आये हुए कान्ह को देखकर फ़रियाद करती :

महि लूटे, महि लूटे, मोहन ! महि लूटे, महि लूटे ।
छीन झपट तुम काहे करत हौ ? मेरो हार हिया को टूटे...मोहन०
पीनो होय तो पील्यो जी भर, थारे पीवन से नहिं खूटे...मोहन०

व्रजभूमि में रहनेवाला कौन ऐसा अभागा होगा, जो यमुना-तट छोड़ अन्यत्र स्नान करे ? कालिन्दी स्नान करते हुए कभी मीरां को चीर-हरण का प्रसंग याद आ जाता और वह अपने वस्त्र सँभालती हुई गाने लगती :

कान्हुडा न जाने मोरी पीर !
बाई हम तो बालकुवांरां रे !
जल रे जमुना का भरन हम गई थीं
कान्हुडा ने खींचे हमारे चीर,
फटे चरररररर रे ।
कान्हुडा न जाने मोरी पीर !

मीरां की गीत परंपरा बढ़ने लगी । कृष्णाचरण, ऊदाबाई और ललिता उसके गीतों को सुनकर लिख लेती थीं, और समय-समय पर उनको गाती

थीं। अकेली घूमनेवाली मीरां के आसपास अपने आप भक्तों की भीड़ एकत्र हो जाती थी। जहाँ मीरां जाती, वहीं भजन, कीर्तन और नृत्य होने लगते थे। परन्तु मीरां को बाह्य जगत का भान न रहता—न उसे खाने की सुधि रहती, न पीने की, न वेशभूषा की! उसे ऐसा लगता जैसे कृष्ण उसके सामने खड़े हैं! कभी ऐसा लगता कि वे उसके पास से निकल गये! कृष्ण की शोध में कभी वह गीत गोविन्द का पद गाने लगती :

संचरधर सुधामधुरध्वनिमुखरित मोहनवंशम्।
चलित दृगंचल चंचलमौलिकपोलविलोल वतंसम्॥
चंद्रकचारु मयूर शिखंड कमंडल वलयित केशम्।
प्रचुर पुरन्दर धनुरनुरंजितमेदुर मुदिर सुवेशम्॥

कभी उसे गोपियों की सी विरहव्यथा सताती। कृष्ण की आप्तता का अभिमान करनेवाली गोपियाँ रासमण्डल में से यकायक अदृश्य होनेवाले मुरली-मनोहर के विरह में जिस प्रकार आक्रन्द करतीं, उसी प्रकार मीरां भी अपनी व्यथा व्यक्त करती :

सुरतवर्धनं शोकनाशनम्।
स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्॥
इतररागविस्मारणं नृणाम्।
वितरवीर नस्तेंधरामृतम्॥

यात्री और अन्य व्रजवासी कृष्ण को भूल कर कृष्णमयी मीरां के पीछे दौड़ते। जहाँ मीरां जाती, वहीं भक्तों का समुदाय एकत्र हो जाता था। व्रज में यात्रा के लिए सभी आते थे : दक्षिण से श्री संप्रदाय के भक्त और मध्वाचार्य के द्वैतवादी भक्त यहाँ आकर रहते थे। बंगाल, गौड़ और बिहार से चैतन्यमार्गी वैष्णव, तथा राजस्थान-गुजरात से पुष्टिमार्गीय भागवत व्रजवास के लिए यहाँ आया करते थे। भक्तों से भरी हुई व्रजभूमि में चैतन्य और वल्लभाचार्य के जीवित प्रतिबिम्ब अभी तक पड़ रहे थे। भक्तिरस का अखण्ड आनन्द लेने वाले विद्वानों में कभी कभी वाद-विवाद भी हुआ करता

था। परन्तु मीरां के ब्रज में आने के बाद वहाँ रहने वाले विद्वान भक्त अपने द्वैत-अद्वैत के झगड़ों को भूल कर मीरां के भजन-कीर्तन में ही लीन बनने लगे। कृष्ण का नाम लेने वाले सभी मीरां के आप्तजन बन जाते थे। एक बार विद्वान कृष्णचरण को विचार आया कि मीरां की कृष्णदर्शन की कामना ज्ञान के शीतल वारि से कदाचित् कुछ शान्त हो, इस उद्देश्य से उसने मीरां से कहा :

'माई ! चैतन्य प्रभु के एक महान् शिष्य और समर्थ विद्वान यहाँ आये हुए हैं !'

'उन परमभागवत को मेरा नमस्कार कहना....जब उनसे मिलो तब।' मीरां ने कहा।

'जीव गोस्वामी उनका नामाभिधान है।'

'अच्छा, बड़ा सुन्दर नाम है...जीव, गो और स्वामी ! वाह ! मैंने उनकी दीपिका पढ़ी है।'

'तुम उनसे नहीं मिलोगी ?'

'किसी से भी मिलकर मैं क्या करूँगी ?'

'वे बहुत बड़े ज्ञानी हैं।'

'ज्ञान तो मेरे और तुम्हारे में कहाँ कम है ? मुझे ज्ञान नहीं, ज्ञान के केन्द्रसमान सौन्दर्य मूर्ति कृष्ण चाहिये।'

'वे भगवान चैतन्य की परम्परा के हैं...कदाचित् कृष्णदर्शन का मार्ग बतावें !'

'तुम्हारे कहने का आशय क्या है ?'

'यही कि हम उनसे मिलें और......'

'अच्छी बात है। मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? ऐसे भक्त के दर्शन से कदाचित् हमारी आँखें खुल जायँ।' मीरां ने जीव गोस्वामी से मिलना स्वीकार कर लिया।

इस प्रसंग के बाद कई दिन बीत गये। मीरां को गोस्वामी के दर्शन का खयाल रहा नहीं। एक दिन यकायक स्मरण आने पर उसने कृष्णचरण से पूछा :

'फ़िर, साधो ! जीव गोस्वामी के दर्शन के विषय में क्या किया ?'

'माई ! मैं उनसे मिल आया।'

'क्या हुआ ?'

'उन्होंने एक व्रत लिया है...जिसके कारण हम उनसे मिल नहीं सकते।'

'ऐसा कौन-सा व्रत है उनका ?'

'वे कभी स्त्री का मुख नहीं देखते।'

'जीव गोस्वामी किसी स्त्री का मुख नहीं देखते ? अच्छा !...जाकर मुझ स्त्री का नमस्कार कहना...और दूर ही से एक स्त्री की शंका भी प्रदर्शित करना...मेरी ओर से !' मीरां ने हँस कर कहा।

'कौन सी शंका है, माई ?'

'कहना कि आज तक तो मैं यह जानती थी कि व्रज में पुरुष एक कृष्ण ही हैं, अन्य सब स्त्रीमय हैं। वृन्दावन में रहकर भी आप अपने को पुरुष मानते हैं। यह कैसा विवेक ?'

कृष्णचरण ने अपनी दृष्टि मीरां के चरणों पर से हटाकर उसके मुख पर डाली, बहुत समय के बाद। जीव गोस्वामी जैसे महान दार्शनिक का उपहास करने वाली मीरां की प्रज्ञा उस स्त्रीभक्त के मुख पर चमकती हुई दीख पड़ी। देवांश प्राप्त किये बिना ऐसा दिव्य तेज मुख पर आ नहीं सकता। प्रभु को हृदय में रखनेवाला ज्ञान हीन भक्त बड़ा, अथवा प्रभु के लक्षण-अलक्षण की चर्चा करने में गौरव मानने वाला विद्वान, जिसके हृदय में प्रभु का वास न हो ?

कृष्णचरण को मीरां की शंका सार्थक लगी। तिसपर भी उसने पूछा : 'माई ! वे तो बहुत बड़े मीमांसक हैं। मुझसे आपकी शंका का आधार पूछें तो मैं क्या कहूँ ?'

'श्रीमद्भागवत का आधार बताना। साधो, याद है वह वाक्य ?... वासुदेवः पुमानेकः स्त्रीमयमितरं जगत्।'

यह सुनते ही कृष्णचरण के पैरों में शक्ति आयी। जीव गोस्वामी गौड़ीय चैतन्य संप्रदाय के महान मठाधीश थे। वैष्णव संप्रदाय के वे उद्भट

विद्वान समझे जाते थे। सारे हिन्दुस्तान में उनकी कीर्ति फैली हुई थी। शास्त्र का ज्ञाता कृष्णाचरण कभी-कभी उनके पास जाता था और वहाँ उसका पूरा सत्कार भी होता था। धीरे धीरे वृन्दावन में मीरां की ख्याति मेवाड़ की रानी के रूप में होने लगी थी। जब जीव गोस्वामी को यह पता लगा कि कृष्णाचरण मीरां का भक्त है और उसकी साधुमण्डली का नेता है, तब उसके मन में पुरुषत्व का अभिमान जाग्रत हुआ। कृष्णाचरण जैसा विद्वान एक स्त्री को अपना गुरु माने, यह उसे अच्छा न लगा।

'कृष्णाचरण ! तुम्हारे जैसा विद्वान एक स्त्री को अपना गुरु मानता है ?'

'वह स्त्री प्रभु पद को प्राप्त कर चुकी है, स्वामीजी !' कृष्णाचरण ने कहा।

'हुँ...स्त्रियों की धारणा में भ्रान्ति की संभावना रहती है।' कुछ हँसकर जीव गोस्वामी ने कहा।

'उसका ज्ञान अपार है।'

'किस आधार पर कहते हो ?'

'आपके ग्रंथों से भी वह अपरिचित नहीं है।'

'उसने कोई ग्रंथ भी लिखा है ?'

'वह तो केवल गीतों की रचना करती है।'

'संस्कृत में ?'

'नहीं, महाराज ! प्राकृत में... वह भी विशेष करके आजकल की लोक-भाषा में...कभी कभी मैं उसके पद गाता हूँ...'

'अच्छा !' कहकर जीव गोस्वामी चुप हो गये। उन्होंने मेवाड़ की रानी मीरां में अधिक रस प्रकट न किया।

परन्तु कृष्णाचरण की यह इच्छा सर्वदा रहती कि वृन्दावन में आनेवाले बड़े बड़े महन्त और मठाधीश मीरां से मिलें और उसकी महत्ता का दर्शन करें। इस इच्छा के अनुसार उसने मीरां को जीव गोस्वामी से मिलने की सलाह दी। मत-मतान्तर का आग्रह न रखनेवाली नम्र स्वभाव की मीरां को किसी भी साधुजन के दर्शन का विरोध था ही नहीं। उसनें जीव गोस्वामी

से मिलना स्वीकार कर लिया। परन्तु नीति और चारित्र्य की रक्षा के नाम से सारे स्त्री समाज के सामने वज्रभित्ति खड़ी करनेवाले उस महन्त ने स्त्री-मुख देखने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

शास्त्रों पर टीकाएँ लिखने वाले गोस्वामी को जब मीरां ने भागवत में से उद्धरण बताकर उनकी प्रतिज्ञा की निस्सारिता सिद्ध कर दी तब तो स्वामीजी चकित हो गये। उनका अहंकार उतर गया और उन्होंने कृष्णाचरण से कहा :

'इस स्थिति को पहुँची हुई सन्नारी को मिलने में मेरी प्रतिज्ञा टूटेगी नहीं !'

परन्तु मीरां को तो कृष्ण के अतिरिक्त और किसी से मिलने की जल्दी थी ही नहीं। सारी कृष्णमय व्रजभूमि उसके लिए एक महान मन्दिर बन गया था। उसके गिरिधरलाल सदा उसके साथ रहते और उनकी वह प्रतिदिन विधिवत् पूजा करती। इसलिए भगवान के विविध समय के दर्शन के निमित्त सांप्रदायिक मन्दिरों में जाने की उसे विशिष्ट लालसा रहती नहीं —यद्यपि मन्दिरों में न जाने का उसे कोई दुराग्रह न था। मन्दिरों में जब वह पहुँच जाती, तब वहाँ उसका पूरा सम्मान होता और भक्तमंडली प्रभु के दर्शन के साथ साथ मीरां का भी दर्शन करती और उसकी गीतमाधुरी का भी आनन्द लेती। देखते ही देखते कृष्णमय बना हुआ व्रजमण्डल मीरांमय बन गया। कृष्ण की महत्ता के साथ साथ कृष्णभक्त मीरां की महत्ता भी बढ़ी। परन्तु मीरां को इसका भान नहीं। उसे शास्त्र-चर्चा पसन्द न थी, वाद-विवाद में उसे रस न पड़ता, पांडित्य प्रदर्शन से वह दूर भागती थी। उसे तो एक ही धुन थी, एक ही लक्ष्य था—कृष्ण को पाना ! गोपियों की भाँति उसे व्रजभूमि के अणु-अणु में कृष्णदर्शन का आनन्द लेना था। व्रज में धूल उड़ती तो तुरन्त उसे गायों को चराकर लौटने वाले कृष्ण के धूल धूसरित मुख का खयाल आता। कृष्णमुख याद आते ही गोपियों के समान उसके कण्ठ से भी सुन्दर इन्दिराछन्द के प्रलंबित सुर निकलते :

दिन परिक्षये नीलकुन्तलै
र्वनरुहाननं विभ्रदावृत्तम् ।।
घनरजस्वलं दर्शयन्मुहु
र्मनसिन: स्मरं वीर यच्छसि ।।

कल्लोल करते हुए पक्षी, कूदते हुए मृगशावक, गुंजन करते हुए भौंरे, हर्षोल्लसित गायें, कदम्ब के वृक्ष और फूल, यमुना किनारे पनघटपर पानी भरनेवाली पनिहारिनें जब जब मीरां को दीख पड़तीं, तब तब मीरां की दृष्टि के सामने सारा कृष्ण-जीवन खड़ा हो जाता । कृष्ण में इस प्रकार लीन रहनेवाली मीरां को जीव गोस्वामी अथवा अन्य किसी से मिलने की तीव्रता न हो, यह स्वाभाविक था । कभी वह ध्यानस्थ हो जाती; कभी विरहिणी बनकर कृष्ण को खोजती; कभी ऊर्मियों की वेदना असह्य होने पर गाने लगती, नाचने लगती या रोने लगती ।

उसके गीत देश-परदेश में प्रसिद्ध होने लगे । उसकी स्वरलहरी बंगाल, पंजाब, गुजरात और उत्कल तक पहुँच गयी । संगीत-शास्त्री उसके पदों को राग, ताल और सुर में बैठाकर राजदरबारों में गाने लगे; नर्तकियाँ भी नृत्य के बड़े बड़े जलसों में मीरां के पद गाकर तदनुरूप नर्तन करने लगीं :

पग घुंघरू बांध मीरां नाची रे !

मीरां के नृत्य का आवर्तन कर नर्तकियाँ नायिका भेद के सुन्दर अभिनय करने लगीं । प्रत्येक मन्दिर से 'मीरां के प्रभु गिरिधर नागर' की प्रतिध्वनि निकलने लगी ।

परन्तु मीरां को इसका भान कहाँ ? गोपी बनने के लिए व्रज में आयी हुई मीरां अब पूर्ण रीति से कृष्ण की गोपी बन गयी थी । उसके आसपास क्या हो रहा है, इसका उसे जरा भी भान न रहा ।

कभी उसे समाचार मिलते : चित्तौड़ पर बहादुरशाह ने आक्रमण किया और कर्मदेवी ने विक्रम को छिपाकर गुजरात के सुल्तान को भेंट देकर वापस भेजा ।

'जयमल क्या करता रहा ?' मीराँ ने पूछा ।

'जयमल की सलाह कर्मदेवी ने मानी नहीं ।' उत्तर मिला और कृष्ण की धुन में लगी हुई मीरां इस प्रसंग को भूल गयी ।

'चित्तौड़ को बहादुरशाह ने भस्म कर दिया....और कर्मदेवी ने जौहर का आश्रय लिया ।' कुछ दिन बाद यह भी समाचार उसके कान तक आये; उन्हें सुन कर क्षण भर वह स्तब्ध हो गयी, परन्तु पुन: स्वस्थ बन कर वह कृष्ण की शोध में गोकुल की गलियों और वृन्दावन के कुंजों में घूमने के लिए निकल पड़ी ।

इतने में हवा आयी कि विक्रम को मारकर दासीपुत्र वनवीर ने चित्तौड़ की गद्दी ले ली । देवर की मृत्यु का समाचार सुनकर यमुना में स्नान करते समय उसे ऐसा आभास हुआ मानो कृष्ण का कालस्वरूप उसके सामने खड़ा हुआ है ।

'कालोस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः', कालमूर्ति बोल उठी ।

'सौन्दर्यनिकेतन–श्रीनिकेतन स्वामिन् ! आप इतने कठोर बन जाते हो ?'

इतने में कठोर कालमूर्ति मधुर वंशीधर की मूर्ति बनकर विलोप हो गयी ।

'वनवीर को पराजित कर उदयसिंह गद्दी पर बैठे ।' कोई यात्री समाचार लाया ।

'चित्तौड़ की गद्दी अमर रहे ।' मीरां बोल उठती ।

'मीरां की महत्ता को न समझने वाले की...मीरां को विष का प्याला पिलानेवाले की, गद्दी कैसे अमर रह सकती है ?' मीरां के साथ आये हुए एक भक्त ने चित्तौड़ की दुर्दशा का कारण बताया ।

'नाथ ! दूध निहित विष तो आप पी गये । मानवों के हृदय निहित विष आप कब पी जाएँगे ?' मीरां प्रार्थना करते-करते प्रभु से पूछती । मीरां को दिये हुए दुःखों का परिणाम चित्तौड़ भोग रहा है, इस प्रकार की जनवादिता चारों ओर फैलने लगी । मीरां ने इन दुःखों को दुःख माना न था । कदाचित् कभी उसके मन में थोड़ा बहुत दुःख हुआ भी हो, तो वह उसकी मानव-निर्बलता थी । प्रभु के मन में कभी प्रतिशोध की भावना आ नहीं

सकती ! मीरां को कभी-कभी चित्तौड़गढ़ की याद आ जाती......मानो कुरुक्षेत्र में घायल भीष्म पितामह खड़े हों !

नये महाराणा उदयसिंह की रक्षा पन्ना दाई ने की थी, यह मीरां जानती थी। कोमल वय के उस राजकुमार का मीरां को थोड़ा परिचय भी था। बालकपन में ऊदाबाई के साथ वह कभी कभी दर्शन करने के लिए मीरां के मन्दिर आया करता और प्रसाद पाकर बड़ा प्रसन्न होता था। गद्दी पर बैठते ही उदयसिंह ने अपना प्रथम कर्तव्य यह समझा कि अपनी पूज्य भाभी मीरां को फिर से चित्तौड़ बुलाना......

उसने एक विशेष दूत के हाथ मीरां के पास पत्र भेज कर उसे लौट आने की अनुरोधभरी विनती की।

परन्तु मीरां गयी नहीं। उसने उदय को आशीर्वाद कहला भेजा, उसे चित्तौड़ में अन्न-जल न ग्रहण करने की अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराया, और अन्त में यह इच्छा प्रकट की कि वीरवर जयमल को बुलाकर राणा अपने पास रखें...जयमल चित्तौड़ पहुँच जायगा तो मीरां समझेगी कि वह स्वयं वहाँ पहुँच गयी। मीरां को यह समाचार मिला था कि जोधपुर और मेड़ता छीन लेने के लिए जोधाणनाथ मालदेव ने मेड़ता पर चढ़ाई कर दी। जहाँ भाई-भाई युद्ध करें, वहाँ ईश्वर का आवास कैसे हो, मीरां ने विचारा। परन्तु भगवान भक्त की सहायता को दौड़े। जयमल ने मालदेव को हराया और मेड़ता पुनः जीत लिया। लोगों ने तो मीरां को यहाँ तक कहा कि परम वैष्णव जयमल तो एक ओर बैठ कर पूजन कर रहा था और दूसरी ओर भगवान उसका रूप धारण करके उसके सैन्य का संचालन कर रहे थे। जयमल के रूप में भगवान ने मालदेव को हराया और युद्धक्षेत्र से भगा दिया।

इधर एक ओर मीरां की भक्ति अधिक विकसित हो रही थी, और दूसरी ओर भारत के राजनीतिक क्षेत्र में नयी नयी क्रांतियाँ हो रही थीं। बाबर और संग्राम के बीच जो युद्ध हुआ उसमें एक वस्तु यह निश्चित हो गयी कि भारत के हिन्दू अपनी ही भूमि के चक्रवर्ती शासक बन नहीं सकते। उनमें धर्म का ऐक्य न था। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए वे विश्वासघात करने के लिए तैयार हो जाते थे। मुसलमान राजा और सरदार अन्दर

लड़ते अवश्य थे; परन्तु धर्म के नाम पर वे ऐक्य कर लेते थे। इस्लाम के अन्दर रहने वाली यह ऐक्य की भावना उसे विश्व भर में विजय दिला रही थी। राजनीति की दृष्टि से हिन्दुओं की नीति संरक्षणात्मक बन रही थी। जो है, उसे सुरक्षित रखो ! जो बच सके, उसको बचा लो ! हिन्दुओं का यही दृष्टिकोण बन गया। हिन्दुत्व जीवन के सब प्रदेशों में संरक्षण खोजने लगा। वह जा बसा छोटे छोटे राज्यों में, छोटी छोटी जागीरों में, दिन पर दिन संकीर्ण बननेवाली ज्ञाति और उपज्ञातियों में, तथा आचार के आग्रह अथवा दुराग्रह में ! आचार-स्खलनों का बहिष्कार होने लगा। यह परि-स्थिति बहुत दिनों तक न चली। हिन्दुत्व को—सच्चे हिन्दुत्व को संकीर्णता की जंजीर से बांध रखना कठिन था। उसके अपने घेरे में से उड़ जाने के लिए विशाल पंख थे, पूरी शक्ति थी। समय समय पर वह अपनी संजीवनी शक्ति से नये तत्व पैदा करता और विकास के मार्ग पर अग्रसर होता रहा। इस्लाम के आक्रमणकाल में हिन्दुओं के भक्ति मार्ग ने हिन्दू धर्म की डोलती हुई नौका को स्थिर किया। इतना ही नहीं, उसने मित्रता के लिए इस्लाम की ओर हाथ बढ़ाया। इस्लाम को अब हिन्दुत्व का भय न रहा। दोनों एक-दूसरे के निकट आये। राजनीतिक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों का असर धार्मिक प्रवाहों पर नहीं पड़ा। हुमायूं गया और शेरशाह आया; संग्राम गया और उदयसिंह आया। यह राजनीतिक परिवर्तन होता रहा। परन्तु....कृष्ण जाकर दूसरा कृष्ण आया नहीं ! हिन्दुत्व की संजीवनी प्रतिभा ने इतना अवश्य किया कि गीता और महाभारत के कृष्ण के स्थान पर श्रीमद्भागवत के कृष्ण को लाकर लोगों के हृदय में बैठा दिया। कभी मुग़ल जीतते तो कभी सिसोदियों की विजय होती; इस प्रकार का चक्र तो सदा चला ही करता है...संसार-तरंगों के बुद्बुद् सा ! परन्तु जिसने इन तरंगों को पैदा करनेवाले और पी जानेवाले कृष्ण के चरण पकड़े, उसको भवसागर पार करने में कठिनाई क्या ?...भले ही राजनीतिक बुद्बुद् बनें और अदृश्य हो जायँ; यदि मानव हृदय जीवन्त रहता हो, तो भले ही नये नये राज्य स्थापित हों, अथवा उनका अन्त हो !

यह समय भी बीत गया, और डोलते हुए दिल्ली के सिंहासन पर महान

अकबर के पैर जमे। उसने अपने राज्य को स्थिर ही न किया, अपितु उसका काफ़ी विस्तार भी किया। अंबरपति कुशवाहों ने तथा मीरां के ही नैहर के जोधपुरी राठोड़ों ने अकबर शाह को अपनी कन्याएँ देकर दिल्लीपति का छत्र स्वीकृत कर लिया। दिल्ली का आधिपत्य न स्वीकारा केवल चित्तौड़ के सिसोदियों ने! अकबर को सिसोदियों का यह गर्व खटकने लगा। चित्तौड़ ले लेने के उसने अनेक प्रयत्न किये; परन्तु आनन्दी स्वभाव का उदय उसके सब प्रयत्नों को विफल करता रहा। राजनीति की लहरें ऊँची-नीची बह रही थीं; परन्तु व्रजवासी मीरां को तो व्रज में सनातन प्रेम की दुयियाँ मिल गयी थी, जहाँ वह पाँच-हजार वर्ष के सनातन प्रेमी-युवक श्रीकृष्ण को खोज रही थी...कभी-कभी वह उसे दीख भी पड़ता, परन्तु तुरन्त अदृश्य हो जाता। मीरां को तो उसे पकड़ कर लिपट कर कृष्णमय बन जाना था। स्नेह, सौन्दर्य और सत्य का पान कर मीरां स्वयं कृष्ण बनना चाहती थी। विश्व सदा से ऐसे ही किसी पुरुष की खोज में रहता आया है। राज्य, समाज, धर्म, युद्ध, सारा संसार यह सब ऐसे ही किसी स्नेह-केन्द्र को खोजने के मानव-प्रयास हैं! मीरां इस मानव विश्व की प्रतीक बनकर स्नेह-केन्द्र कृष्ण की खोजकर रही थी। कृष्ण उसके हाथ में आता और निकल जाता था। वह आता अवश्य था...परन्तु बहुत तरसाकर और थोड़े ही क्षणों के लिए। विह्वल बनी हुई मीरां अवाक् रह जाती थी।

प्रभु का यहाँ अस्तित्व है...वे मिलते हैं...दीख पड़ते हैं...उनका स्पर्श होता है....परन्तु वे पुनः अदृश्य हो जाते हैं। मीरां बावरी बनती जाती थी। केवल मन्दिरों में ही नहीं, गलियों में भी, कुन्जों में भी, पनघट पर भी तथा गिरिराज की पहाड़ियों पर भी वह भटका करती थी। कहीं उसे कृष्ण के पदचिन्ह दीख पड़ते, कभी श्वासोच्छ्वास लेती हुई कृष्ण के रास में भी वह सम्मिलित हो जाती थी और गोपियों के बीच से जब कृष्ण यकायक अदृश्य हो जाते, तब विरह-व्यथा उसे पुनः सताने लगती थी।

ऐसी ही एक विरहवेला में मीरां थक कर कालिन्दी के तट पर बैठी हुई थी। यमुना का वेगवान वारिप्रवाह उछल-उछल कर बहता हुआ

अनेक प्रकार के अद्भुत दृश्य उपस्थित कर रहा था। कृष्ण के चरण स्पर्श के लिए तो कालिन्दी नहीं दौड़ रही हैं—जिस प्रकार मीरां का हृदय अपने गिरिधरलाल के चरणस्पर्श के लिए विह्वल बना हुआ है ?

> नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत
> मावर्तलक्षित मनोभव भग्नवेगाः।
> आलिंगन स्थगित मूर्ति भुजैर्मुरारे-
> र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥

मीरां के कण्ठ से स्वरलहरी निकली, और उसे ऐसा आभास हुआ, मानो वह स्वयं कालिन्दी के रूप में बहकर अपना हृदयकमल प्रभुचरणों पर समर्पित कर रही हो ! वह ऐसे स्थगित ऊर्मिभरे भाव के अनुभव में इतनी तल्लीन बन गयी थी, कि उसके पास आकर बैठे हुए दो संन्यासियों का उसे भान न रहा।

संध्या का समय हो रहा था। मीरां भागवत का वेणुगीत गा रही थी। संन्यासी उसके सामने बैठकर गीत सुन रहे थे। गीत पूरा हुआ। परन्तु गीत के भाव में मीरां मग्न हो गयी थी। वह इतनी तन्मय बन गयी थी कि आसपास का उसे ज़रा भी भान न रहा। संन्यासी कुछ देर तक मीरां की इस तन्मयता को देखते रहे। उन्हें लगा कि मीरां का ध्यान जल्दी भंग न होगा।

एक संन्यासी ने मीरां को संबोधित करके धीरे से कहा:

'माई !'

मीरां का ध्यान भंग हुआ। वह चौंककर देखने लगी। सामने उसने दो संन्यासियों को बैठे हुए देखा।

'मैया !' पुनः संन्यासी ने सम्बोधन किया।

'नमो नारायण, महात्मन् ! आपने मुझे बुलाया ?' मीरां ने जाग्रत होकर पूछा। कुछ क्षण पहले वह कृष्णस्पर्श के आनन्द में लीन बनी हुई थी।

'हाँ, मैया ! तुम तो मीरांबाई हो न ?'

'जी ! इस देह को लोग इसी नाम से पुकारते हैं। कहें, आप-जैसे संन्यासियों को मीरां की क्या आवश्यकता पड़ी ?'

'तुम्हारे साथ थोड़ी चर्चा करनी है।' एक संन्यासी ने कहा।

'किस विषय की चर्चा ?'

'एक तो यह कि...तुमको संगीत की शिक्षा किसने दी ?'

'शिक्षा किसने दी ?—कन्हैया ने ! कृष्णनाम सतत मेरे कण्ठ को शिक्षा देता रहता है।'

'कोई शास्त्रीय ज्ञान तुमको मिला ?'

'कृष्ण ही मेरा नाटचशास्त्र....गांधर्ववेद...सामवेद...'

'मीरांदेवी ! अकबर शाह का नाम सुना है ?' दूसरे संन्यासी ने पूछा।

'अकबरशाह ?...हाँ, हाँ....दिल्लीपति हैं, वही न ?'

'तुम्हारी दृष्टि में उनकी कोई गिनती ही नहीं है ?'

'मेरे मन में पहली गिनती मेरे प्रभु की ! दूसरी साधु-सन्तों की !.... क्या अकबर प्रभु है ?...सन्त है ?'

'उत्तर-दक्षिण का वह सम्राट् बन रहा है...ज्योतिषियों की भविष्य-वाणी है कि वह राजाओं का भी अधिराज बननेवाला है....'

'भले हो !...इसका राज्य तो पृथ्वी के एकाध टुकड़े पर रहेगा, परन्तु मैं तो उसको खोज रही हूँ, जिसका चक्र अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के ऊपर चल रहा है...मेरे सामने अकबरशाह का नाम क्यों लिया, नारायण !'

'उन्होंने मुझे बुलाया है। उन्हें साधु-सन्तों के दर्शन प्रिय लगते हैं। ज्ञान की उन्हें तीव्र पिपासा है। एक राजा के लिए कौन-सा सच्चा मार्ग है, यह जानने के लिए वह पूरा प्रयत्न कर रहे हैं। उनके पास पहुँचकर मैं उन्हें कौन-सा ज्ञान प्रदान करूँ ?'

'साधो ! ज्ञान कोई किसी को देता नहीं ! उसे तो स्वयं ही खोजना पड़ता है —

भवसागर का जोर भयंकर विषम अनोखी धार;
सूरत का नर बाँधे बेड़ा तो उतरे भव पार।

आप तो जानते हो, नारायण ! कि युद्ध में मरना-मारना होता है, परन्तु प्रभु के मार्ग में तो क्षण-क्षण पर जीकर मरना पड़ता है ।'

'परन्तु माई ! मान लो कि अकबरशाह तुम्हारे चरणों को छूकर पूछे, तो तुम थोड़े में उसे क्या उत्तर दोगी ?'

'मैं ? वह क्यों मेरे चरणों का स्पर्श करे ?...हाँ, वह मुझसे पूछे, तो मैं इतना अवश्य कहूँ कि यदि हिन्दुस्तान पर राज्य करना हो तो...अपने हृदय को अर्ध-इस्लामी रहने दे, और आधे हृदय को हिन्दू बनावे...किन्तु साधो !...सुनो, सुनो....प्रभु पधार रहे हैं...उनका पुनीत पद-रव मेरे कानों में पड़ रहा है...' मीरां ने कहा । इतना कहकर उसने कालिन्दी के उछलते हुए पानी की ओर देखा, और भान भूलकर गाना शुरू किया :

सुनी हो मैं हरि आवन की अवाज !
महल चढ़-चढ़ जोऊँ मेरी सजनी, कब आवें महाराज !
दादुर मोर पपैया बोलै, कोयल मधुरे साज,
उमंग्यो इंद्र चहूँ दिसि बरसै, दामणि छोड़ी लाज ।
धरती रूप नवा-नवा धरिया, इंद्र मिलण कै काज,
मीरां के प्रभु हरि अबिनासी, बेग मिलो सिरताज ।

मीरां के मुख पर अलौकिक आनन्द दीख पड़ा । मानो उसके प्रभु उसके पास आकर बैठे हों ! विश्व का भान भूलकर वह अविनाशी हरि के दर्शन में लीन हो गयी थी । उसे इस बात का ख़याल न रहा कि वह कहाँ बैठी है, और रात कितनी बीत गयी है । इधर तो वह इतनी विक्षिप्त हो गयी थी कि जब मन में आता था, तब घर से अकेली निकल पड़ती थी—न देखती थी रात या दिन, न दोपहर का ताप, न रात का अन्धकार । उसके कोई साधु-मित्र कभी विरोध करते, तो उनको वह उत्तर देती :

'व्रजभूमि में अकेला कौन ? कृष्ण-गोपियों से भरे हुए इस गोलोक में मुझे कभी अकेला लगता ही नहीं !'

कभी-कभी साधुओं को मीरां की शोध में निकलना पड़ता था। खोजते-खोजते वे उसे किसी कदम्ब वृक्ष के नीचे नाचती हुई पाते। कभी वह गिरि-राज की तपी हुई गुफाओं में मध्याह्न के समय 'कृष्ण' 'कृष्ण' पुकारती हुई दीख पड़ती। कभी साधु-मंडली उसे यमुना के किनारे किसी एकान्त स्थान में बैठी हुई चुपचाप बहनेवाले जल-प्रवाह को देखने में लीन पाती! कभी बंसीवट की ओर गाती हुई वह दौड़ जाती!

कृष्णचरण, ऊदाबाई और साथ की साधु-मंडली को सारा व्रजमण्डल खोजना पड़ता था। एक समय मीरां पुनः अदृश्य हो गयी। सारा मण्डल मशाल लेकर उसे खोजने निकला। मीरां का मधुर गान यमुना-तीर की दिशा से आ रहा था। सब लोग खोजते हुए उधर गये, तो उन्होंने देखा कि मीरां एक स्थान पर ध्यानस्थ बैठी हुई है। भक्तों की व्यग्रता कुछ कम हुई। मीरां के जाग्रत होने पर ऊदाबाई ने कहा:

'बाई! मध्यरात्रि हो गयी है।'

'अच्छा, मुझे क्यों नहीं पता लगा?' मीरां ने कहा।

'और मैया! तुम्हारे पाँव के पास यह रत्नहार-सी कौन-सी वस्तु चमक रही है?' सर्वदा मीरां के चरणों को देखनेवाले कृष्णचरण ने पूछा।

'रत्नहार, मेरे पाँव के पास, कौन रख गया?'

'गाँव के लोग कह रहे हैं कि बादशाह अकबर और तानसेन तुम्हारे दर्शन के लिए यहाँ आये थे।' ऊदाबाई ने कहा।

'ऊदाबाई! मेरे पास तो दो संन्यासी....आये थे....हाँ, अकबरशाह के लिए किसी संदेश की बात करते थे अवश्य....परन्तु मुझे तो कृष्ण की लगन में कुछ भान ही नहीं रहता।'

'वे ही थे। राजा-बादशाह बिना इतना मूल्यवान रत्नहार तुम्हारे चरणों पर और कोई रख नहीं सकता।'

'मेरे चरणों पर रत्नहार? मैं क्या करूँगी इसे लेकर? यह तो शोभा देगा कृष्ण की किसी पटरानी के गले में!...यमुना रानी! यह हार धारण करके आज रात तुम प्रभु को रिझाओ।' कहते हुए मीरां ने अपने पैरों के

पास पड़े हुए रत्नहार को यमुना में फेंक दिया और साधु मण्डली के साथ गाती हुई अपने आवास की ओर लौटी :

भूली मैं तो माला गुंजन की वन में।
हौंस रही मन केरि मन में..........भूली०
श्याम ! तेरे नाम की हूँ मैं दीवानी !
भस्म लगाऊँ सारे तन में.........भूली०

ब्रज में बात फैलते देर न लगी कि मुग़ल बादशाह अकबर और संगीत-सम्राट् तानसेन संन्यासी का वेप धारण करके मीरांबाई का दर्शन करने आये थे और उनका भजन सुनकर लौट गये।

साधारण लोगों की दृष्टि में यह बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रसंग था। परन्तु मीरां को इस घटना से कोई हर्ष-क्षोभ न हुआ। उसकी दृष्टि में तो बादशाह और भिखारी दोनों समान थे। सच्चा सम्राट् तो वह साधु को—भक्त को—प्रभुप्रेमी को समझती थी।

जिस प्रकार बादशाह और राजा-महाराजा अपनी पार्थिव-सत्ता के विस्तार में प्रयत्नशील थे, उसी प्रकार गौरांग, वल्लभ, नरसिंह और मीरां अपनी-अपनी आध्यात्मिक सत्ता के विकास-कार्य में लगे हुए थे। राज-सत्ता देह पर—शरीर पर—शासन करती है; धर्म-सत्ता हृदय पर ! मीरां इन सबके आगे बढ़ गयी। उसने सबकी देह और हृदय दोनों को जीत लिया ! मीरां के गीत लोगों के कण्ठ में आये, उसके भाव-नृत्य भक्तों को नचाने लगे और उसने अपने गिरिधरलाल को घर घर में स्थापित कर दिया !

४

'राणाजी ! आप ?' ज़रा चौंककर मीरां ने पूछा। गिरिधारी की पूजा करने के बाद भक्तमण्डली को आरती देने के लिए आगे बढ़ी हुई मीरां ने देखा कि एक सुन्दर युवक उसके चरणों पर मस्तक रख रहा है। मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह को इस प्रकार नमस्कार करते हुए देखकर मीरां को

आश्चर्य हुआ। कृष्णाचरण ने मीरां के हाथ से आरती ले ली। महाराणा अपनी भाभी को मनाने के लिए व्रज में आये थे। मीरां ने नमस्कार करते हुए अपने देवर का हाथ पकड़ कर उठाया।

'मैं तो उदय हूँ...आपके लिए राणा नहीं...' उदय ने कहा।

'व्रज में आये, बहुत अच्छा किया। युद्धकार्य में से थोड़ा समय निकाल कर यात्रा करना, यह राजधर्म है...कहो, कुशल से तो हो न? चित्तौड़ में तो सब कुशल है?'

'नहीं, मीरां देवी! न मैं कुशलपूर्वक हूँ, और न चित्तौड़ ही!'

'ऐसा न कहो, राणाजी! वनवीर के वार से दाई पन्ना ने आपको बचाया''आप सदा कुशल रहो, और चित्तौड़ को कुशल रखो।'

'यह तभी हो सकता है जब आप आकर चित्तौड़ को पुनः पावन करें!'

'मैं क्या पावन करूँ? पावन होने के लिए मैं स्वयं तीर्थाटन कर रही हूँ, मन्दिर-मन्दिर भटक रही हूँ, साधु-सन्तों की सेवा कर रही हूँ। पावन करनेवाला तो प्रभु है; मैं नहीं।'

'यह सब कार्य आप चित्तौड़ आकर करो। भाई के—विक्रमादित्य के पापों का मुझे प्रायश्चित करना है। इस प्रायश्चित को कराने के लिए आप मेरे साथ चित्तौड़ चलिये...मैं आपको लिवा ले जाने के लिए आया हूँ।'

'उदय! राणाजी! आप क्या बात करते हो? मेरे जैसी पागल स्त्री के लिए व्रजवास ही अच्छा है, जहाँ मैं निर्बाध होकर गा सकूँ, नाच सकूँ और कृष्ण को पुकारती हुई सर्वत्र दौड़ सकूँ...और किसने कहा कि विक्रम ने पाप किया? प्रभु की सृष्टि में कोई पाप करता ही नहीं...जो होता है, वह पुण्य-प्रेरक ही होता है....संकीर्ण दृष्टि से वह भले ही पाप समझा जाय...राणाजी! जो देखने में पाप मालूम होता है, वह वास्तव में पुण्य की पदावलि है!'

'उस पदावलि पर मुझे चढ़ना है। मीरांदेवी! जबसे आपने चित्तौड़ छोड़ा, तब से चित्तौड़ की गढ़-देवी रूठ कर बैठी हैं। चित्तौड़ भस्म हुआ, माँ जलकर मर गयीं और उनके साथ हज़ारों क्षत्राणियों ने जौहर किया;

असंख्य वीरों के शरीर धूल में लुण्ठित हुए; इतना होने पर भी...लगता यह है कि कुलदेवी का क्रोध गया नहीं। आप भक्तशिरोमणि हैं...अपने पवित्र चरण मेवाड़ में ले चलिए, और देवी को प्रसन्न करके चित्तौड़ को पुनः जीवन्त बनाइए।'

'राणाजी ! मैं प्रतिज्ञा ले चुकी हूँ। मेरे जैसी अनेक स्त्रियाँ मेवाड़ के लिए अपना बलिदान देने के लिए तैयार हैं। मेरे बलिदान से यदि गढ़देवी प्रसन्न होती हों, तो मैं अपना देहोत्सर्ग यहीं करने के लिए तैयार हूँ। मुझे अपनी देह का ज़रा भी मोह नहीं...परन्तु मेवाड़ की सीमा में मैं कैसे पैर रखूँ ?'

'मेवाड़ के ऊपर इतना क्रोध ?'

'क्रोध ज़रा भी नहीं, राणाजी ! चित्तौड़ अथवा मेवाड़ पर मुझे क्रोध आ ही नहीं सकता ! मेवाड़ ने तो मुझे भोज जैसा अनुपम पति दिया.... और भोज ने जो प्रदान किया, वह मानवजाति का कोई भी पुरुष दे नहीं सकता। जिसको ढूँढने के लिए मेरा जन्म हुआ है, वह मुझे मेड़ता में न मिला, मेवाड़ में भी न मिला; इसलिए मैं ऐसी भूमि खोज रही हूँ जहाँ वह अवश्य मिले, और मैं उसमें लीन हो जाऊँ। जिसे पाने के लिए मैंने पति छोड़ा, जन्मभूमि छोड़ी, ससुराल छोड़ी, उसको प्राप्त किये बिना मैं मेड़ता या चित्तौड़ कैसे जाऊँ ? यही मेरी प्रतिज्ञा है; मेवाड़ पर क्रोध नहीं है, राणाजी !'

'आपको तो प्रभु का साक्षात्कार हो चुका है, मैया !' बीच में कृष्णाचरण बोल उठा।

मीरां तो दूसरा ही साक्षात्कार चाहती थी।

'अभी नहीं, साधो ! सच्चा साक्षात्कार तो तभी होगा, जब प्रभु के अतिरिक्त और कुछ न रहेगा, और कुछ न सुनायी देगा, और कुछ न दीख पड़ेगा और उनके बिना जीवन भी न चल सकेगा ! मैं ऐसा ही साक्षात्कार खोज रही हूँ।' मीरां ने कहा।

'ब्रजभूमि में ऐसे साक्षात्कार का अनुभव तुमको होने लगता है, मैया !' एक दूसरे साधु ने कहा।

'ब्रजभूमि में वह साक्षात्कार न मिलेगा, तो ब्रजभूमि का भी त्याग करूँगी !' मीरां का यह कथन सुनकर सबको आश्चर्य हुआ। उदयसिंह के आग्रह का बल घट गया। किसी देश विशेष के लिए अथवा किसी नगर विशेष के लिए मीरां को व्यक्तिगत मोह था ही नहीं; किसी भी प्रदेश को वह वैरभाव से, क्रुद्ध होकर या दुःखी होकर छोड़ती न थी। वह छोड़ती थी केवल अपनी महान योजना को फलीभूत बनाने के लिए। विक्रम ने जब मीरां को मेवाड़ छोड़ने की आज्ञा दी, तब मीरां को उसमें प्रभु का आदेश दीख पड़ा और इसीलिए उसने तुरन्त मेवाड़ के त्याग का निश्चय किया। प्रभु जहाँ बुलायें, वहाँ जाने में ही उसका श्रेय था।

वैसे तो प्रत्येक मानव इस अगम्य तत्व को प्राप्त करने के लिए ही किसी अगम्य प्रकार से संसार में आता है। जड़ और चेतन के कगार के बीच से वहने वाले जीवन-प्रवाह को तैरकर अथवा उसमें बहकर उसे कहां विश्रान्ति मिलेगी, यह बात वह जानता नहीं। कोई अगम्य ताक़त उसको खींचती अवश्य है; उस आकर्षण के अनुकूल या प्रतिकूल बनकर तैरने का वह प्रयत्न भी करता है; परन्तु तैरकर अथवा बहकर वह किस किनारे पर लगेगा ? सुख के घाट पर ! सुख का घाट कौन सा ? सुस्वाद ?...सुवास? ...कर्णप्रिय संगीत ?...मृदुस्पर्श ? मनोहारी रूप ?....इन्द्रियों का सुख ? ...परन्तु इन्द्रियों को तो कोई अन्तिम किनारा दीख नहीं पड़ता। कोई ...अन्तिम घाट मिलता नहीं, जहां उसका पांव ठहरे। सुस्वाद में भी उसे सनातन सुख मिलता नहीं—स्वादिष्ट वस्तु भी कभी स्वादहीन बन जाती है। सुवास भी सर्वदा सुख देती नहीं, तृप्ति देती नहीं—कुछ समय बाद वेले की सुगन्ध से मन भर जाता है और प्राणेन्द्रिय चाहती है कि मौलसिरी का पुष्प मिले। संगीत की भी यही परिस्थिति है। हरिदास स्वामी और वैजू वावरा ने संगीत द्वारा परमतत्व को पाने के लिए संगीत के माधुर्य को उच्चतम कोटि पर पहुँचाया था, यह बात मीरां जानती थी। परन्तु उनका भी संगीत सनातन न हुआ। न रहे हरिदास स्वामी और न रहा बैजू बावरा !....उनके संगीत भी उठ गये ...लोगों में नये-नये संगीत की तृष्णा जागी। मीरां ने अपने संगीत का विचार किया...अभी तक वह

भी कृष्णदर्शन कराने में कहाँ सफल हुआ था ? मृदुतम स्पर्श कमल-पत्र का ! परन्तु अतिस्पर्श से वह भी कुम्हला जाता है...और कुम्हलाए हुए पत्र में स्पर्श-सुख कहां ? रूप-दर्शन की शीतलता चन्द्र से बढ़कर और किसमें मिलती है ?...परन्तु चन्द्र भी बढ़ता-घटता है एक-सा रहता नहीं !... मीरां ने अपने मुख का विचार किया....कृष्ण-समर्पित देह का वह सर्वोत्तम भाग !...परन्तु यह क्या ? केशकलाप में ये दो शुभ्र केश कैसे ? उसके मुख में भी संपूर्ण-सनातन सौन्दर्य न था । उसे विश्वास हो गया कि इन्द्रियों के मर्यादित सुख को प्रभु का साक्षात्कार नहीं कहा जा सकता ।

और राजपाट के सुख ? विजय-पराक्रम की कीर्ति ? विद्वत्ता का सम्मान ? गुरुपद के चरणस्पर्श ? मन्वन्तर और कल्प बीत गये कौन अमर रहा ? किसकी कीर्ति रही ? सच्चे प्रभुसान्निध्य पाने वाले भक्त भी कहाँ रहे ? कोई शाश्वत नहीं, सनातन नहीं, ऐसा अनुभव करने वाली मीरां को मेवाड़ का मोह कैसे हो ? उसकी दृष्टि में तो मेवाड़, दिल्ली और व्रज समान थे । उसने उदय को समझाया । युद्ध में मरने से स्वर्ग मिलता है । जौहर करने से विष्णुलोक प्राप्त ोता है । प्रभु के प्रति सर्वार्पण करने में पलक मारने से अधिक समय नहीं लगता । परन्तु यह सब सुख मृत्यु के बाद का ! मीरां ऐसा सुख, मृत्यु के बाद का सुख, चाहती न थी । उसे तो मीरां बनी रहकर मीरां के ही नेत्रों से कृष्णदर्शन करना था, मीरां के ही हाथ से कृष्ण का स्पर्श करना था, और मीरां की ही देह से कृष्ण का आलिंगन करके कृष्ण-मय बन जाना था...और इस आकांक्षा को पूरी करने के लिए वह नित्य दुःख सहती थी, दाह सहती थी, आत्मसमर्पण करती थी ।

'उदय ! जिस कार्यसिद्धि के लिए तुम्हारे भाई भोज ने मुझे भक्ति करने की स्वतन्त्रता दी, वैसी ही स्वतन्त्रता तुम भी मुझे दो । चित्तौड़, मेवाड़ या अन्य किसी के साथ मेरा बन्धन न रखो ।' मेवाड़ लौटा ले जाने के लिए हठ लेकर बैठे हुए राणा को मीरां ने समझाया ।

'अच्छा, मीरां देवी ! एक शर्त पर मैं अपना आग्रह वापस ले सकता हूँ ।' उदयसिंह ने कहा ।

'वह कौन-सी शर्त है, राणाजी ?'

'शर्त यही कि जिस क्षण आपको लगे कि आपकी साधना सिद्ध हुई—आपको प्रभु का साक्षात्कार हुआ—उसी क्षण आप चित्तौड़ के लिए चल पड़ें और वहीं आकर आवास करें !'

'मुझे स्वीकार है, राणाजी ! प्रभुस्पर्श के बाद यदि मीरां जीवित रही, तो वह प्रभुमय बनकर चित्तौड़ अवश्य आयेगी और वहीं रहेगी।...बस ?'

उदय तो अपने साथ ही मीरां को चित्तौड़ लौटा ले जाने के उद्देश्य से आया था; परन्तु मीरां के तर्क ने उसे बेबस बना दिया। जिसे प्रतिक्षण प्रभु-मिलन की तीव्रता सता रही थी, उसे चित्तौड़ चलने का अधिक आग्रह करना राणा को उचित न लगा...यद्यपि मीरां-विहीन चित्तौड़ स्मशान-सा बन गया था ! उदय अकेला ही चित्तौड़ लौट गया। उसके जाने के बाद मीरां पुनः कृष्ण-शोध के कार्य में लग गयी।

मीरां और राणा उदयसिंह के बीच होनेवाले वार्तालाप को सारे व्रज-मण्डल ने सुना, और उसका परिणाम यह निकला कि मीरां को अपनी शिष्या बनाने की महत्वाकांक्षा रखनेवाले भिन्न-भिन्न संप्रदायों के आचार्यों ने उस दिशा में प्रयत्न करना बन्द कर दिया। मीरां का किसी संप्रदाय विशेष से विरोध हो, ऐसा उन्हें लगा नहीं। मीरां को स्वयं भी किसी गुरु की आवश्यकता न थी। बचपन में रैदास को उसने अपने गुरु-स्थान पर बैठाया था; वही उसके लिए पर्याप्त था। कृष्णदर्शन की कामना में वह व्रजमण्डल के कोने-कोने में भटकी। उसकी आवाज़ सुनकर कृष्ण प्रकट भी हो जाते थे; परन्तु अभी तक कृष्ण ने उसे अपने भुजपाश में लेकर कृष्णमय नहीं बनाया, यही मीरां का असंतोष था !

बुद्धिवाले, ज्ञानवाले लोगों को मीरां का यह पागलपन समझ में न आया, यह प्राकृतिक था। मीरां जिस कृष्ण के दर्शन करती, उसको लोगों की बुद्धि देख न सकती; मीरां जिस रास-लीला में तल्लीन बन जाती, वह बुद्धि को भ्रमात्मक लगती। जिसे मीरां बंसी का मधुर-नाद कहती, उसे लोगों की बुद्धि कोकिला अथवा बुलबुल का संगीत बताती। परन्तु मीरां को लोगों के अभिप्राय की परवाह कहाँ ? उसे बुद्धिमानों की सभा में जाना

न था; घटाकाश अथवा पटाकाश की चर्चा में पड़कर विजय प्राप्त करनी न थी। उसकी विजय थी केवल कृष्णदर्शन में! उसे अपनी सत्यता के साक्षी की आवश्यकता न थी—चाहे वह साक्षी सूर्य या चन्द्र जैसा देवांशी हो, अथवा पृथ्वी पर रहनेवाला मानव! रात्रि के घोर अन्धकार में भी वह कृष्ण की खोज में निकल पड़ती और जहाँ मन होता वहाँ घूमती। ऐसी ही एक रात्रि में उसे आभास हुआ कि दूर-सुदूर खड़ा हुआ कृष्ण बंसी बजाकर उसे बुला रहा है।

सब लोग सोये हुए थे। मीरां सब को सोते हुए छोड़ कर मन्दिर के बाहर निकली, और बंसीनाद की दिशा में आगे बढ़ी। गलियों को पार किया, कुंजों को पार किया; यमुना तट को भी पीछे छोड़ा; बंसी बजती ही जाती थी। वह कहाँ बजती थी, किस दिशा में बजती थी, आकाश में या पाताल में, मीरां को किसी बात का भान न रहा। अन्त में यकायक बंसी-वादन बन्द हो गया, और मीरां थककर एक चट्टान पर बैठ गयी।

सहसा उसने अट्टहास किया। कन्हैया की यह शरारत कैसी? काली रात्रि का रूप धारण करके खड़ा हो गया? सारी सृष्टि पर कृष्ण की श्यामता फैल रही थी, और पागल बनी हुई मीरां उस श्यामता में कृष्ण को खोज रही थी! उस श्यामता ने मीरां को भी काली बना दिया। मीरां को सब लोग गौर वर्ण की कहते थे...कृष्ण के स्पर्श ने उसे काली बना दिया! ...कालिन्दी का नीर तो काला था ही! वृक्ष, उपवन, पृथ्वी की दिशायें सब काली बन गयी थीं। अन्धकार में मीरां ने हाथ फैलाया। एक वृक्ष का पुष्प उसके हाथ में आया! सफेद रंग का यह पुष्प काला लग रहा था! ...उसने आकाश की ओर देखा। तारे चमक रहे थे....परन्तु उनकी चमक में भी श्यामता दीख पड़ती थी! जहाँ वह नजर डालती, वहीं उसे कृष्ण का दर्शन होता, श्रवण होना, अथवा स्पर्श होता। यह परिस्थिति उसके हृदय को—सर्वांग को आनन्द से पुलकित कर देती थी। दिन-प्रतिदिन उसे कृष्ण का स्पर्श चिरस्थायी, गहरा और आल्हादक लगने लगा था। इस समय उसे ऐसा लग रहा था कि मानो कृष्ण की श्यामता उसे सर्वांगी

आलिंगन दे रही हो, कृष्ण के अंग से उसके अंग मिल रहे हों ! इस दिव्य सुख ने उसके कण्ठ में गीत प्रकटाया :

तुज अंग शुं अंग भळयूँ हो कन्हाई !
गोरी हूं बनी काळी ।
तुज मन काळूं, वळी तन काळूं,
तुज कुटिल नजर पण काळी !
श्यामल नयने नयन मिलावी बन गई हूं मतवाली ;
गोरी हूं बनी काळी !

काले कृष्ण के अनन्त आलिंगन का सुख लेती हुई मीरां का गीत आगे बढ़ा । उसने कृष्ण को उपालंभ देते हुए कहा कि जिस प्रकार तुम निराले हो, उसी प्रकार तुम्हारी प्रीति भी निराली है—यह प्रेम की फांसी एक बार लगी तो फिर कभी छूटती नहीं !

आलिंगन और गाढ़ बना । साथ-साथ श्यामता भी बढ़ी । वृक्ष, शाखाएँ और पुष्प सब काले हो गये !

मीरां के नेत्र कृष्ण के नेत्रों से मिले । दोनों की श्यामता मिल गयी । मीरां मतवाली बन गयी । गोरी से काली बन गयी ।

उसके कण्ठ से इस अलौकिक ऐक्य के वर्णन की रसधार बहती गयी । गीत का अन्तिम पद आया । उसके गौरत्व का भान पूर्णरूप से गया :

गौर गुमान तज्यूं मुझ अंगे,
कृष्ण कृष्ण बनी चाली !
सान भान पण कृष्णमय,
देख हसे सहुआली । गोरी हूँ बनी काळी !

गीत पूर्ण होते ही मीरां को ऐसा आभास हुआ मानों उसके अंगप्रत्यंग में कृष्ण का आवास हो । ऐसा अनुभव उसको आजतक कभी न हुआ था । कृष्णमयता इससे भी अधिक तीव्र हो सकती है ? मीरां ने विचार किया । इतने ही में अपने सामने उसने एक अनुपम सौन्दर्यमयी युवती को देखा !

उसके सौन्दर्य में भी श्यामता थी—मानो कृष्ण स्त्रीरूप धारण करके आ गये हों !

'सुन्दरी ! इस मध्य-काली रात्रि के समय यहाँ आने वाली तुम कौन हो ?' मीरां ने पूछा ।

'तुम्हारे जैसी ही एक पागल स्त्री !' सुन्दरी ने उत्तर दिया ।

'ठीक कहा, मैं पागल हूँ । किन्तु आपको मैं पागल नहीं कह सकती ...आप मुझे पहचानती हो ?'

'हाँ ! तुम्हें कौन न पहिचानेगा ? ब्रज की रज-रज में से कृष्ण को ढूँढ़नेवाली मीरां को ?'

'मैं....पहिले कभी आपसे मिली नहीं हूँ ।

'मेरा नाम सुनोगी, तो कदाचित् पहिचान जाओगी ।'

'आपका शुभ नाम ?'

'मेरा नाम राधिका !'

'कृष्णप्रिया ? स्वामिनी ? राधिकाजी ? ...आह ! अहोभाग्य मेरे ! ....मैं प्रणाम करती हूँ....आप अभी तक ब्रज में वास कर रही हैं, यह मैं कैसे भूलूँ ?'

'जहाँ जहाँ कृष्ण, वहाँ वहाँ मेरा वास ! उस दिन कैसा सुन्दर गीत तुमने गाया था ? वाह !'

'कौन सा गीत ?'

'माई मैंने गोविन्द लीन्हों मोल ! उस गीत में जब राधा के संग किलोल करने का प्रसंग आया, उस समय मैं तुम्हारे सामने प्रकट होते-होते रह गयी । जहाँ जहाँ कृष्ण नाम का सच्चा उच्चारण होता है, वहाँ वहाँ मैं अवश्य उपस्थित रहती हूँ । मैं तो कृष्णमयी बन चुकी हूँ....तो भी...कृष्ण नाम का उच्चार मुझे इतना प्रिय लगता है कि उसे सुनने के लिए मैं तो कुछ क्षणों के वास्ते कृष्ण से पृथक् हो जाती हूँ—इतना द्वैत भाव कभी कभी आल्हाद-प्रेरक होता है ।'

'राधिकाजी ! ....अरे, मुझे क्षमा करना । क्या सचमुच आप राधिकाजी हैं ?' राधा की ओर ध्यान से देखकर मीरां ने पूछा ।

'मीरां ! तुमको शंका हुई ?....अब...'

'राधिकाजी तो....अत्यन्त गौरवर्ण की थीं...आपतो श्याम हैं !'

'मीरां ! तुम्हारे शरीर का रंग कैसा है ?'

'मुझे भी लोग गोरी कहा करते थे ।'

'और इस समय ?'

'मैं श्याम बन गयी हूँ...कृष्ण की श्यामलता में ।'

'जिस कृष्ण को मैं युग-युग से अपने हृदय में रखती आयी हूँ, उसके रंग से मैं अछूती कैसे रहूँ ?'

'स्वामिनी ! मुझे दर्शन देकर आपने कृतार्थ किया ! मेरा भाग्य खुल गया ।'

'जो गीत तुमने अभी गाया...वही गीत मैंने अपने वियोग शमन की वेला में गाया था...तुम्हारा यह संगीत सुनकर मैं पार्थिव बन गयी । मुझे अपना समय याद आया...मन हुआ कि अपने समान विरहिणी मीरां से कुछ बोल लूँ...तुमने क्या गाया ?" "गोरी मैं बनी काली !" वाह मैं वही हूँ ।'

'साथ में प्रभु को लायी हो ?'

'प्रभु ? कौन प्रभु ?'

'ऐसा क्यों पूछती हो ?...वही कृष्ण ? मेरा नटवर नागर !... गिरिराजधरण....'

'हाँ...यह नाम फिर से कहो । प्रभु से भी अधिक मधुर यह प्रभु का नाम !....वह तो मेरे साथ ही रहता है...उसके बिना राधा जी नहीं सकती ।'

'तब...ओ कृष्ण की अर्धांगिनी ! मुझे कृष्ण के दर्शन कराओ ।'

'तुमको तो कृष्ण के दर्शन मिल चुके....मीरां ! मैं कृष्ण की अर्धांगिनी नहीं...अब कृष्ण की सर्वांगिनी हूँ ।'

'मुझे तो दर्शन हुए...होते रहते हैं...परन्तु मुझे तो आपकी भाँति कृष्ण का सर्वांगी ऐक्य चाहिये । मेरे ऊपर कृपा हो तो...'

'तुम्हारे ऊपर कृपा न होगी, तो किस पर होगी ?'

'तो जिस कृष्ण को हृदय में रख छोड़ा है, उसे बाहर निकाल कर मुझे दर्शन कराओ।'

राधा खिलखिलाकर हँस पड़ीं। वे जल्दी हँसती न थीं। हँसते-हँसते उन्होंने कहा :

'देखो, मीरां! यहाँ तो गोपियों ने कृष्ण को अपने हृदय में ऐसा जकड़ रखा है कि वे बाहर निकल ही नहीं सकते।'

'मैं तो ब्रज में आकर उन्हीं को खोज रही हूँ। वे मुझे न मिलेंगे ?'

'नहीं। ब्रज में कृष्ण गोपियों के ही हैं!'

'मैं भी तो गोपी ही हूँ। मेरे हृदय में गोपीभाव भरा हुआ है। राधिका जी! आप तो गोपीजीवन की साररूप हैं....मुझे अपने वृन्द में क्यों नहीं ले लेतीं ?'

'मीरां! ब्रज के कृष्ण को तो तुमने परख लिया है न? गोपियों को विलाप करते हुए छोड़कर गये हुए कृष्ण ब्रज में विरहदशा में ही प्रकट होते हैं।'

''हे कृष्ण! हे यशोदानन्दन! हे प्रियतम! इन्हीं उद्गारों में वे जीवित रहते हैं। ऐसे विरहरूप कृष्ण के दर्शन तो तुमको होते ही हैं....परन्तु ...यदि तुम्हें प्रत्यक्षरूप से उनका अंगस्पर्श चाहिये, तो तुम द्वारिका जाओ ...ब्रज के कृष्ण को तो गोपियों का समूह घोल कर पी गया! द्वारिका-वासी गोविन्द अभी स्वतंत्र हैं। कोई नयी गोपी वहाँ पहुँचकर उन्हें अपना बना ले, इसके पहिले ही तुम वहाँ जाकर कृष्णमयी बन जाओ। कृष्णचन्द्र वहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

'मेरी प्रतीक्षा ? कृष्णचन्द्र कर रहे हैं ? मैं यह क्या सुन रही हूँ ?'

'यदि तुम समझती हो कि कृष्ण के हृदय को मैं जानती हूँ तो...'

'इसमें मुझे शंका हो नहीं सकती....मैं आज ही इसी क्षण द्वारिका जाती हूँ...प्रभु को मेरी राह देखना न पड़े।...मुझे आशीर्वाद दो।' कह कर मीरां ने राधाजी के पाँव पर अपना मस्तक रख दिया और हँसकर उन्होंने वरदमुद्रा से मीरां को आशीर्वाद दिया।

पाँच-छः क्षणों तक मीरां का मस्तक राधा के चरणों पर रहा। कृष्ण-प्राप्ति की दृढ़ता में उसे अपूर्व आनन्द मिल रहा था।

तभी कृष्णचरण की आवाज़ मीरां ने सुनी।

'मीरां बाई !...यह क्या कर रही हो ?'

'राधाजी को नमन कर रही हूँ।'

'राधाजी कहाँ हैं, बाई ?'

'यह रहीं ! जिनको मैं नमस्कार कर रही हूँ !...देखो !...तुम्हारी आँखें शीघ्रता से कुछ देख ही नहीं सकतीं !'

'यहाँ तो, बाई, तुम्हारी छाया ही दीख पड़ती है...राधाजी नहीं।' कृष्णचरण ने कहा।

मीरां की आँखें स्थिर हुईं। उसने चारों और देखा—मानों निद्रा में से अभी ही जाग्रत हुई हो ! आकाश में चन्द्र का उदय हो चुका था। रात्रि का अन्धकार कब का चला गया था। मीरां ने देखा कि वास्तव में वह अपनी ही छाया को नमन कर रही थी।

इस समय जो कुछ भी देख पड़ता हो, परन्तु यह सत्य था कि मीरां को राधाजी के दर्शन हुए, राधाजी से उसने बातचीत की, और राधाजी की सूचना तथा आज्ञा को उसने माथे चढ़ाया !...सत्य यही था...भले ही इस समय उसे अपनी छाया दीख पड़ती हो। मीरां के कान में राधाजी के शब्द गूँज रहे थे। उसकी आँखों के सामने राधाजी की कमनीय मूर्ति नाच रही थी...मानो कृष्ण स्त्रीरूप धारण करके खड़े हों ! राधाजी के दर्शन हुए, यह सत्य ! प्रतिच्छाया अयथार्थ !

'जो भी हो !...परन्तु कृष्णचरण ! मुझे द्वारिका जाना पड़ेगा। ब्रजभूमि की तपस्या पूरी हुई। अब हम लोग सागर तट चलें।' मीरां ने कहा।

'क्यों ?'

'द्वारिका तो प्रभु का द्वार है...उस द्वार को खोलकर प्रभु बैठे मेरी बाट देख रहे हैं। उन्हीं की इच्छा है कि मैं द्वारिका आऊँ।'

'जैसी तुम्हारी इच्छा ! शुभ दिन देखकर हम यहाँ से चलेंगे।'

'शुभ दिन ? इस क्षण से अधिक शुभ मुहूर्त और कब आएगा ?...अभी तो राधाजी का हास्य मेरे कान में गूँज रहा है !' मीरां ने कहा ।

और प्रभात होने के पहिले ही मीरां का भक्तमण्डल द्वारिका की यात्रा पर चल पड़ा। सन्तों की टोली घूमती ही रहती है। मीरां की टोली को रास्ते में व्यापारियों की टोलियाँ मिलती रहीं—क्रीत सेवकों के संरक्षण में चलनेवाली ! दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण ! मार्ग में सैनिकों के वृन्द भी मिलते रहे—पूर्व से पश्चिम, और पश्चिम से पूर्व जाने वाले ! एक का ध्येय धन उपार्जन करना था, दूसरे का विजय प्राप्त करना; परन्तु मीरां की सन्त टोली का ध्येय इन दोनों से पृथक् था। उसे न तो धन की आकांक्षा थी, न भूमि-विजय की ! न कोई भौतिक स्पृहा थी। राधेकृष्ण के उच्चार के साथ यह टोली ब्रजभूमि से निकल कर गुजरात के पश्चिम किनारे की ओर जा रही थी। उसके सामूहिक उच्चार किसी को भयप्रद न लगते। शस्त्रास्त्रों के स्थान पर भक्तों के हाथ में करताल, झाँझ, तंबूरे और पखावज थे ! शरीर की रक्षा के लिए प्रत्येक के पास दो-तीन वस्त्रों के अतिरिक्त और कोई आवरण न थे और थैली में रखे हुए थे गोपीचन्दन तुलसी की माला, भजनों के संग्रह, गीता और गिरिधारीलाल की मूर्ति।

विजय दुँदुभि बजाए बिना ही मीरां की सन्त टोली विजय यात्रा कर रही थी। डोंडी बिना बजाये ही मीरां की आज्ञा उसके प्रेम-साम्राज्य में सर्वत्र पहुँच जाती थी। गाँव-गाँव में, नगर-नगर में, मीरां का भक्तिस्रोत प्रवाहित होता चला। अपढ़ ग्रामीण स्त्रियाँ या नगर की छैल-छबीली ललनाएँ, सब मीरां के भजनों के पीछे पागल बनने लगीं। मीरां नाम का जादू फैल गया। स्त्रियाँ उस नाम को धारण करने में गौरव मानने लगीं। मीरां की सादी वेश-भूषा का सर्वत्र अनुकरण होने लगा। नाचने-गाने पर लगा हुआ प्रतिबन्ध ढीला होने लगा। उच्च और नीच का वर्ण-भेद, तथा हिन्दू-मुसलमान का धर्म-भेद कम होने लगा। मीरां की यह धर्म-विजय राजाओं की युद्ध-विजय से कहीं अधिक उज्ज्वल और कीर्तिमन्त थी। शास्त्रार्थ अथवा शास्त्रों की उलझनों को सुलझाने के लिए कृष्णचरण सर्वदा प्रस्तुत ही रहता था—मीरां को तो ऐसी चर्चाओं के लिए समय ही न था !

कभी कभी मीरां की सन्तमण्डली में भी भक्तिचर्चा हुआ करती थी। एकाध प्रसंग पर भक्ति के व्यतिरेक का विरोध करनेवाले एक विद्वान सन्यासी ने अपनी शंका उपस्थित की।

'मीरां देवी ! क्षमा करना...मुझे जानने की इच्छा हो रही है कि आपकी भक्ति में—अर्थात् वैष्णवी भक्ति में काम भावना का समावेश कितना है ?'

'काम भावना का समावेश ? पूरा पूरा ! काम और कामी दोनों ने कभी भी अनुभव न किया हो, इतनी तीव्र काम भावना ! एक ही अंग नहीं, शरीर का अणु-अणु काम भावना से प्रज्ज्वलित हो जाय !' मीरां ने स्पष्टता से उत्तर दिया।

'तब सामान्य कामी और भक्त कामी में भेद ही क्या ?...भले ही भक्त की काम भावना अधिक तीव्र हो !'

'एक भेद बताऊँ। कामी को इंद्रिय-सुख चाहिये। भक्त कामी तो इंद्रियों को उपवासी ही रखता है,...और अपने अणु-अणु को ब्रह्माण्डव्यापी पुरुष के अणु-अणु से मिला देता है। दूसरा भेद कहूँ ? इन्द्रिय-सुख को पाकर कामी तृप्ति का अनुभव करता है, और तृप्त होकर उसकी आत्मा और काया 'बस' 'बस' कह उठती है, परन्तु भक्त की वासना कभी तृप्त नहीं होती; वह कभी 'बस' 'बस' कहती नहीं; उसके आनन्द का अंत ही नहीं होता।'

'कृष्ण का आलिंगन कर के कैसा आनन्द मिलता है ?'

'आप तो वेदान्ती हैं, न ? शंकराचार्य के सिद्धांत को पूरा हृदय में उतारा है न ?'

'हाँ।'

'तो शंकर के पद को याद करो—

चिदानन्दरूपः शिवोहम् शिवोहम्।

यह चिदानन्द का आनन्द ही कृष्ण-स्पर्श का आनन्द ! काम के संपूर्ण शुद्धीकरण का नाम ही भक्ति ! भक्ति अर्थात् काम की उच्चतम पूर्णता !'

इस प्रकार भजन-कीर्तन से, व्रत-उपवास एवं आचार से, और आवश्यकता पड़ने पर अपनी विद्वत्ता से अपने मार्ग को प्रकाशित करती हुई सरस्वती अथवा राधिका के अवतार-सी मीरां द्वारिका नगरी में जा पहुँची। रास्ते में जहाँ-जहाँ उसकी भक्त-मंडली गयी, वहाँ-वहाँ इस बालाजोगन ने नगरनिवासी और ग्रामवासियों के जीवन को उन्नत बनाया, और उनके हृदय में भक्तिरस का अभिसिंचन किया।

पुरी में प्रवेश करते ही उसे समाचार मिले कि बादशाह अकबर ने चित्तौड़ का ध्वंस किया, चित्तौड़ की क्षत्राणियों ने पुनः एक बार जौहर कर के अपने सम्मान की रक्षा की, और क्षत्रिय वीरत्व का महाबोध कराता हुआ मीरां का भाई जयमल अकबरशाह को राठोड़ी शक्ति का अनुभव करा कर वीरगति को प्राप्त हुआ।

यही भाई मीरां से अनेक बार कहा करता था—

'बहिन ! मुझे तो युद्ध हो, तभी लड़ना पड़ता है। तुम्हें तो प्रतिक्षण शस्त्रसज्ज बन कर सतत लड़ना पड़ता है।'

वह भाई गया—बालपन का साथी और सहभक्त ! घड़ी दो घड़ी के लिए मीरां का हृदय रो उठा। अपने पति भोज की मृत्यु के समय जैसी व्यथा का अनुभव मीरां ने किया था, वैसी ही व्यथा उसे अपने भाई और बालमित्र जयमल के मरने का समाचार सुनकर हुई।

द्वारिका में प्रवेश करते ही मीरां का हृदय पुकार उठा।

'जयमल के साथ मेरे हृदय को जोड़नेवाला यह अन्तिम पार्थिव तन्तु टूट गया, नाथ ! अब सर्वांगी मिलन का सुख कब प्रदान करोगे ?'

प्रभु-मिलन बिना देहान्त का अर्थ मृत्यु ! प्रभु के सर्वांगीण मिलन में होनेवाले देहान्त का नाम मोक्ष !

मीरां का द्वारिका-प्रवेश नगरवासियों के लिए महोत्सव बन गया। द्वारिका में रहकर उसने गुजरात के हृदय को भक्तिरस से भर दिया। भक्त नरसी की भूमि पर जो भक्ति-स्रोत बह रहा था, उसमें मीरां की भक्ति-वर्षा ने बाढ़-सी ला दी। गोमती-स्नान और द्वारिकाधीश का दर्शन, ये मीरां के दैनिक नित्यकर्म बन गये।

कभी-कभी वह बेट-द्वारिका में भी जाती, और कृष्ण की पटरानियों के दर्शन करती।

न जाने क्यों द्वारिकाधीश की मूर्ति मीरां को सदा हँसती हुई मालूम होती थी—मानो उसका स्वागत करती हो! एक मास, दो मास, छः मास, एक वर्ष बीत गया, मीरां को इस स्मितभरी स्वागतमुद्रा को देखते हुए! उसकी आत्मा को संतोष न हुआ। वह तो प्रभु का स्पर्श खोजती थी! उसके यौवनकाल में जो विरह-वेदना थी, वह इस समय भी विद्यमान थी। समय के साथ-साथ उसका वय भी बढ़ रहा था; परन्तु उसके गीत, नृत्य और पूजन कार्यों में कोई न्यूनता आयी नहीं। एक दिन कृष्णचरण ने मीरां से पूछा :

'माई! तुम्हारा शरीर क्यों सूख रहा है?'

'उम्र बढ़ रही है न, साधो!'

'उम्र नहीं, तपन बढ़ रही है, मीरां!'

'ऐसी बात? कदाचित् कृष्ण को मेरा शरीर कृश बनाना हो!.... आज मेरा अन्तिम नृत्य-गीत होगा।'

'अन्तिम क्यों?'

'बस, आज के बाद मेरा गीत-नृत्य बन्द!' मीरां ने कहा। कृष्णचरण चौंक पड़ा।

उस दिन प्रभात में मीरां ने प्रभु के सामने जी खोलकर गाया, नृत्य किया और सारे मन्दिर के वातावरण को कृष्णमय बना दिया। सहसा उसका गीत-नृत्य बन्द हो गया, आँखें भगवान की मूर्ति पर स्थिर हो गयीं और कण्ठ में से शब्द निकले:

'प्रभो! मेरे कृष्ण! गिरिधरलाल! अब कब तक मीरां को दूर रखना है? एक-एक क्षण असह्य हो रहा है।'

'मीरां! मैंने तुम्हें कभी दूर रखा ही नहीं...आओ, चली आओ! तुम और हम एक ही हैं। गोपियों-के-से विरह-आनन्द का तुमको अनुभव हो चुका। अब चली आओ मेरे पास!' मीरां को ऐसा आभास होने लगा

कि मानो मूर्ति सजीव बनकर मीरां को अपने भुजपाश में लेने के लिए हाथ बढ़ा रही है।

'आयी, नाथ ! आखिर तुमने मुझे अपने स्वरूप में मिला ही लिया !' कहती हुई मीरां दौड़ी और मूर्ति से लिपट गयी।

मन्दिर में एक अद्‌भुत प्रकाश हुआ।

मीरां अदृश्य हो गयी ! ज्योति में ज्योति मिल गयी !

सब लोगों ने इस चमत्कार को देखा। कैसा अद्‌भुत प्रकाश हुआ ? प्रभु-मूर्ति के मुख पर भी एक विचित्र प्रकार का संतोष व्यक्त करनेवाला स्मित दीख पड़ा। मीरां प्रभु में समाविष्ट हो गयी।

परन्तु यह क्या ?.......मीरां की ओढ़ी हुई साड़ी का एक भाग द्वारिकाधीश की मूर्ति का एक भाग सरीखा लटकता हुआ दीख पड़ता था। अथवा मीरां की आत्माविहीन देह मूर्ति से लिपटी हुई पड़ी थी ? देह भी आत्मा का वस्त्र ही है न ?...आत्मा पर टंगा हुआ–आत्मा से लिपटा हुआ परिधान !

स्वर्गीय पुष्प-परिमल मन्दिर में ही नहीं सारी द्वारिका नगरी में फैल गया।

इस समय आँसू बह रहे थे वृद्ध तेजल और विजल की आँखों से ! जिसकी रक्षा करने का भार दूदाजी ने इन वीरों के हाथ में सौंपा था, उसकी दूदाजी की लाड़ली मीरां की—वे रक्षा न कर सके। प्रभु ने मीरां को उठा लिया—अपने हाथ से ! यम भी नहीं...पार्षद भी नहीं !

स्तब्ध बने हुए कृष्णचरण ने जाग्रत होकर तंबूरा उठाया और मीरां रचित अन्तिम गीत गाना शुरू किया :

म्हारो हंसल म्हानों ने देवळ जूनुं रे थयूं !
जूनुं रे थयूं ने देवळ पड़ी तो गयूँ !...म्हारो.
तारे ने म्हारे हँसा, प्रीत बंधाणी रे.
उड़ी गयो हंस, पिंजर पड़ी तो रह्यूं...म्हारो

क्या मीरां की देह अदृश्य हो गयी ? क्या मीरां की आत्मा प्रभु में मिल गयी ? तब मीरां का कण्ठ और मीरां का हृदय भारत को मिला कैसे ? यह मीरां की, संत शिरोमणी मीरां की भेट थी ! सन्तों की जीवन्त भेट बिना प्रजा का और जीवन-आधार क्या ?

बालाजोगन अन्त में प्रभुमय बन गयी। जिस सौन्दर्य-तत्व को वह खोजती थी, वह उसे मिल गया। परन्तु आज भी घर-घर में उसका प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, उसके कण्ठ की प्रतिध्वनि सुनायी देती है और नृत्य की झंकार कानों में गूंजती है।

यद्यपि मीरां सदेह दीख नहीं पड़ती...तथापि गुजरात के हृदय में वह आज भी घर किये बैठी है। गुजरात के संगीत में वह जीवित है। कवियों की कल्पना में, चित्रकारों की रंगरेखा में, संगीतकारों के संगीत में मीरां अभी जीवन्त है !

गुजरात ने कृष्ण-मीराँ के ऐक्य को स्थापित करके अपने को तीर्थधाम बना दिया !

मीरां का भक्तमण्डल हाथ में एकतारा, करताल और मंजीरा लेकर सारे भारत में फैल गया।

परन्तु कृष्णचरण के कण्ठ में तो एक ही गीत बसा हुआ था—

म्हारो हंसल म्हानों ने देवळ जूनुं रे थयूं !

और भक्त ऊदाबाई ? वह तो मीरां के वियोग में महीनों तक गाती रही—

दव तो लाग्यो डुंगर में
हवे क्यां जई बसिये ?

* समाप्त *